कला और संस्कृति

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

साहित्य भवन लिमिटेड
इलाहाबाद

प्रकाशक :—
साहित्य भवन लिमिटेड,
इलाहाबाद

साढ़े चार रुपया

मुद्रक :—
रामआसरे कक्कड़
हिन्दी साहित्य प्रेस,
इलाहाबाद

भूमिका

'कला और संस्कृति' समय-समय पर लिखे हुए मेरे कुछ निबन्धों का संग्रह है। 'संस्कृति क्या है' और 'कला क्या है' इन दो प्रश्नों के उत्तर अनेक हो सकते हैं। संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्त्तमान और भावी जीवन का सर्वांगीण प्रकार है। विचार और कर्म के क्षेत्रों में राष्ट्र का जो सृजन है वही उसकी संस्कृति है। संस्कृति मानवीय जीवन की प्रेरक शक्ति है। वह जीवन की प्राणवायु है जो उसके चैतन्य भाव की साक्षी देती है। संस्कृति विश्व के प्रति अनन्त मैत्री की भावना है। संस्कृति के द्वारा हम दूसरों के साथ संतुलित स्थिति प्राप्त करते हैं। विश्वात्मा के साथ अद्रोह की स्थिति और संप्रीति का भाव उच्च संस्कृति का सर्वोत्तम लक्षण है। संस्कृति के द्वारा हम स्थूल भेदों के भीतर व्याप्त एकत्त्व के अन्तर्यामी सूत्र तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं और उसे पहचानकर उसके प्रति अपने मन को विकसित करते हैं। प्रत्येक राष्ट्र की दीर्घकालीन ऐतिहासिक हलचल का लोकहितकारी तत्त्व उसकी संस्कृति है। संस्कृति राष्ट्रीय जीवन की आवश्यकता है। वह मानवी जीवन को अध्यात्म प्रेरणा प्रदान करती है। उसे बुद्धि का कुतूहल मात्र नहीं कहा जा सकता। जिन मनुष्यों के सामने संस्कृति का आदर्श ओझल हो जाता है उनकी प्रेरणा के स्रोत भी मन्द पड़ जाते हैं। किन्तु सच्ची संस्कृति वह है जो सूक्ष्म और स्थूल, मन और कर्म, अध्यात्म जीवन और प्रत्यक्ष जीवन इन दोनों का कल्याण करती है। संस्कृति के विषय में भारतीय दृष्टिकोण की इस विशेषता को प्रस्तुत लेखों में विशद किया गया है। वेद व्यास का कथन है कि लोकजीवन का प्रत्यक्ष ज्ञान उसके सम्पूर्ण ज्ञान के लिये अत्यन्त आवश्यक है—

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः।

लोक का जो प्रत्यक्ष जीवन है उसको जाने बिना हम मानव-जीवन को पूरी तरह नहीं समझ सकते। जो इस जीवन का निराकरण करते हैं और केवल परलोक

की ही कामना करते हैं उनका सांस्कृतिक दृष्टिकोण अधूरा है। वस्तुतः तो इसी लोक में और प्रत्यक्ष जीवन में ही मिलने वाली जो सिद्धि है वही परम कल्याण है—

मनुष्यलोके यच्छ्रेयः परं मन्ये युधिष्ठिर।

'हे युधिष्ठिर, मनुष्यलोक में या मानवी जीवन में जो श्रेय सिद्ध होता है उसी को मैं महत्त्व देता हूँ।' निस्संदेह भारतीय संस्कृति में सब भूतों में व्याप्त एक अन्तर्य्यामी अध्यात्म तत्त्व को जानने पर अधिक बल दिया गया है। किन्तु यह समझना भारतीय संस्कृति के साथ अन्याय है कि उसमें इस लोक के मानवी जीवन को सुन्दर, सुशान्त, समृद्ध और सन्तुलित बनाने पर ध्यान नहीं दिया गया। दर्शन, तत्त्वज्ञान, साहित्य, कला, धर्म, राजनीति, अर्थशास्त्र, विज्ञान इत्यादि अनेक क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति ने अपना विकास किया था। पार्थिव जीवन को जानने, समझने और उसमें रस लेने का भरपूर प्रयत्न भारतीय संस्कृति में देखा जाता है। भारतीय संस्कृति उन समस्त रूपों का समुदाय है जिनकी सृष्टि मानवीय प्रयत्नों से यहाँ की गई। उनमें से अनेक रूप हमें उत्तराधिकार में प्राप्त हुए हैं। वे हमारे जीवन में पिरोए हुए हैं। उनकी उदात्त प्रेरणाओं को लेकर हमें आगे बढ़ना होगा। इसके साथ ही जो रूप काल-कवलित हो चुके हैं उन्हें छोड़ना होगा और अनेक नये रूपों का स्वागत करना होगा। सच्ची संस्कृति आत्म-विश्वास से प्रेरित होती है। उसे नवीन या नूतन से भय नहीं लगता। आधुनिक भारतीय संस्कृति को भी पूर्व और नूतन के समन्वय की साधना के मार्ग पर आगे बढ़ना है।

स्थूल जीवन में संस्कृति की अभिव्यक्ति कला को जन्म देती है। कला का सम्बन्ध जीवन के मूर्त रूप से है। संस्कृति को मन और प्राण कहा जाय तो कला उसका शरीर है। कला मानवीय जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। संस्कृति इसलिये आवश्यक है कि भविष्य में विचारों की दासता से मानव की रक्षा हो और कला इसलिये आवश्यक है कि यंत्र की दासता से मनुष्य अपने को बचा सके। जीवन को नानाविध कुरूपता से बचाने के लिये कला की पदे-पदे आवश्यकता है। मनुष्य के मन की स्फूर्ति और तदनुसार सुन्दर रूपों की

सृजन शक्ति, कला की उपासना पर निर्भर है। कला कुछ व्यक्तियों के विलास साधन के लिये नहीं होती। साँची और भारहुत के महान स्तूपों, अजन्ता के भित्तिचित्रों और वेरूल के एकाश्मक कैलास मन्दिर की भाँति कला लोक के शिक्षण, आनन्द और अध्यात्म साधना के उद्देश्य से आगे बढ़ती है। भारतीय कला का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था। नगर और गाँवों के जीवन में प्राचीन काल से आने वाले अनेक सूत्र अब भी बिखरे हुए हैं। बंगाल की अल्पना, राजस्थान के मेँहदी माँडने, बिहार के ऐंपन, उत्तर प्रदेश के चौक, गुजरात-महाराष्ट्र की रंगोली और दक्षिण-भारत के कोलम, इनके वल्लरी प्रधान और आकृति-प्रधान अलंकरणों में कला की एक अति प्राचीन लोकव्यापी परम्परा आज भी सुरक्षित है। उसे अपनी शिक्षा और सार्वजनिक जीवन में पुनः सुप्रतिष्ठित बनाना होगा। इसी प्रकार से वस्त्र, आभूषण, बरतन, उपकरण, चित्र, शिल्प, खिलौने, जहाँ जो सौन्दर्य्य की परम्परा बची है उसे सहानुभूति के साथ समझकर पुनः विकसित करना होगा। भारतीय कला न केवल रूप विधान की दृष्टि से समृद्ध है उसकी शब्दावली भी अत्यन्त विकसित है, जैसा कि इन लेखों में निर्देश किया गया है। समय रहते कला की पारिभाषिक शब्दावली की रक्षा करना आवश्यक कर्त्तव्य है। इस प्रकार के प्रयत्न न केवल हिन्दी में बल्कि अन्य प्रादेशिक भाषाओं में उन-उन क्षेत्रों के लिये होने चाहिए। उसके फलस्वरूप हम अन्त में एक समृद्ध शब्दावली से परिचित हो सकेंगे जिसकी इस समय हमारी भाषाओं को आत्म-विकास के लिये अत्यन्त आवश्यकता है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि पूर्व मानव के जीवन में जो महत्त्व धर्म और अध्यात्म का था वही आने वाले युग में कला और संस्कृति को प्राप्त होगा।

काशी विश्वविद्यालय,
८।१०।१९५२

वासुदेवशरण

विषय-सूची

१. संस्कृति का स्वरूप ... १
२. पूर्व और नूतन ... ६
३. वाल्मीकि ... ९
४. महर्षि व्यास ... २५
५. महापुरुष श्रीकृष्ण ... ४४
६. मनु ... ५२
७. पाणिनि ... ६५
८. अशोक का लोक सुखयन धर्म ... ८०
९. परम भट्टारक महाराजाधिराज श्री स्कन्दगुप्त ... १०१
१०. भारत का चातुर्दिश दृष्टिकोण ... १०५
११. सप्तसागर महादान ... १०९
१२. कटाह द्वीप को समुद्र-यात्रा ... ११७
१३. बोधिसत्त्व ... १२७
१४. देश का नामकरण ... १३९
१५. धर्म का वास्तविक अर्थ ... १४५
१६. विवाह संस्कार ... १५१
१७. वैदिक दर्शन ... १५८
१८. कल्पवृक्ष ... १७०
१९. विचारों का मधुमय उत्स—शब्द और अर्थ ... १८९
२०. कला ... १९२
२१. भारतीय कला का अनुशीलन ... १९५
२२. भारतीय कला का सिंहावलोकन ... २१९
२३. राजघाट के खिलौनों का एक अध्ययन ... २४४
२४. मध्यकालीन शस्त्रास्त्र ... २५७
२५. भारतीय वस्त्र और उनकी सजावट ... २७३
२६. चित्राचार्य अवनीन्द्रनाथ, नंदलाल और यामिनी राय ... २८२
२७. आनन्द कुमारस्वामी ... ३००

संस्कृति

१. संस्कृति का स्वरूप

संस्कृति की प्रवृत्ति महाफल देनेवाली होती है। सांस्कृतिक कार्य के छोटे-से बीज से बहुत फल देनेवाला बड़ा वृक्ष बन जाता है। सांस्कृतिक कार्य कल्पवृक्ष की तरह फलदायी होते हैं। अपने ही जीवन की उन्नति, विकास और आनन्द के लिए हमें अपनी संस्कृति की सुध लेनी चाहिए। आर्थिक कार्यक्रम जितने आवश्यक हैं उनसे कम महत्त्व संस्कृति सम्बन्धी कार्यों का नहीं है। दोनों एक ही रथ के दो पहिए हैं, एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरे की कुशल नहीं रहती। जो उन्नत देश हैं वे दोनों कार्य एक साथ सम्हालते हैं। वस्तुतः उन्नति करने का यही एक मार्ग है। मन को भुलाकर केवल शरीर की रक्षा पर्याप्त नहीं है।

संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है। संस्कृति हवा में नहीं रहती, उसका मूर्तिमान् रूप होता है। जीवन के नानाविध रूपों का समुदाय ही संस्कृति है। जब विधाता ने सृष्टि बनाई तो पृथ्वी और आकाश के बीच विशाल अन्तराल नाना रूपों से भरने लगा। सूर्य, चन्द्र, तारे, मेघ, षड्ऋतु, उषा, संध्या आदि अनेक प्रकार के रूप हमारे आकाश में भर गए। ये देवशिल्प थे। देवशिल्पों से प्रकृति की संस्कृति भुवनों में व्याप्त हुई। इसी प्रकार मानवी जीवन के उषःकाल की हम कल्पना करें। उसका आकाश मानवीय शिल्प के रूपों से भरता गया। इस प्रयत्न में सहस्रों वर्ष लगे। यही संस्कृति का विकास और परिवर्तन है। जितना भी जीवन का ठाठ है उसकी सृष्टि मनुष्य के मन, प्राण और शरीर के दीर्घकालीन प्रयत्नों के फलस्वरूप हुई है। मनुष्य-जीवन रुकता नहीं, पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ता है। संस्कृति के रूपों का उत्तराधिकार भी हमारे साथ चलता है। धर्म, दर्शन, साहित्य, कला उसीके अंग हैं।

संसार में देशभेद से अनेक प्रकार के मनुष्य हैं। उनकी संस्कृतियाँ भी अनेक हैं। यहाँ नानात्व अनिवार्य है, वह मानवीय जीवन का झंझट नहीं, उसकी

सजावट है। किन्तु देश और काल की सीमा से बँधे हुए हमारा घनिष्ठ परिचय या सम्बन्ध किसी एक संस्कृति से ही सम्भव है। वही हमारी आत्मा और मन में रमी हुई होती है और उनका संस्कार करती है। यों तो संसार में अनेक स्त्रियाँ और पुरुष हैं पर एक जन्म में जो हमारे माता-पिता बनते हैं उन्हींके गुण हममें आते हैं और उन्हेंही हम अपनाते हैं। ऐसे ही संस्कृति का सम्बन्ध है, वह सच्चे अर्थों में हमारी धात्री होती है। इस दृष्टि से संस्कृति हमारे मन का मन, प्राणों का प्राण और शरीर का शरीर होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि हम अपने विचारों को किसी प्रकार संकुचित कर लेते हैं। सच तो यह है कि जितना अधिक हम एक संस्कृति के मर्म को अपनाते हैं उतने ही ऊँचे उठ कर हमारा व्यक्तित्व संसार के दूसरे मनुष्यों, धर्मों, विचारधाराओं और संस्कृतियों से मिलने और उन्हें जानने के लिए समर्थ और अभिलाषी बनता है। अपने केन्द्र की उन्नति बाह्य विकास की नींव है। कहते हैं घर खीर तो बाहर भी खीर; घर में एकादशी तो बाहर भी सब सूना। एक संस्कृति में जब हमारी निष्ठा पक्की होती है तो हमारे मन की परिधि विस्तृत हो जाती है, हमारी उदारता का भंडार भर जाता है। संस्कृति जीवन के लिए परम आवश्यक है। राजनीति की साधना उसका केवल एक अंग है। संस्कृति राजनीति और अर्थशास्त्र दोनों को अपने में पचाकर इन दोनों से विस्तृत मानव मन को जन्म देती है। राजनीति में स्थायी रक्तसंचार केवल संस्कृति के प्रचार, ज्ञान और साधना से सम्भव है। संस्कृति जीवन के वृक्ष का संवर्धन करनेवाला रस है। राजनीति के क्षेत्र में तो उसके इने-गिने पत्ते ही देखने में आते हैं। अथवा यों कहें कि राजनीति केवल पथ की साधना है, संस्कृति उस पथ का साध्य है।

जागरूकता की आवश्यकता

भारतीय राष्ट्र अब स्वतंत्र हुआ है। इसका अर्थ यह है कि हमें अपनी इच्छा के अनुसार अपना जीवन ढालने का अवसर प्राप्त हुआ है। जीवन का जो नवीन रूप हमें प्राप्त होगा वह अकस्मात् अपने आप आ गिरनेवाला नहीं है। उसके लिए जानबूझ कर निश्चित विधि से हमें प्रयत्न करना होगा। राष्ट्र-संवर्धन का सबसे प्रबल कार्य संस्कृति की साधना है। उसके लिए बुद्धिपूर्वक प्रयत्न

करना आवश्यक है। देश के प्रत्येक भाग में इस प्रकार के प्रयत्न आवश्यक हैं। इस देश की संस्कृति की धारा अति प्राचीन काल से बहती आई है। हम उसका सम्मान करते हैं, किन्तु उसके प्राणवंत तत्त्व को अपनाकर ही हम आगे बढ़ सकते हैं। उसका जो जड़ भाग है उस गुरुतर बोझ को यदि हम ढोना चाहें तो हमारी गति में अड़चन उत्पन्न होगी। निरन्तर गति मानव जीवन का वरदान है। व्यक्ति हो या राष्ट्र, जो एक पड़ाव पर टिक रहता है, उसका जीवन ढलने लगता है। इसलिए 'चरैवेति चरैवेति' की धुन जब तक राष्ट्र के रथ-चक्रों में गूँजती रहती है तभी तक प्रगति और उन्नति होती है, अन्यथा प्रकाश और प्राणवायु के कपाट बन्द हो जाते हैं और जीवन रुँध जाता है। हमें जागरूक रहना चाहिए; ऐसा न हो कि हमारा मन परकोटा खींचकर आत्मरक्षा की साध करने लगे।

पूर्व और नवीन का मेल

पूर्व और नूतन का जहाँ मेल होता है वही उच्च संस्कृति की उपजाऊ भूमि है। ऋग्वेद के पहले ही सूक्त में कहा गया है कि नये और पुराने ऋषि दोनों ही ज्ञानरूपी अग्नि की उपासना करते हैं। यही अमर सत्य है। कालिदास ने गुप्तकाल की स्वर्णयुगीय भावना को प्रकट करते हुए लिखा है कि जो पुराना है वह केवल इसी कारण अच्छा नहीं माना जा सकता, और जो नया है उसका भी इसीलिए तिरस्कार करना उचित नहीं। बुद्धिमान् दोनों को कसौटी पर कसकर किसी एक को अपनाते हैं। जो मूढ़ हैं उनके पास घर की बुद्धि का टोटा होने के कारण वे दूसरों के भुलावे में आ जाते हैं। गुप्त-युग के ही दूसरे महान् विद्वान् श्री सिद्धसेन दिवाकर ने कुछ इसी प्रकार के उद्गार प्रकट किए थे—"जो पुरातन काल था वह मर चुका। वह दूसरों का था, आज का जन यदि उसको पकड़कर बैठेगा तो वह भी पुरातन की तरह ही मृत हो जाएगा। पुराने समय के जो विचार हैं वे तो अनेक प्रकार के हैं। कौन ऐसा है जो भली प्रकार उनकी परीक्षा किए बिना अपने मन को उधर जाने देगा।"

जनोऽयमन्यस्य मृतः पुरातनः पुरातनैरेव समो भविष्यति।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत्॥

अथवा, "जो स्वयं विचार करने में आलसी है वह किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पाता। जिसके मन में सही निश्चय करने की बुद्धि है उसीके विचार प्रसन्न और साफ-सुथरे रहते हैं। जो यह सोचता है कि पहले आचार्य और धर्मगुरु जो कह गए सब सच्चा है, उनकी सब बात सफल है और मेरी बुद्धि या विचारशक्ति टुटपुंजिया है, ऐसा बाबावाक्यं प्रमाणं के ढंग पर सोचनेवाला मनुष्य केवल आत्म-हनन का मार्ग अपनाता है"—

विनिश्चयं नैति यथा यथालसस्तथा तथा निश्चितवान् प्रसीदति।
अवन्ध्यवाक्या गुरवोऽहमल्पधीरिति व्यवस्यन् स्ववधाय धावति॥

"मनुष्य के चरित्र मनुष्यों के कारण स्वयं मनुष्यों द्वारा ही निश्चित किए गए थे। यदि कोई बुद्धि का आलसी या विचारों का दरिद्री बनकर हाथ में पतवार लेता है तो वह कभी उन चरित्रों का पार नहीं पा सकता जो अथाह हैं और जिनका अन्त नहीं। जिस प्रकार हम अपने मत को पक्का समझते हैं वैसे ही दूसरे का मत भी तो हो सकता है। दोनों में से किसकी बात कही जाय? इस लिए दुराग्रह को छोड़कर परीक्षा की कसौटी पर प्रत्येक वस्तु को कसकर देखना चाहिए।" गुप्तकालीन संस्कृति के ये गूँजते हुए स्वर प्रगति उत्साह, नवीन पथ संशोधन और भारमुक्त मन की सूचना देते हैं। राष्ट्र के अर्वाचीन जीवन में भी इसी प्रकार का दृष्टिकोण हमें ग्रहण करना आवश्यक है। कुषाण-युग के आरम्भ की मानसिक स्थिति का परिचय देते हुए महाकवि अश्वघोष ने तो यहाँ तक कहा था कि राजा और ऋषियों के उन आदर्श चरित्रों को जिन्हें पिता अपने जीवन में पूरा नहीं कर सके थे उनके पुत्रों ने कर दिखाया—

राज्ञाम् ऋषीणां चरितानि तानि कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः।

नये और पुराने के संघर्ष में इस प्रकार का सुलझा हुआ और साहसपूर्ण दृष्टिकोण रखना आवश्यक है। इससे प्रगति का मार्ग खुला रहता है। अन्यथा भूतकाल कंठ में पड़े खटखटे की तरह बारबार टकराकर हमारी हड्डियों को तोड़ता रहता है। भारतवर्ष जैसे देश के लिए यह और भी आवश्यक है कि वह भूतकाल की जड़पूजा में फँसकर उसीको संस्कृति का अंग न मानने लगे। भूतकाल

की रूढ़ियों से ऊपर उठकर उसके नित्य अर्थ को ग्रहण करना चाहिए। आत्मा को प्रकाश से भर देनेवाली उसकी स्फूर्ति और प्रेरणा स्वीकार करके आगे बढ़ना चाहिए। जब कर्म की सिद्धि पर मनुष्य का ध्यान जाता है तब वह अनेक दोषों से बच जाता है। जब कर्म से भयभीत व्यक्ति केवल विचारों की उलझन में फँस जाता है तब वह जीवन की किसी नई पद्धति या संस्कृति को जन्म नहीं दे पाता। अतएव आवश्यक है कि पूर्वकालीन संस्कृति के जो निर्माणकारी तत्त्व है उन्हें लेकर हम कर्म में लगें और नई वस्तु का निर्माण करें। इसी प्रकार भूतकाल वर्तमान का खाद बनकर भविष्य के लिए विशेष उपयोगी बनता है। भविष्य का विरोध करके पदे-पदे उससे जूझने में और उसकी गति कुंठित करने में भूतकाल का जब उपयोग किया जाता है, तब नए और पुराने के बीच एक खाई बन जाती है और समाज में दो प्रकार की विचारधाराएँ फैलकर संघर्ष को जन्म देती हैं। हमें अपने भूतकालीन साहित्य में आत्मत्याग और मानव-सेवा का आदर्श ग्रहण करना होगा। अपनी कला में से अध्यात्म भावों की प्रतिष्ठा और सौन्दर्य-विधान के अनेक रूपों और अभिप्रायों को पुनः स्वीकार करना होगा। अपने दार्शनिक विचारों में से उस दृष्टिकोण को अपनाना होगा जो समन्वय, मेल-जोल, समवाय और संप्रीति के जीवनमंत्र की शिक्षा देता है, जो विश्व के भावी सम्बन्धों का एकमात्र नियामक दृष्टिकोण कहा जा सकता है। अपने उच्चाशयवाले धार्मिक सिद्धान्तों को मथकर उनका सार ग्रहण करना होगा। धर्म का अर्थ सम्प्रदाय या मतविशेष का आग्रह नहीं है। रूढ़ियाँ रुचि-भेद से भिन्न होती रही हैं और होती रहेंगी। धर्म का मथा हुआ सार है प्रयत्नपूर्वक अपने आपको ऊँचा बनाना। जीवन को उठाने-वाले जो नियम है वे जब आत्मा में बसने लगते हैं तभी धर्म का सच्चा आरम्भ मानना चाहिए। साहित्य, कला दर्शन और धर्म से जो मूल्यवान् सामग्री हमें मिल सकती है उसे नए जीवन के लिए ग्रहण करना यही सांस्कृतिक कार्य की उचित दिशा और सच्ची उपयोगिता है।

---

२. पूर्व और नूतन

कुछ व्यक्ति नये के प्रति आस्थावान् होते हैं और कुछ पुराने के लिए श्रद्धा रखते हैं। मनुष्य-जीवन में नया और पुराना इन दोनों का ही एक विचित्र समन्वय है। हमारे अनुभव के क्षेत्र में पूर्व-काल और नूतन-काल दोनों को ही हिस्सा मिला है। जिस समय कोई व्यक्ति या समाज अपने आपको मन की उस दशा में डाल लेता है, जिसमें नये और पुराने दोनों के लिए भरपूर श्रद्धांजलि भेंट करने की उसकी क्षमता नष्ट हो जाती है, उस समय या तो आगे के लिए उसकी गति रुँध जाती है, या उसकी प्रगति बहुत ही डाँवाडोल होकर दिक् भ्रम में पड़ जाती है। जो कुछ पुराना है, न तो वही सब बहुत बढ़िया है, और न जो नया है वही पुराने के सिर पर पैर रख कर जीने का अधिकारी है। हमारी संस्कृति के प्रभात-काल में ही इसके प्रवर्त्तकों ने नये और पुराने के समन्वय को अच्छी तरह समझ लिया था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में यह भाव बहुत ही काव्यमय ढंग से व्यक्त किया गया है—

'अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।'

अर्थात्—पूर्व और नूतन दोनों युगों के ऋषियों ने अग्नि की पूजा और उपासना की है। समान रूप से अग्नि उनके द्वारा स्तुति के योग्य है। मंत्र का अग्नि शब्द संकेत-रूप से किसी मूल्यवान् तत्त्व की ओर हमारा ध्यान खींचता है। एक ओर यज्ञ की वेदी में प्रज्वलित जो भौतिक अग्नि है, वह भी मंत्रार्थ का विषय है; किन्तु वेदों की समाधि भाषा के अनुसार जो मनोमय प्राणमय, एवं ज्ञानात्मक जगत् है, वह सबही अग्नि शब्द के अन्तर्गत है। प्राण की पंचाग्नियाँ प्रत्येक शरीर में जैसे आज प्रज्वलित हैं, वैसे ही हज़ारों-लाखों वर्ष पूर्व भी प्राणियों की देह को संचालित करती थीं। प्राणाग्नियों की कृपा से यह मनुष्य-शरीर सनाथ और पूजा के योग्य बना है। प्राणाग्नि के वियोग से मनुष्य की

प्रियतम देह भी मिट्टी हो जाती है। पूर्व और नूतन ऋषि दोनों ने ही प्राणों की उपासना के लिए अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है। जब पुराणवादी लोग प्राणाग्नि की साक्षात् उपासना भूल जाते हैं, उस समय प्राचीनता के पाश में जकड़ा हुआ जीवन चैतन्य का स्पर्श खो देता है, और नवीन प्रवाह के अभाव में निष्प्राण होने लगता है। नदियों का जल पर्वतीय उद्‌गम से पोषित होकर भी नित्य आगे बढ़ने के लिए मार्ग ढूँढ़ता है। जहाँ आगे के प्रवाह में टोटा पड़ा वहीं ठहरा हुआ जल सड़ने लगता है। पुराण के भीतर बहुत बड़ा आकर्षण और उपयोगिता छिपी रहती है, किन्तु यदि पुराण को नूतन का आश्रय नहीं मिलता, तो पुराण का तेज भी लुप्त हो जाता है और उसकी जीवनी-शक्ति कुंठित हो जाती है। वंश की परम्परा में हम नित्य प्रति देखते हैं कि किस प्रकार पुराण, वृद्ध, नूतन बाल के रूप में जन्म लेता और उसको अंगुलि का सहारा देकर आगे बढ़ाता है। वैदिक मंत्रों में बहुत ही सरसतापूर्ण और साहित्यिक ढंग से वृद्ध और बाल के इस सनातन सम्बन्ध को व्यक्त किया है। बालक क्या है इस प्रश्न का उत्तर सूत्र-रूप में यह है—

'स पितुः पिता सत्'

अर्थात्—प्रत्येक बालक उस पिता का भी पिता है, जिसने उसे जन्म दिया है। जिन लोगों ने इस प्रकार का विचार प्रथम बार प्रकट किया, उनके उदार चिन्तन और अतुल साहस की प्रशंसा करनी पड़ती है। प्रत्येक नवजात शिशु में आगे आने वाला संसृति-चक्र पूर्ण रूप से गर्भित है। बालक को प्राण के क्षेत्र में प्रकृति का नितान्त नवीन प्रयोग कह सकते हैं; किन्तु पुरातन की समस्त थाती को लेकर ही वह नये प्रयोग के लिए आगे बढ़ता है। व्यक्ति के जीवन में बाल्यकाल एक अत्यन्त क्रांतिकारी घटना है। बाल्यकाल पुराण का नूतन को महत्त्वपूर्ण वरदान है। बालपन नूतन की साकार मूर्ति है, और बुढ़ापा काल के जीर्ण अंश का विकृत रूप। आयु के जीर्ण और मर्त्य अंश से छुटकारा पाने के लिए बालपन की शरण में जाना अत्यन्त आवश्यक है। जो समाज अपना कल्याण चाहता है, उसे नित्य नूतन को पुनरावृत्ति करनी चाहिए। जिस समाज के मनोभाव पुराण की जड़ता से ठिठुर नहीं गए हैं, वही प्राणों की हल-

चल और नवीन जीवन का लाभ कर सकता है। अपने आपको नये संस्पर्शों से अवगत एवं परिचित करना ही जीवन का लक्षण है। नवीन के लिए स्वागत का भाव जहाँ विलीन हुआ, वहीं मानव-जीवन अस्त हो जाता है। जीवन का रथचक्र तो सदा आगे बढ़ने के लिए है, उसे रोकने का प्रयत्न निष्फल होकर रहेगा; अतएव भूत के लिए कल्याणकारी यही है कि वह वर्त्तमान और भविष्य के साथ मित्रता का नाता जोड़े। पूर्व या प्राचीन के लिए मांगलिक विधान यही है कि वह नित्य नवीन से अपना पोषण करना सीखे। प्रति वसंत-काल में नव रस का संचार जरठ बने हुए वनस्पति-जगत् को लहलहाता हुआ नवीन जीवन देकर आगे बढ़ाता है, और प्रत्येक वृक्ष और लता का पुराना ठाठ आगे आने वाली फल-फूल-समृद्धि के लिए फिर से तैयार हो जाता है। यही बात तो व्यक्ति और समाज के जीवन में भी घटित होती है।

---

३. वाल्मीकि

भारतवर्ष को पुण्यभूमि के लिए महर्षि वाल्मीकि का काव्य गंगा के पवित्र जल की तरह अनेक लोकोपकारी मङ्गलों का करनेवाला है। भारत के भौतिक रूप को देवयुग में प्रजापति ने रचकर तैयार किया। इसमें पृथ्वी को धारण करनेवाला जहाँ एक ओर गिरिराज हिमालय है, वहाँ दूसरी ओर अगाध गाम्भीर्यवाले समुद्र हैं। इसके वक्षःस्थल पर गंगा और यमुना की वारि-धाराओं के उज्ज्वल कण्ठहार हैं। मध्य में गहन दण्डकवन का अगम्य विस्तार है। सर्वाङ्ग-सुन्दर इस भूप्रदेश में अनेक रत्नों की समृद्धि, दिव्य ओषधि-वनस्पतियों के भण्डार और उपयोगी पशु-पक्षियों की सम्पत्ति को विधाता ने चारों ओर से भरपूर करके प्रस्तुत किया है। उसमें रहने योग्य मानव की जब हम कल्पना करने लगते हैं तो हमें महर्षि वाल्मीकि का ध्यान आता है। उपर्युक्त प्रकार से देवों से पूजी गई पुण्यभूमि में रहने योग्य देवकल्प मानव का निर्माण किसने किया? इस देश में मानव के मस्तक को ऊँचा रखनेवाले हिमालय के समान उन्नत आदर्शों की स्थापना किसने की? गम्भीर सागर के समान त्रिकाल में भी मर्यादाओं का उल्लङ्घन न करनेवाले पूर्ण पुरुष का निर्माण किसने किया? पुण्यसलिला भागीरथी के समान सब लोगों से वन्दनीय चरित्र की कल्पना यहाँ कसके द्वारा हुई? किसने सबसे पहले जीवन के अगम्य, अज्ञात दण्डकवन में चारित्र्य की सुलभ पगडण्डियों का निर्माण किया? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए हमें महर्षि वाल्मीकि की शरण में जाना पड़ता है। वाल्मीकि हमारे राष्ट्रीय आदर्शों के आदि विधाता हैं। धर्म और सत्य रूपी महावृक्षों के जो अमर बीज वाल्मीकि ने बोये वे आज भी फूल- फल रहे हैं। रामायण के प्रारम्भ में ही महाकवि ने दृढ़ता के साथ प्रश्न किया है—

चारित्र्येण च को युक्तः ?'

'जीवन में चरित्र से युक्त कौन है'? वाल्मीकि का सम्पूर्ण दृष्टिकोण चरित्र-योग की जिज्ञासा है। चरित्रवान् व्यक्ति को ढूँढ़ने के लिए ही आदिकाव्य रामायण

का जन्म हुआ। जितने भी अन्य गुण हैं सब चरित्र की व्याख्या के अन्तर्गत आ जाते हैं। वाल्मीकि के लिए चरित्र और धर्म पर्यायवाची हैं। अतएव उन की दृष्टि में राम धर्म की प्रकट मूर्त्ति हैं—

'रामो विग्रहवान् धर्मः' (अरण्य० ३८। १३)।

राम शरीरधारी धर्म हैं। वाल्मीकि राम की प्रशंसा में धर्मज्ञ, धर्मिष्ठ, धर्मभृतां वर आदि विशेषण देते हुए नहीं थकते। मन, कर्म और वाणी में राम जो भी चरित्र करते हैं, उससे हमें धर्म की नई-नई व्याख्या प्राप्त होती है। राम सनातन धर्मवृक्ष के बीज हैं। अन्य सब मनुष्य उस वृक्ष के पत्र, पुष्प और फल हैं।* वाल्मीकि की दृष्टि में संसार में दो ही प्रकार के मनुष्य बसते हैं—एक अल्पसत्त्व या हीन पराक्रमवाले साधारण मनुष्य, जिन्हें रामायण में प्राकृत नर कहा है, दूसरे धीर या चरित्रवान् व्यक्ति, जो धर्म और सत्य आदर्शों को कर्म के मार्ग से अपने जीवन में प्रत्यक्ष कर दिखाते हैं। दूसरा मार्ग ही जीवन के लिए बहुमूल्य है। हमारे चारों ओर साधारण जीवन व्यतीत करनेवाले मनुष्य ढेरों दिखाई पड़ते हैं। परन्तु जीवन की मर्यादाओं में पूरा उतरनेवाले सत्यसन्ध और दृढ़व्रत मनुष्य विरले ही होते हैं। वाल्मीकि ने जिस चरित्रयोग का वर्णन किया है, धीर पुरुष उसके केन्द्र हैं। कवि और उसका काव्यादर्श दोनों एक-दूसरे से पृथक् नहीं किए जा सकते। इसीलिए वाल्मीकि और उनके आदर्श राम भी एक दूसरे से अभिन्न हैं।

चरित्र-योग

मानव क्या है? इस प्रश्न का उत्तर दार्शनिक लोग कई प्रकार से देते हैं। किसीके मत में मनुष्य मनन करनेवाला प्राणी है। किसीकी दृष्टि में वह केवल बाह्य साधनों और औज़ारों से काम लेनेवाला जन्तु है। कोई इसे हँसने और बोलनेवाला पशु समझकर इसकी एक साधारण-सी परिभाषा करते हैं।

*** मूलं ह्येष मनुष्याणां धर्मसारो महाद्युतिः।**
पुष्पं फलं च पत्रं च शाखाश्चास्येतरे जनाः॥
(अयो० २२। १९)

वाल्मीकि की परिभाषा इन सबसे विलक्षण है। उनकी दृष्टि में मनुष्य एक चरित्रवान् प्राणी है। चरित्र से युक्त मनुष्य ही जीवन को मूल्यवान् और आकर्षण की वस्तु बनाता है। चरित्र ही धर्म है। चरित्र में जो मोहन-मंत्र है, वह अन्यत्र कहीं नहीं।

चरित्र के आदर्श में शरीर और मन दोनों का समावेश है। वाल्मीकि के मत से चरित्रवान् पुरुष वह है जिसमें शारीरिक विकास और नैतिक विकास रथ के दो पहियों की तरह साथ-साथ चलते हैं। राम के वर्णन में वाल्मीकि ने जिन विशेषणों का प्रयोग किया है, उनके अध्ययन से राम का शारीरिक सौन्दर्य और गठन हमारे सामने मूर्तिमान् हो उठता है। राम के शरीर में कंधे चौड़े और उठे हुए, भुजाएँ लम्बी, ग्रीवा शंख की तरह और ठोड़ी दोहरी थी। छाती चौड़ी, लम्बा धनुष सँभानेवाले घुटनों तक लम्बे हाथ, गले की हड्डी मांस से दबी हुई, उत्तम शिर, सुन्दर ललाट, बड़ी-बड़ी आँखें, चमकीला रंग, सब अंग बराबर बटे हुए, सब प्रकार शुभ लक्षणों से युक्त देह—इस प्रकार राम का क्षत्रिय स्वरूप था। सप्तसिन्धु और गंगा की अन्तर्वेदी में दृढ़ता के साथ जिन आर्यों ने सभ्यता का विकास किया, मालूम होता है, राम उनके मूर्त्तिमन् प्रतीक हैं।* हमें स्मरण है कि महाकवि कालिदास ने भी रघुवंशी राजाओं के भौतिक स्वरूप की ऐसी ही उदात्त कल्पना रक्खी है—

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः॥

*** सुन्दरकांड ३५ वें सर्ग में सीता ने हनुमान् की परीक्षा के लिए राम के संस्थान या शरीरगठन के बारे में प्रश्न किया है। उत्तर में हनुमान् ने संकेत के द्वारा कहा है कि राम के तीन अंग (जंघा, गट्टे और मुष्टि) स्थिर हैं, तीन लम्बे, तीन सम, तीन उन्नत, तीन ताम्रवर्ण, तीन स्निग्ध, तीन गम्भीर, तीन अवनत, चार छोटे, चार रेखायुक्त, चार किष्कु के बराबर लम्बे, चार सम, चौदह जोड़े समान, चार चार प्रकार की गतिवाले, पाँच चिकने, आठ लम्बी पोरी के, दस कमल की तरह बड़े, छः अंग उभरे हुए और नौ सूक्ष्म हैं। ये परिभाषाएँ भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के अध्ययन के लिए उपयोगी हैं।**

अर्थात् राजा दिलीप की छाती चौड़ी, कन्धे बैल के समान, लम्बाई शाल वृक्ष का स्मरण दिलानेवाली और भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं। वे क्षत्रिय थे; क्षत्रियों का कर्म रक्षा करना है; उस कर्म के अनुरूप ही मानो स्वयं क्षात्रधर्म ने शरीर धारण किया था। राम पूर्ण रूप से दिलीप आदि राजर्षियों की परम्परा के प्रतिनिधि हैं। आर्य-सभ्यता का जो युगान्त तक फैला हुआ इतिहास है, इक्ष्वाकु वंशी राजा उसके मेरुदण्ड कहे जा सकते हैं। राम को उस शृंखला का सुमेरु ही समझना चाहिए।

आरम्भ में ही तपस्वी वाल्मीकि नारदजी से प्रश्न करते हैं कि इस समय लोक में गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्य बोलनेवाला, दृढ़व्रती, चरित्र से युक्त, सब भूतों का हित करनेवाला, विद्वान्, सुन्दर, जितेन्द्रिय और क्रोध को जीतनेवाला कौन है? उत्तर में नारदजी राम के अनेक गुणों की तालिका प्रस्तुत करते हैं। नारद का उत्तर भारतीय चरित्र की विशेषताओं को बताने के लिए आज भी एक मानदण्ड है। अपने राष्ट्रीय चरित्र की गुणगरिमा का अनुसंधान करने के लिए जब हम परिषद् का संगठन करेंगे तब हमें नारद के उत्तर का मूल्य ठीक-ठीक आँकने का दृष्टिकोण प्राप्त होगा। मनु ने राष्ट्र के मस्तक को गर्व से ऊँचा रखने के लिए लिखा है कि इस देश में जन्म लेनेवाले अग्रणी पुरुषों का चरित्र पृथ्वी के दूसरे देशों के लिए शिक्षा की वस्तु है। मनु की प्रतिज्ञा का पूरा महत्त्व हमारी आँखों से ओझल हो गया है। हमारी अन्तरात्मा का सुवर्ण दैन्य के लोहे से छूकर निस्तेज बन गया है। परन्तु नारद के उत्तर से चरित्र की उस ऊँचाई का कुछ आभास हमें अब भी प्राप्त होता है।

राम नियतात्मता हैं। उन्होंने इन्द्रियों का जय किया है। वे महावीर्य हैं। संग्राम में पैर पीछे नहीं रखते। धृति और बुद्धि दोनों का उनमें विकास है। वे नीतिमान् और वाग्मी, सुन्दर भाषण करनेवाले हैं। वे देवकल्प, ऋजु और दान्त हैं, धर्म के तत्त्व को जानते हैं, सत्य-संध अर्थात् मन, कर्म और वचन से सत्य का पालन करनेवाले हैं। राम क्षत्रिय के पद से सदा प्रजाओं का हित करते हैं। यशस्वी, ज्ञानसंपन्न, शुचिवश्य, और समाधिमान् या चित्त की एकाग्रता से युक्त हैं; जीवों के रक्षक, धर्म के रक्षक, स्वधर्म के और स्वजनों के पालन करनेवाले

हैं; वेदवेदांग में पारंगत और धनुर्वेद में निष्ठित हैं। राम आर्य हैं। सदा हँसकर बोलते हैं, उनका दर्शन ही सुन्दर है। वह सब शास्त्रों के मर्म को जाननेवाले, स्मृतिवान् हैं, उनकी बुद्धि में नवीन कल्पनाओं या विचारों का स्फुरण होता रहता है। पराक्रम में विष्णु, कान्ति में चन्द्रमा, क्रोध में कालाग्नि, क्षमा-गुण में पृथिवी, त्याग में कुबेर और सत्य गुण में साक्षात् धर्म के समान हैं।*

प्राचीन ऋषियों ने जिस बुद्धियोग का विकास किया था, राम उसके उदाहरण हैं। सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवनमरण में एक समान अविचल रहनेवाली बुद्धि ही प्रज्ञा है। गीता में भी इस प्रज्ञायोग का वर्णन है। राम के लिए प्रसिद्ध है कि राज्याभिषेक के समाचार के तुरन्त बाद वरदानिक वनवास के समाचार से उनके मुख पर कोई परिवर्त्तन नहीं देखा गया। राज्य के नाश से उनके मुख की लक्ष्मी में कोई अन्तर नहीं पड़ा। वन को जाते हुए और पृथिवी को छोड़ते हुए उनके चित्त में ज़रा-सा विकार नहीं आया।† राम ने स्वयं कैकेयी से कहा है—'हे देवि, मैं अर्थपरायण बनकर जगत् में जीना नहीं चाहता। मुझे तुम ऋषियों के समान निर्मल धर्म का अनुगामी समझो।'

वाल्मीकि की दृष्टि में भरत भी धार्मिक हैं, राम भी धार्मिक हैं। चित्रकूट में मन्दाकिनी के तीर पर भरत ने राम की पूर्वोक्त प्रज्ञा का वर्णन करते हुए कहा है—

नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे ।
विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममास्थितम् ॥

(अयो० १९ । २०)

*** मूल रामायण सर्ग १ ।**

† न चास्य महतीं लक्ष्मीं राज्यनाशोऽपकर्षति ।
न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम् ।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया ॥

(अयो० १९ । ३२-३३)

'हे राम, लोक में ऐसा कौन है जैसे तुम हो ? दुःख से तुमको व्यथा नहीं पहुँची, कल्याण से तुम हर्षित नहीं हुए। तुम्हारे लिए मृत्यु और जीवन, होना और न होना, दोनों समान हैं। ऐसी बुद्धि जिसकी हो उसको परिताप कहाँ से हो सकता है ?'—

यथा मृतस्तथा जीवन् यथासति तथा सति ।
यस्यैष बुद्धिलाभः स्यात्परितप्येत केन सः ॥

(अयो० १०६ । ४)

वाल्मीकि की दृष्टि में चरित्र जीवन का सक्रिय मार्ग है। अपने केन्द्र में आप समाकर निस्तेज स्वार्थी जीवन बिताते हुए जो सदाचार रचा जाता है, वह हेय है। उससे जीवन का गहन दण्डकवन पार नहीं किया जा सकता। वाल्मीकि हमें बार-बार याद दिलाते हैं कि राम प्रजाओं के हित में रत रहनेवाले हैं, वह स्वजन और धर्म के रक्षक हैं। सघन दण्डकारण्य में मुनि राम के पास आकर कहते हैं—'हे राम, वे तुम धर्मज्ञ, धर्मवत्सल हो। कुछ याचकभाव से नहीं, धर्म के भाव से हम तुमसे कहते हैं। राजा को पुत्र के समान प्रजा का पालन करना चाहिए। वन में फल-मूल खानेवाले मुनि जो तप करते हैं उसका एक चौथाई भाग धर्म से प्रजारक्षण करनेवाले राजा को प्राप्त होता है। पम्पा, मन्दाकिनी और चित्रकूट आदि स्थानों में रहनेवाले मुनियों को राक्षस लोग अनेक प्रकार से सताते हैं।' यह सुनकर राम अपने धनुष की ओर देखते हुए प्रतिज्ञा करते हैं—'मेरा वन में आना बड़ा फलदायक हुआ। मैं आपके शत्रु राक्षसों का अवश्य वध करूँगा।'

इस प्रकार की प्रतिज्ञा से पति का कल्याण चाहनेवाली सीता को भय हुआ। वह बोलीं—'हे राघव, मिथ्या वाक्य न तुम्हारा कभी हुआ है, न होगा। पर बिना वैर के रुद्रभाव धारण करना भी तो उचित नहीं। स्नेह से और आदर से मैं तुम्हें स्मरणमात्र दिलाती हूँ, शिक्षा नहीं देती। हम वन में आए हुए हैं, कहाँ वन का वास और कहाँ शस्त्र उठाना, कहाँ तप की वृत्ति और कहाँ क्षात्र-धर्म ? दोनो में मेल नहीं। यहाँ हमको देशधर्म का ही पालन करना उचित है। शस्त्र के सेवन से बुद्धि मलिन हो जाती है। अयोध्या लौटने पर फिर क्षत्रिय-

धर्म का ग्रहण कीजिएगा ।‡ यदि राज्य त्यागकर और संन्यास लेकर आप वन में नियमों का पालन करते हुए रहें तो और भी अधिक धर्म और प्रसन्नता की बात होगी । धर्म से ही सब कुछ बनता है, धर्म ही जगत् का सार है । हे सौम्य, तपोवन में रहकर धर्म का आचरण करो ।'

सीता एक उपाख्यान के द्वारा तलवार की उत्पत्ति बताती हैं । इन्द्र ने एक मुनि को तपभ्रष्ट करने के लिए उसके आश्रम में आकर उसे तलवार रखने के लिए दे दी । बस हर समय तलवार पास में रखने से उस मुनि की बुद्धि प्रचंड बन गई और वह मुनि शस्त्र रखने से नरक को चला गया । 'दण्डकवन के राक्षसों ने आपका क्या बिगाड़ा है, बिना अपराध आप उन्हें क्यों मारने चले हैं ?'

परन्तु राम का निर्माण दूसरे प्रकार की मिट्टी से हुआ था । उनके रोम-रोम में क्षात्रधर्म फड़कता था । सीता के धर्मवाद की युक्ति का उन पर कुछ असर न हुआ । उन्होंने कहा—'हे देवि, मैं क्या कहूँ, तुम स्वयं समझती हो । क्षत्रिय लोग इसीलिए धनुष बाँधते हैं कि राष्ट्र में आर्त-शब्द सुनाई न पड़े—

क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति ।

(अरण्य० १० । ३)

दुःखी होकर दण्डकवन में मुनि लोग मेरे पास आए । मैंने उनके दुःख की कथा सुनकर उनसे कहा कि मेरे लिए तो यही बड़ी लज्जा की बात है जो आप-जैसे विप्रों को मेरे पास तक आने का कष्ट उठाना पड़ा । क्यों नहीं मैंने स्वयं ही आपका कष्ट दूर कर दिया ! यह कहकर मैंने उन मुनियों के सामने राक्षसों को मारने की प्रतिज्ञा की । उस प्रतिज्ञा का पूरी तरह पालन करना मेरा धर्म है । जब तक मेरा जीवन है उस व्रत से मैं नहीं फिर सकता । हे सीते, चाहे मेरे प्राण

---

‡ **क्व च शस्त्रं क्व च वनं क्व च क्षात्रं तपः क्व च ।**
व्याविद्धमिदमस्माभिर्देशधर्मस्तु पूज्यताम् ॥ २८ ॥
कदर्यं कलुषा बुद्धिर्जायते शस्त्रसेवनात् ।
पुनर्गत्वा त्वयोध्यायां क्षत्रधर्मं चरिष्यसि ॥ २७ ॥
(अरण्य० सर्ग ६)

चले जायँ, चाहे उस प्रतिज्ञा की पूर्ति में लक्ष्मण के साथ तुमको भी मुझे छोड़ना पड़े, पर उस व्रत का पालन मैं अवश्य करूँगा। बिना कहे भी मुझे वह कार्य करना चाहिए था, प्रतिज्ञा करके तो बात ही दूसरी है।'

इस प्रकार का कर्मण्य धर्म, सत्य और चरित्र वाल्मीकि को इष्ट था, जिसकी व्याख्या के लिए उन्होंने रामकथा का आश्रय लिया। वाल्मीकि अपने युग के असाधारण व्यक्ति थे। वह जनक के प्रिय सखा और दशरथ के बालपन में साथ खेले हुए मित्र थे। अपने युग के आदर्शों को, ब्राह्म-धर्म और क्षात्र धर्म के समन्वय को, उन्होंने सुन्दरता के साथ प्रतिपादित किया है।

वाल्मीकि का लोकागम धर्म

वाल्मीकि का धर्म के आदर्श मनु और व्यास के धर्म की तरह प्रजाओं के पालन और राष्ट्र के धारण के लिए है। उन्होंने अनेक स्थलों पर अपने दृष्टिकोण का व्याख्यान किया है। धर्म के द्वारा सब वर्णों का पालन राजा का श्रेष्ठ कर्म है।

भरतजी राम से कहते हैं—'हे धर्मज्ञ! चारों आश्रमों में गृहस्थ-आश्रम श्रेष्ठ है, उसको त्यागना उचित नहीं—

चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्य श्रेष्ठमुत्तमम्।
आहुर्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्तं कथं त्यक्तु मिच्छसि॥

क्षत्रियों का यही प्रथम धर्म है कि राज्याभिषिक्त होकर प्रजाओं की रक्षा करें। प्रत्यक्ष को त्यागकर अनिश्चित मार्ग की उपासना क्षत्रबन्धुओं का काम है। तीन ऋणों का परिशोध यही जीवन का ध्येय है।'

भरत के इस आदर्श से राम का मतभेद नहीं है। परन्तु वह पिता की सत्य-प्रतिज्ञा के पालन को श्रेष्ठ मानते हैं। सत्य धर्म का मूल है। सत्य के छोड़ देने से जीवन और लोक दोनों में संकट हो जाता है। राम स्वयं अपने चरित्र से लोकदूषण या लोकसंकर नहीं कर सकते। दशरथ के मंत्री जाबालि लोकायत पक्ष के मानने वाले थे। 'परलोक कुछ नहीं, धर्मबन्धन कुछ नहीं, प्रत्यक्ष ही सब कुछ है, इसलिए हे राम, राज्य पर अधिकार कर लो, फिर अब तो भरत

भी कह रहे हैं ।' जाबालि की इस युक्ति का राम ने ओजपूर्ण खंडन किया। 'आर्य होकर मैं अनार्यों जैसा काम नहीं करूँगा, कुलीन होकर अकुलीनों का आचार नहीं करूँगा, काम के वशीभूत होकर सब लोकों को डुबाने वाला आचरण मुझसे न होगा। राजा जैसा आचरण करते हैं, प्रजाएँ भी वैसे ही बरतती हैं'—

यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः ।

(अयो० १०६ । ६)

भीष्मपितामह के शब्दों में राजा समय का बनानेवाला है। 'सत्य ही सनातन राजवृत्त है, इसलिए राज्य की नींव सत्य पर है, सत्य से ही लोक प्रतिष्ठित हैं। ऋषि और देव सत्य को ही श्रेष्ठ मानते हैं। अनृतवादी मनुष्य से लोग ऐसे डरते हैं जैसे साँप से। सत्यपरायण धर्म ही सबका मूल है। सत्य ही लोक का ईश्वर है, धर्म सत्य के ही आश्रित है। सत्य से परे और कुछ नहीं है। दान, यज्ञ, अग्निहोत्र और तप सब सत्य के बल पर टिके हुए हैं। वेद भी सत्य पर प्रतिष्ठित हैं, इसलिए सत्यपरक होना चाहिए। अकेला सत्य ही लोक का पालन करता है, वही कुलों की रक्षा करता है। मैं अवश्य पिता के सत्य की रक्षा करूँगा। मेरे लिए यह असम्भव है कि लोभ से, मोह से या अज्ञान से किसी भी प्रकार मैं सत्य की मर्यादा का उल्लंघन करूँ—

नैव लोभान्न मोहाद्वा न चाज्ञानात्तमोऽन्वितः ।
सेतुं सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः सत्य प्रतिश्रवः ॥

(अयोध्या० १०६ । १७)

यह सत्य प्रत्येक के भीतर रहने वाला (प्रत्यगात्मा) धर्म मुझे जान पड़ता है। यदि मैं असत्य का आचरण करूँगा तो क्षात्रधर्म से पतित हो जाऊँगा। यह भूमि, कीर्ति, यश और लक्ष्मी सब सत्यवादी के लिए है। मैं कार्य-अकार्य को जानता हुआ श्रद्धा के साथ लोकयात्रा का निर्वाह करूँगा। यह लोक कर्मभूमि है। यहाँ आकर शुभ कर्म करना चाहिए। अग्नि, वायु, सोमादि देव भी कर्म का ही फल भोग पाते हैं। सत्य, धर्म, पराक्रम, भूतानुकम्पा, और प्रिय वचन, यही 'एकोदय' धर्म है, लोकागम की इच्छा रखने वाले पुरुष जिसका आचरण करते आए हैं।'

धर्म का ऊपर कहा हुआ आदर्श जीवन के भीतर से पनपता है। इस मार्ग का अनुयायी जीवन से भागता नहीं, वह उसको कर्म के जल से सींचता है और उसकी छाया में शान्ति और विश्राम प्राप्त करता है।

धर्मबन्ध

वाल्मीकि ने ऋजु जीवन की जो कल्पना की है उसमें हर एक पात्र धर्म के बन्धन से बँधा हुआ है। हम अपने जीवन में जिस जगह भी हैं, अनेक प्रकार के सत्य बन्धनों में हम उस स्थान पर स्थिर हैं। विद्यार्थी के लिए अपना धर्म है, गुरु के लिए अपना धर्म है। माता और पिता, भाई-बन्धु, राजा-प्रजा, सभी धर्म के बन्धन से बँधे हैं। जिस प्रकार आकाश में प्रत्येक नक्षत्र-ग्रह अपने मार्ग में स्थिर है, न वहाँ भय है, न स्खलन। इसी प्रकार जीवन में अपने धर्म पर ध्रुव रहते हुए हम दूसरों से बिना टकराए प्रगति कर सकते हैं। क्षण भर के लिए कल्पना कीजिए कि जीवन में नीति और अनीति के बन्धन टूट जायँ, उस समय समाज और मानव की कैसी शोचनीय दशा होगी। यही लोकसंकर है, जिसके स्मरणमात्र से भारतीय समाजशास्त्री काँप उठते थे।

वाल्मीकि ने बड़ी सुन्दरता से कई स्थानों पर हमें इसका परिचय दिया है कि यदि धर्म की मर्यादाएँ टूट जातीं, सत्य के बाँध ढीले पड़ जाते, तो राम और भरत-जैसे धीर पात्र भी किस प्रकार आचरण कर बैठते। आखिर मनुष्य के भीतर क्षमा भी है, क्रोध भी; धर्म भी है, अधर्म भी; सत्य भी है, असत्य भी। एक ही जगह ये द्वन्द्व रहते हैं। धीर मनुष्य वही है जो इनके दिव्य भाव को ग्रहण करता है। श्रुति का ज्ञान रखने वाले पुरुष भी जब रजोगुण में सन जाते हैं तभी महान् अनर्थ उपस्थित होता है। राम धर्म-बन्धन से च्युत होकर क्या करते ? 'हे लक्ष्मण, मैं अकेला ही क्रुद्ध होकर इस अयोध्या को और सारी पृथिवी को अपने बाणों से नष्ट करके अपना अभिषेक कर सकता हूँ, पर अधर्म से डरता हूँ (अयोध्या० ५३।२५-२६)।' कल्पना कीजिए उस अयोध्या की जिसमें राज्य लेने के लिए राम बाणों का प्रयोग करते ! क्या फिर हमें वहाँ स्वर्ग का वह सौरभ मिल सकता जो आज तक फैला हुआ है ?

भरत को यदि धर्म का बन्धन बाँधकर न रखता तो वह क्या करते, इसका उत्तर उन्हींके मुँह से सुनने योग्य है—

धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि तेनेमां नेह मातरम्।
हन्मि तीव्रेण दण्डेन दण्डार्हां पापकारिणीम्॥

(अयो० १०६ । ९)

'मैं धर्मबन्धन से बँधा हुआ हूँ, इसीलिए पापकारिणी दण्ड के योग्य माता को तीव्र दण्ड से मारे बिना छोड़ता हूँ।' भरत क्रोध में भर कर कैकेयी को मार डालते और फिर उस पाप के दुःख से सम्भवतः अपनी भी हत्या कर लेते! धर्म-बन्धों के टूटने का कैसा घातक परिणाम होता, इसकी कल्पनामात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। ये वे भरत हैं, जिनके लिए गोस्वामी जी ने यथार्थ ही लिखा है—

जो न जनम जग होत भरत को।
सकल धरम धुरि धरणि धरत को?

ठीक ही है, राम ने, सीता ने, लक्ष्मण ने एक-एक धर्म का पालन किया। यदि वे वैसा न करते तो उनकी गणना प्राकृत जीवों में होती। पर यह भरत ही हैं जिन्होंने सब पात्रों के धर्म की धुरी ये अपने कन्धों पर रखकर पूरी उतारी। भरत अड़ जाते तो राम का धर्म, दशरथ का धर्म, लक्ष्मण और सीता का धर्म, सभी संकट में पड़ जाते।

धर्म से स्खलित होकर दशरथ क्या करते? 'हे राम, कैकेयी ने मुझे मोहित करके वरदान ले लिया है; तुम मुझे क़ैद करके अयोध्या के राजा बनो!' परन्तु जिन राम से दशरथ ने यह प्रस्ताव किया, उनके लिए वाल्मीकि सबसे पहले 'धर्मभृतां वर' विशेषण रखते हैं (अयो० ३४।२७)। राम ने उत्तर में यह गीत गाया—

'इयं सराष्ट्रा सजना धनधान्यसमाकुला।
मया विसृष्टा वसुधा भरताय प्रदीयताम्॥

'धन, धान्य, राष्ट्र और जनों से भरी हुई यह पृथिवी भरत को दो। इसमें सोच-विचार का स्थान नहीं है, मुझे राज्य नहीं चाहिए।'

राम की माता, दशरथ की अग्रमहिषी कौशल्या धर्म को भूलकर क्या करतीं ? 'हे राम, मैं बड़ी मन्दभाग्या हूँ । न जाने मुझे सपत्नियों के कौन-कौन से वाग्बाण सुनने पड़ेंगे ? मेरे व्रत, दान और संयम सब ऊसर में बोये हुए बीज की तरह व्यर्थ चले गए । हे पुत्र, माता तुम्हारे लिए वैसे ही है जैसे पिता है; वैसे ही माता का कहना मान्य है । मैं तुम्हें बन जाने की आज्ञा नहीं देती ।'*

कोई भी साधारण माता और क्या कहती ! परन्तु धर्मज्ञ राम माता को स्मरण दिलाते हैं—

पितुर्नियोग स्थातव्य मेष धर्मः सनातनः ।

'हे देवि राजा दशरथ, हमारे-तुम्हारे दोनों के गुरु हैं, उनकी आज्ञा ही गति और धर्म है ।' लक्ष्मण तो धर्मग्रन्थ के आभाव में साक्षात् ज्वालामुखी ही थे । कौशल्या के विलाप को सुनते ही उनका अवरुद्ध हृदय फट पड़ता है, वे कौशल्या से राम के सामने ही कहते हैं—'हे देवि, राम का वन जाना मुझे तो कुछ नहीं जँचता । बूढ़े राजा विषयान्ध थे । नहीं तो कौन राम-जैसे देवकल्प पुत्र को वनवास दे देगा । जब तक यह ख़बर फैलने न पावे तभी तक राज्य अपने हाथ में कर लेना चाहिए । किस की शक्ति है जो मेरे सामने आवे ? आज अयोध्या को मैं सुनसान बना दूँगा, यदि भरत का कोई साथी मेरे सामने युद्ध के लिए आवेगा । यदि पिता कैकयी के साथ हों तो उनका भी बन्ध या वध कर देना चाहिए । उत्पथ में गए हुए का शासन करना ही पड़ता है (अयो० सर्ग २१ । १—१३) ।' कौशल्या ने राम से कहा—'हे तात, तुमने लक्ष्मण की बात सुनी । जो धर्मानुकूल जान पड़े, करो । परन्तु धर्मज्ञ राम को लक्ष्मण के झटपट राज्यहरण का यह प्रस्ताव बिल्कुल पसन्द न आया । उन्होंने समझाया—'हे लक्ष्मण, तुम्हारे स्नेह को मैं जानता हूँ । इस अनार्य बुद्धि को दूर करो ।'

---

* **अयोध्याकाण्ड, सर्ग २०—२१ ।**

वसिष्ठ जैसे शान्त और सदा एक रस रहनेवाले व्यक्ति भी, कैकेयी जब औचित्य भुलाकर सीता को वल्कल पहनाने लगती है, रो पड़ते हैं। वे कहते हैं—'हे कुलपांसिनी' दुर्बुद्धि, राजा को ठगकर तुम मर्यादा भूल गई हो। सीता वन को नहीं जायँगी, केवल राम के लिए ही तो वनवास हुआ है। गृहस्थ-आश्रम स्वीकार करनेवालों के लिए स्त्री उनकी प्रतिनिधि और साक्षात् अपना आपा है। इसलिए सीता राम की जगह गद्दी पर बैठेंगी।' (अयो० ३७।२२-२४)।

वसिष्ठ ने बात तो धर्मशास्त्र के अनुकूल कही। मनु ने भी कहा है—'यो भर्ता सा स्मृतांगना', जो पति है वही पत्नी है। पर जीवन का जो सत्य है, वह क़ानून की बारीकियों का मुँह नहीं जोहता। धर्मबन्ध की दृष्टि से वसिष्ठ का प्रस्ताव राम को और स्वयं सीता को भी मान्य नहीं हो सका।

वाल्मीकि मनुष्य को मनुष्य करके जानते हैं। मनुष्य कैसा ही पूर्ण क्यों न हो, उसमें निर्बलता के क्षण आ ही जाते हैं। सीता के अपहरण के बाद राम के धैर्य का बाँध टूट जाता है। वह क्रोध के वशीभूत होकर अपनी सुध-बुध भूल जाते हैं। 'हे लक्ष्मण, यदि सीता कुशलपूर्वक मुझे न मिलीं, तो त्रिलोकी को मृत्यु के मुख में पहुँचा दूँगा। मेरे बाणों से आज सारा जगत् मर्यादा के बिना अस्तव्यस्त हो जायगा। हे लक्ष्मण, जिस प्रकार जरा और मृत्यु, काल और विधाता, टाले नहीं टलते, उसी प्रकार मेरा क्रोध अनिवार्य है।' राम के अदृष्ट-पूर्व क्रोध को देखकर लक्ष्मण उन्हें शान्त करते हैं। 'राजाओं को युक्तदण्ड अर्थात् अपराध के अनुसार दण्ड देनेवाला होना चाहिए। पहले मृदु और दान्त होकर अब क्रोध के कारण अपनी प्रकृति को छोड़ देना आपको शोभा नहीं देता। यदि आप-जैसे धीर पुरुष भी इस दुःख को न सह सकेंगे, तो क्या सामान्य और अल्प सत्त्ववाले व्यक्ति सह सकेंगे? संसार में किसको आपत्तियाँ नहीं आतीं? यह लोक का स्वभाव ही है। पर आपके-जैसी बुद्धि रखनेवाले प्रज्ञावान् पुरुष दैव के सामने शोक नहीं करते। जगत् की माता सर्वलोकनमनस्कृता जो भूमि है वह भी कंप से विचलित हो सकती है, पर धीर पुरुष धर्म से विचलित नहीं होते।' †

† **अरण्यकांड, सर्ग ६४–६६**

वस्तुतः सत्य ही जिसका दूसरा नाम है, ऐसा धर्म पृथ्वी और आकाश का आधार है।

सत्येनोत्तभिता भूमिः सत्येनोत्तभिता द्यौः।

(अथर्व०)

धर्म की कल्पना को यहाँ के विचारकों ने उसी शाश्वत मूल पर प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया है। जिस प्रकार पर्वत, नदियाँ आकाश और नक्षत्र प्रकृति में ध्रुव हैं, उसी प्रकार सत्य भी ध्रुव है। इस विषय में वाल्मीकि का दृष्टिकोण शुद्ध भारतीय है।

वाल्मीकि और राष्ट्र

वाल्मीकि के अनुसार राजा की गद्दी राष्ट्र के कल्याण का हेतु है। प्रजाओं का न्याय और धर्म से परिपालन यही राजा का प्रधान कर्त्तव्य है। राजा ही साधु और असाधुओं को अलग-अलग रखता है। राष्ट्र और लोक-पक्ष के समर्थन में वाल्मीकि का मत ऊपर लिखा जा चुका है। वाल्मीकि अराजक राष्ट्र को एक क्षण के लिए भी नहीं सह सकते। अराजक राष्ट्र घोर जंगलीपन है, जिसमें सब प्रकार की मर्यादाओं का लोप हो जाता है। अराजक राष्ट्र के वर्णन में वाल्मीकि ने एक गीत दिया है, वह संस्कृत साहित्य में अद्भुत है, उसीसे उनके राष्ट्रीय आदर्श का सम्यक् परिचय मिलता है—

अराजक राष्ट्र विनाश को प्राप्त हो जाता है।

अराजक जनपद में मेघ दिव्य जल से पृथ्वी को नहीं सींचते।

अराजक जनपद में बीज की मूठें खेतों में नहीं बखेरी जातीं।

अराजक देश में पुत्र पिता के और स्त्री पति के वशीभूत नहीं रहती।

अराजक राष्ट्र में न धन रहता है, न स्त्री। सत्य अराजक स्थान में कहाँ रह सकता है?

अराजक देश में मनुष्य सभा नहीं कर पाते, प्रसन्न होकर उद्यान और घर नहीं बनवा सकते।

अराजक देश में यज्ञ करनेवाले ब्राह्मण व्रत ग्रहण करके सत्रों में नहीं बैठ पाते।

अराजक देश से यज्ञशील धनी ब्राह्मण भी महायज्ञों में रत्नों में पूर्ण पूरी दक्षिणा नहीं देते।

अराजक देश में राष्ट्र की वृद्धि करनेवाले नट और नर्तकों से युक्त समाज और उत्सव नहीं हो पाते।

अराजक देश में व्यवहार करनेवालों के मनोरथ पूरे नहीं होते। कथाप्रिय लोग कथा कहनेवालों के साथ प्रेम नहीं रखते।

अराजक देश में सायंकाल के समय कुमारियाँ स्वर्ण के अलंकार पहनकर उद्यानों में क्रीड़ा के लिए नहीं जा पातीं।

अराजक देश में धनी लोग, जो कृषि और गोरक्षा से जीविका करते हैं, सुरक्षित रहकर घर के किवाड़ खोलकर नहीं सो सकते।

अराजक देश में शीघ्रगामी वाहन और यानों पर स्त्री पुरुष वन में घूमने नहीं जा सकते।

अराजक देश में साठ वर्ष के जवान हाथी घंटे बाँधकर राजमार्गों पर झूमते हुए नहीं निकलते।

अराजक देश में बाण चलाने का अभ्यास करनेवाले योद्धाओं का टंकार-घोष नहीं सुनाई पड़ता

अराजक देश में दूर की यात्रा करने वाले वणिक् बहुत सी पण्य-सामग्री लेकर कुशलपूर्वक मार्गों में नहीं चल सकते।

अराजक देश में आत्मा से आत्मा का ध्यान करनेवाले, अकेले विचरनेवाले, जहाँ साँझ हो वहीं बसेरा करनेवाले मुनि कुशल से नहीं रह पाते।

अराजक देश में योग और क्षेम का नाश हो जाता है। अराजक राष्ट्र की सेना शत्रुओं से युद्ध नहीं करती।

अराजक देश में अलंकृत मनुष्य प्रसन्न अश्वों और रथों पर चढ़कर नहीं चल सकते।

अराजक देश में शास्त्रविशारद मनुष्य बनों और उपवनों में शास्त्र की चिन्ता करते हुए एक दूसरे से नहीं मिलते।

अराजक देश में जितेन्द्रिय पुरुष माला, मिष्ठान्न और दक्षिणा से देवताओं की पूजा नहीं कर सकते।

अराजक देश में राजकुमार लोग चन्दन और अगुरु से देह सजाकर वसन्त में धान की तरह सुशोभित नहीं होते।

जैसे बिना जल के नदी, बिना घास के वन और बिना गोपाल के गौएँ होती हैं, वैसे ही बिना राजा का राष्ट्र होता है।

अराजक देश में मनुष्य का कुछ भी अपना नहीं होता। जल में मछलियों के समान मनुष्य एक दूसरे को हड़पने लगते हैं।

वर्णाश्रम की मर्यादाएँ जिन्होंने तोड़ दी हैं, जिन्हें पहले राजदण्ड दिया जाता था, वे नास्तिक लोग निडर होकर अराजक राष्ट्र में प्रभावशाली बन जाते हैं।

जिस प्रकार शरीर के हित-अहित की प्रवर्त्तक आँख है, उसी प्रकार राष्ट्र में जो सत्य और धर्म हैं, उनका प्रवर्त्तक राजा है।

राजा सत्य और धर्म है, राजा कुलीनों का कुल है। राजा माता-पिता और राजा ही हितकारी है।

अन्त में महाकवि राष्ट्र और राजा की महिमा और कर्त्तव्य को सर्वोच्च पद पर पहुँचा देते हैं:—

यदि साधु-असाधुओं का पृथक् विभाग करनेवाला राजा इस लोक में न होता, तो जैसे दिन अन्धकार में विलीन हो जाता है, वैसे ही सब कुछ तम में डूब जाता।*

*** अहो तम इवेदं स्यान्न प्रज्ञायेत किंचन।
राजा चेन्न भवेल्लोके विभजन्साध्वसाधुनी॥**

(अयो० ६७। ३६)

४. महर्षि व्यास

व्यास भारतीय ज्ञान गंगा के भगीरथ हैं। जिस प्रकार इस देवनिर्मित देश को किसी पुरायुग में भगीरथ ने अपने उग्र तप से गंगावतरण के द्वारा पवित्र किया था, उसी प्रकार पुराण मुनि वेदव्यास ने भारतीय लोकसाहित्य के आदि युग में हिमालय के बदरिकाश्रम में अखंड समाधि लगाकर अध्यात्म, धर्मनीति और पुराण की त्रिपथगा गंगा का पहले अपनी आत्मा में साक्षात्कार किया और फिर साहित्यिक साधना के द्वारा देश के आर्ष वाङ्मय को उससे पवित्र किया। ज्ञानरूपी हिमवान् के उच्च शिखरों पर बहने वाले दिव्य जलों को मानों वेद-व्यास भूतल पर ले आए। उन्होंने लोक साहित्य को वेग की प्रेरणा दी। उनके द्वारा पूर्वजों के ज्ञान और चरित्रों से गुम्फित सरस्वती लोक के कंठ में आ विराजी।

जिस प्रकार भारतवर्ष की प्राकृतिक सम्पदा का अपरिमित विस्तार है, उसी प्रकार कालक्रम से वेदव्यास की साहित्यिक सृष्टि भी लोक के देश व्यापी जीवन में अनन्त बनकर समा गई है। एक प्रकार से सारे राष्ट्र का जीवन ही आज व्यास रूपी महान् वट वृक्ष की छाया के आश्रय में आ गया है। व्यास भारतवर्षीय ज्ञान के सर्वोत्तम प्रतिनिधि बन गए हैं। यदि भारतीय ज्ञान की उपमा एक ऐसे रत्न दी जाय जिसकी चमक के सहस्रों पहलू हों, तो व्यास की शत साहस्री संहिता पूरी तरह से उस महार्घ मणि का स्थान ले सकती है। जैसे भगवान् समुद्र और हिमवान् गिरि दोनों रत्नों की खान है, वैसे ही 'भारत' भी रत्नों से परिपूर्ण है।[१] व्यास की प्रतिभा की स्तुति में इससे अधिक और क्या कहा जा सकता था...

---

१. यथा समुद्रो भगवान्यथा हिमवान् गिरिः।
ख्यातावुभौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते॥

(आदि पर्व ५६, २७ श्रीसुकथनकर सम्पादित पूना संस्करण)

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ॥

(आदि पर्व ५६, ३३)

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक जीवन के चार पुरुषार्थों से संबंध रखनेवाला जो कुछ ज्ञान महाभारत में है, वही दूसरी जगह है, जो यहां नहीं है वह कहीं और भी न मिलेगा।

जीवन चरित्र

पुराविदों के प्रयत्न करने पर भी व्यास हमारे ऐतिहासिक तिथिक्रम के शिकंजे में पूरी तरह नहीं बांधे जा सके। विक्रम से तीस शताब्दी पूर्व से लेकर पन्द्रह शताब्दी पूर्व तक के किसी युग में हमारे व्यास का उदय हुआ। पुराणों के अनुसार ब्रह्मा से लेकर कृष्ण द्वैपायन तक अठारह व्यासों की परम्परा मिलती है। ये मुख्यतः पुराणों के प्रवचनकर्त्ता रहे होंगे। पर जब तक सब पुराणों के सुसमीक्षित संस्करण तैयार न हो जाँय तब तक इस अनश्रुति का पूरा मूल्य नहीं आंका जा सकता। हाँ, जय नामक उत्तम इतिहास के रचने वाले अमितौजा महामुनि व्यास, जिनका नाम अठारह व्यासों के अन्त में आता है, अवश्य ही हमारे चिपरिचित वे पुराण मुनि है जो कुरुपांडव युग में इस पृथिवी पर बदरिकाश्रम और हस्तिनापुर के बीच आते जाते थे। हिमालय के रम्य शिखर पर जहाँ नर-नारायण नामक दो पर्वत है, वहाँ भागीरथी के समीप विशाला बदरी नामक स्थान में व्यास ने अपना आश्रम बनाया था। आज भी बदरी नारायण के इस प्रदेश के दर्शन के लिए प्रति वर्ष सहस्रों यात्री जाते है। विशाला बदरी के समीप ही आकाश गंगा है जहाँ व्यास का चंक्रमण (घूमने का) स्थान था। यह स्थान हरिद्वार से लगभग एक मास की पैदल यात्रा के बाद आता था। उसी हिमवत् पृष्ठ पर व्यास का आश्रम था, जिसके कण-कण में दिव्य तप की भावना ओत प्रोत थी। वहाँ व्यास ने चार प्रमुख शिष्यों को वैदिक संहिताओं का अध्ययन कराया। पैल ने ऋग्वेद, वैशम्पायन ने यजुर्वेद, जैमिनि ने सामवेद और सुमन्तु ने अथर्ववेद की संहिताओं का पारायण किया। कहा जाता है कि स्वयं व्यास ने अत्यधिक परिश्रम से समस्त वैदिक मंत्रों का वर्गीकरण करके चार संहिताओं का

विभाग किया, और इस साहित्यिक साधना के कारण ही उनका नाम वेदव्यास प्रसिद्ध हुआ।[१] इसी आश्रम में कुरु-पांडवों के युद्ध की समाप्ति पर व्यास जी ने तीन वर्षों के संतत उत्थान के बाद महाभारत नामक श्रेष्ठ काव्यात्मक इतिहास की रचना की।

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम्॥

(आदि पर्व ५६, ३२)

यह महाभारत पांचवां वेद कहलाता है और इसे व्यास ने अपने पांचवें शिष्य रोमहर्षण को पढ़ाया था। इसका एक नाम कार्ष्ण वेद भी है। वस्तुतः व्यास का जन्म नाम कृष्ण था। महाभारत की राजनीति के युग में दो कृष्ण प्रसिद्ध हुए, एक वासुदेव कृष्ण और दूसरे द्वैपायन कृष्ण। यमुना नदी के एक द्वीप में जन्म होने के कारण ये द्वैपायन कहलाए। चेदि देश के राजा वसु उपरिचर के वीर्य से हस्तिनापुर के पास, जहाँ एक टापू था, सत्यवती का जन्म हुआ। जन्मकाल से ही यमुनातीरवासी दाशराज ने उसका पालन पोषण किया था। सत्यवती नामक यह कन्या यमुना के पास नाव चलाती हुई प्रथम यौवन के समय योगी-पराशर मुनि के संयोग से व्यास की माता बनी। इसी सत्यवती के साथ आगे चलकर राजा शन्तनु ने विवाह किया। व्यास की माता सत्यवती गंगा पुत्र भीष्म की सौतेली मां थी, अतएव व्यास और पितामह भीष्म का सम्बन्ध अत्यन्त निकट था। सत्यवती के पुत्र विचित्रवीर्य निस्सन्तान ही मृत्यु को प्राप्त हुए थे। उनके बाद कुरुकुल अनपत्यता के कारण डूबने लगा, तब अपनी माता सत्यवती का कहना मानकर व्यास ने विचित्रवीर्य की स्त्रियों से धृतराष्ट्र और पांडु नामक दो पुत्र उत्पन्न किए। इसी अवसर पर एक दासी के गर्भ से विदुर उत्पन्न हुए। आम्बिकेय धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि कौरव और कौशल्यानन्दन पांडु के पुत्र युधिष्ठिरादि पंच पांडव हुए। व्यास जी ही इस वंश के बीज वपन

---

१. **यो व्यस्य वेदांश्चतुरस्तपसो भगवानृषिः।**
लोके व्यासत्वमापेदे कार्ष्ण्यात्कृष्णत्वमेव च॥

(आदि पर्व ६६, १५)

करने वाले हुए। अतएव जन्मपर्यन्त हस्तिनापुर के राजनीतिक उतार-चढ़ाव के साथ उनका घनिष्ठ संबंध बना रहा। पुत्रों के जन्म के बाद व्यास ने हस्तिनापुर के पास सरस्वती नदी के किनारे भी एक आश्रम बना लिया था। वहाँ से वे हस्तिनापुर आते रहते थे। जिस समय पांडु की मृत्यु के बाद पांडव हस्तिनापुर आए और पांडु का दाह-संस्कार हुआ उस समय व्यास वहाँ मौजूद थे। व्यास ने माता सत्यवती को सलाह दी कि अब तुम हस्तिनापुर छोड़कर बन में जा योग में चित्त लगाओ। कौरव पांडवों की अस्त्र परीक्षा के समय भी व्यास हस्तिनापुर में थे। उन्होंने बनवास के समय एकचक्रा नगरी में पांडवों से भेंट करके उन्हें द्रौपदी के स्वयंवर में सम्मिलित होने की सलाह दी। व्यास जी का अमोघ मंत्र गाढ़े समय में सदा पांडवों के साथ रहा। व्याह के पश्चात् जब पांडवों को राज मिला तब भी राजसूय यज्ञ की सूझ व्यासजी से ही उनको प्राप्त हुई। इस यज्ञ में आपसी डाह के ऐसे बानक बने जिनसे आगे युद्ध अवश्यम्भावी जँचने लगा। व्यास जी युधिष्ठिर को क्षत्रियों के भावी बिनाश की सूचना देकर स्वयं कैलाश पर्वत की यात्रा पर चले गए।[1] इधर पांडवों ने जुए में हारकर फिर वन की राह ली। व्यास जी को जब यह समाचार मालूम हुआ तब उन्होंने आकर धृतराष्ट्र को समझाया कि पांडवों के साथ न्याय करें, और स्वयं द्वैतवन में जाकर पांडवों से मिले। वहाँ उन्होंने युधिष्ठिर को प्रतिस्मृति नामक सिद्ध विद्या दी और उन्हें दूसरी जगह जाकर रहने की सम्मति दी। पांडव द्वैतवन को छोड़कर सरस्वती के किनारे काम्यकवन में रहने लगे। उनके वनवास के बारह वर्ष समाप्त हो रहे थे। व्यास जी फिर उनके पास पहुँचे और युधिष्ठिर को नीतिमार्ग और आत्मसंयम के धर्म का उपदेश देकर अपने आश्रम को चले गए। तेरहवें वर्ष के बाद जब युधिष्ठिर ने अपना राज्य वापस मांगा तब व्यास ने फिर धृतराष्ट्र को समझाया। परन्तु काल के सामने बूढ़े और अन्धे राजा धृतराष्ट्र तथा

---

१. **स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि कैलासं पर्वतं प्रति।**
अप्रमत्तः स्थितो दान्तः पृथिविं परिपालय॥
(सभापर्व ४६, १७)

मनीषी वेदव्यास का एक भी उपाय सफल न हुआ। व्यास अपने ज्ञान चक्षु से काल की महिमा जानते थे। काल की दुर्धर्ष सत्ता में विश्वास उनके दर्शन का अभिन्न अंग था जिसे उन्होंने कई जगह महाभारत में प्रकट किया है...

कालमूलमिदं सर्वं जगद्बीजं धनञ्जय।
काल एव समादत्ते पुनरेव यदृच्छया।
स एव बलवान् भूत्वा पुनर्भवति दुर्बलः।

(मौसल पर्व ८, ३३, ३४)

काल सबकी जड़ है, काल संसार के उत्थान का बीज है। काल ही अपने वश में करके उसे हड़प लेता है। कभी काल बली रहता है, कभी वही निर्बल हो जाता है। समन्तपंचक के सर्व क्षत्रियों का क्षय करनेवाले युद्ध को अपनी आँखों से देख कर वेदव्यास ने काल की महिमा के ध्यान से ही अपने चित्त को धैर्य दिया। जिस समय कुरुक्षेत्र में दोनों ओर से भारतीय सेनाएं आ डटीं तब भी व्यास जी ने धृतराष्ट्र को समझाकर युद्ध रोकना चाहा। पर उनकी एक न चली। युद्ध के दिनों में भी वह जब तब अपने मंत्र से स्थिति को सँभालते रहे और युद्ध के अन्त में शोकमग्ना धृतराष्ट्र को और युधिष्ठिर को समझा बुझाकर धैर्य बँधाया। युधिष्ठिर को राज्य के लिए तैयार करके नीति, धर्म और अध्यात्म की शिक्षा के लिए भीष्म के पास भेजा और अश्वमेध करने की प्रेरणा की। युद्ध के सोलह वर्ष बाद वह धृतराष्ट्र से फिर हिमालय में जाकर मिले और तप करने की सलाह देकर अपने आश्रम को चले गए। जब सरस्वती नदी के तीर पर बसने वाले आभीर गणों (हरियाने के दस्युओं) ने वृष्णि वंश की स्त्रियों को अर्जुन के देखते-देखते लूट लिया, तब शोक और अपमान से भग्न हृदय अर्जुन अन्तिम बार व्यास के दर्शन को गए। व्यास ने उन्हें कालचक्र के उत्थान और पतन का उपदेश देकर बिदा किया। घटनाओं के झंझावात में भी क्षोभरहित स्थिति के प्रतीक वेदव्यास हैं।

ग्रंथ परिचय

व्यास को वेदान्तसूत्रों का कर्त्ता माना जाता है। वेदान्तसूत्रों का नाम भिक्षुसूत्र भी है। पाणिनि की अष्टाध्यायी से विदित होता है कि भिक्षुसूत्र के

रचयिता पाराशर्य थे। पराशर के पुत्र होने के कारण व्यास का ही एक नाम पाराशर्य था। बदरी आश्रम में रहने के कारण व्यास का दूसरा नाम बादरायण मुनि भी था और इसी कारण कभी-कभी वेदान्तसूत्रों को बादरायणसूत्र भी कहते हैं। पाणिनि के शास्त्र में जो ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है उसको प्रामाणिक मानते हुए यह विश्वास करने के लिए पर्याप्त हेतु है कि वेदान्तसूत्रों की रचना वेदव्यास ने ही की हो। वेदान्तसूत्र उपनिषदों के अध्यात्मज्ञान का निचोड़ है। कहा जाता है कि वेदव्यास ने अपने पुत्र शुक को मोक्षशास्त्र का अध्ययन कराया था। सम्भव है, बादरायण सूत्रों की रचना में यही हेतु रहा हो।

परन्तु जो ग्रन्थराट् व्यास की कीर्ति का शुभ्र जयस्तम्भ है वह महाभारत है। महाभारत में व्यास ने अपनी अमित बुद्धि से अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र को भारतीय कथा के साथ-साथ बड़े सुन्दर ढंग से सजाकर सदा के लिए आर्य जाति के विस्तृत ज्ञान और लौकिक जीवन का रूप खड़ा कर दिया है।

अर्थशास्त्रमिदं पुण्यं धर्मशास्त्रमिदं परम्।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामित बुद्धिना।

[आदिपर्व ५६ । २१]

महाभारत सच्चे अर्थों में प्राचीन भारतवर्ष का विश्वकोष है। संसार के साहित्य में महाभारत एक दिग्गज ग्रन्थ है। इसकी तुलना में यूनान के इलियड और ओडेसी अथवा आइसलैंड और स्कैंडिनेविया के प्राचीन एड्डा और सागा, जिनमें उत्तराखंड का बचा-खुचा गाथा शास्त्र[1] सुरक्षित है, बहुत पीछे छूट जाते है। महाभारत जहाँ एक ओर प्राचीन नीति और धर्म का अक्षय भंडार है, वहीं दूसरी ओर इसमें भारतीय गाथाशास्त्र की भी अनन्त सामग्री है। महाभारत को वेदव्यास ने अतीत की घटनाओं के नीरस क्रोडपत्र के रूप में नहीं रचा, अन्यथा वह अब से कहीं पहले अन्य देशों के भारी भरकम ऐतिहासिक पोथों की तरह धूलि-धूसरित हो गया होता। महाभारत एक जीते-जागते चित्रपट के रूप में सदा हमारे सामने रहा है, जिसके अर्थ का व्याख्यान अनगिनत सूत

[1] **नार्डिक माइथालोजी।**

अपने-अपने आसनों से करते रहे हैं। आज भी व्यासगद्दी का उत्तराधिकार भारत के अपने साहित्यिक जगत् में अक्षुण्ण बना हुआ है। आकाश में उड़ने वाले ज्ञान को पृथिवी के मानव की पहुँच में किस तरह लाया जा सकता है, इस प्रश्न का समाधान भारतवर्षीय व्यासगद्दी है। पश्चिम को यह शिकायत है कि उसका नया ज्ञान विशेषज्ञों के हाथ में पड़कर लोक से दूर जा पड़ा है। जीवन मरण एवं सृष्टि और प्रलय के संबंध में जो विज्ञान के संशोधन हैं उनको जन साधारण के जीवन में ढालने के साधन का विज्ञान के पास अभाव है। परन्तु भारतवर्ष में सार्वजनिक शिक्षा के चमत्कारी विधानों में व्यासगद्दी से कही जानेवाली कथाओं के द्वारा विशेषज्ञ और लोक के बीच की खाई पर पुल बनाने का सफल प्रयास होता आया है। इसी कारण रामायण, महाभारत और पुराणों के महान् चरित्रों की अमर कथाएं देश के कोने-कोने में फैली हुई है। अपने पूर्वपुरुषों के चरित्रों को सुनने की जो हमारे मन में स्वाभाविक उमंग है, वही हमारा सबसे उत्कट इतिहास प्रेम है। जनमेजय के शब्दों में हम कह सकते हैं—

'पूर्वपुरुषों के महान् चरित्र को सुनते-सुनते मैं कभी तृप्त नहीं होता।'[1] उस स्वाभाविक कौतुक को तृप्त करने का राष्ट्रीय साधन महाभारत ग्रन्थ था। पराक्रमी द्रोण, भीष्म, अर्जुन, भीम, कर्ण और दुर्योधन के महावीर्य भुजदंडों की शक्ति का ओज जो वेद व्यास ने अपने श्लोकों में भरा है, उससे अब भी हमारा वीर हृदय उछलने लगता है।

भारत महाभारत

महाभारत को शत साहस्री संहिता कहा गया है। हरिवंश को मिलाकर महाभारत के १८ पर्वों में एक लाख श्लोक होने का अनुमान किया जाता है। पर यह निश्चय है कि वेदव्यास के समय में इस ग्रन्थ का यह बृहत् रूप न था। पाणिनि की अष्टाध्यायी के एक सूत्र [६ । २ । ३८] में महाभारत नाम आता है। उससे पहले आश्वलायन गृह्यसूत्र में भारत और महाभारत दोनों का एक

---

[1] **नहि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत्।**
[आदि० ५६ । ३]

ही वाक्य में अलग-अलग उल्लेख है। वास्तविक कुरु पांडवों का वीरगाथा ग्रन्थ भारत ही था, जिसमें चौबीस हजार श्लोक थे और इस कारण जिसका नाम 'चतुर्विंशति साहस्री भारत संहिता' प्रसिद्ध था। इसकी अन्तःसाक्षी स्वयं महाभारत में मौजूद है—

चतुर्विंशति साहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः।

[आदि १ । ६१]

व्यास का मूल भारत बिना उपाख्यानों के था पर वर्तमान ग्रन्थ में सैकड़ों उपाख्यान यथास्थान पिरो दिये गए हैं। व्यास ने तीन वर्ष के सतत परिश्रम [उत्थान] से २४००० श्लोकों में भरतवंश के इतिहास और युद्ध का मूल काव्य रचा। उसको रोमहर्षण सूत ने यथावत् पढ़ा। पुनः व्यासशिष्य वैशम्पायन ने जनमेजय के यज्ञ में उसका पारायण किया। इस समय तक ग्रन्थ का रूप शुद्ध बना रहा। महाभारत का तीसरा संस्करण भार्गववंशी कुलपति शौनक के बारह वर्षों के यज्ञ में देखने में आता है। यहाँ वक्ता और श्रोता दोनों नैमिषारण्य की सघन छाया में शान्ति के साथ पर्याप्त अवकाश लेकर बैठे थे। इस समय भारत का उपबृंहण महाभारत के रूप में हो चुका था, चतुर्विंशति साहस्री संहिता बढ़कर शतशाहस्री बन गई थी। उसमें ययाति[1] और परशुराम जैसे बड़े-बड़े उपाख्यान स्वच्छन्दता से मिला लिए गए। बहुत सी कथाएं, जिन्हें हम बौद्ध जातकों तक में पाते हैं, लोक की चलती फिरती संपत्ति थीं, वे भी महाभारत में मिला ली गईं। अनुशासन पर्व की पुष्करहरण की कथा [अ० ६३ । ६४] और भिसजातक [सं० ४८८] एक ही है। अनागत विधाता आदि तीन मछलियों की कहानी या राजा ब्रह्मदत्त और पूजनी चिड़िया की बाल कहानियां भी महाभारत के भीतर आ गईं। इसके अतिरिक्त शिव, विष्णु, सूर्य, देवी और गणपति की बढ़ती हुई भक्ति के आवेश में सम्प्रदायविदों ने महाभारत को

---

[1] **व्याकरण साहित्य में इन उपाख्यानों का उल्लेख 'यायात' और 'आधिराम' नामों से किया गया है। [काशिका सूत्र ६ । २ । १०३]**

अपनी कृपा का लक्ष्य बनाया। परन्तु इन सबसे बढ़कर अध्यात्म, धर्म और नीति के अनेक संवाद महाभारत में समय-समय पर मिलते गए। इन सब सम्मिश्रणों के कारण मूल ग्रन्थ का कायापलट हो गया। कुछ समय तक तो भारत और महाभारत का अस्तित्व अलग-अलग पहचानने में आता रहा, परंतु जैसा स्वाभाविक था, आगे चलकर केवल महाभारत ही आर्य संस्कृति के सबसे महान् ज्ञान-विज्ञान कोष के रूप में रह गया।

पूना संस्करण

प्रश्न यह है कि क्या फिर मूल भारत ग्रन्थ को महाभारत में से अलग किया जा सकता है। क्या यह संभव है कि महाभारत के भीतर कालक्रम से जमी हुई विभिन्न साहित्यिक तहों को फिर से उलटकर हम कुछ उस पर्दे को हटा सकें जिसके पीछे नवीन ने प्राचीन भाग को छिपा रक्खा है। यह प्रश्न हमारे राष्ट्रीय पांडित्य की कसौटी है। हर्ष की बात है कि यह भगीरथ कार्य पूना के 'भांडारकर प्राच्य विद्या संस्थान' की तरफ से आज लगभग बीस वर्षों से हो रहा है। महाभारत के इस संस्करण में जहाँ तक मानवी बुद्धि और परिश्रम के लिए सम्भव है, वहाँ तक महाभारत के उस मूल रूप का, यथासम्भव प्राचीनतम उद्धार करने का प्रयत्न किया गया है। डा० सुकथनकर इस कार्य के प्राण थे। इस दिशा में उनका 'भृगु और भारत'[1] शीर्षक बृहत् निबन्ध स्तुत्य है। उससे यह ज्ञात होता है कि भृगुवंशी ब्राह्मणों के द्वारा किए गए संपादन के फलस्वरूप शताब्दियों में भारत को महाभारत का स्वरूप प्राप्त हुआ होगा। कुलपति शौनक स्वयं भार्गव थे। भारतवंश से भी पहले उनकी जिज्ञासा भार्गववंश की कथा के लिए प्रकट होती है—

तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम्।

भार्गव शौनक का यह पक्षपात समग्र ग्रन्थ पर पड़े हुए भार्गव प्रभाव का द्योतक है। और्वोपाख्यान (आदि), कार्तवीर्योपाख्यान (वन), अम्बोपाख्यान

[1] **भंडारकर इंस्टीट्यूट की मुखपत्रिका भाग १८, पृ० १, ७६; 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ४९, पृ० १०९-१६२।'**

(उद्योग), विपुलोपाख्यान (शान्ति), उत्तंकोपाख्यान (अश्वमेध) का संबंध भार्गवों से है। आदि पर्व के पहले ५३ अध्याय, जिनमें पौलोम और पौष्य पर्व हैं, भार्गव कथाओं से संबंध रखते हैं। भरतवंश की कथा उसके बाद चली है। शान्ति और अनुशासन पर्वों में जो धर्म और नीतिपरक अंश हैं, वे भी भृगुओं की प्रेरणा के फल हैं। यह सत्य है कि मूल भारतसंहिता के उस शुद्ध रूप का जिसमें उसका आविर्भाव हिमवत् पृष्ठ के बदरी वन में हुआ था, इस समय ठीक-ठीक उद्धार करने का दावा कोई नहीं कर सकता, फिर भी सहस्रों वर्षों की जमी हुई काई को हटाकर जितना भी परिष्कार किया जा सके श्रेयस्कर है। इस दृष्टि से पूना के भारत चिन्तकों का कार्य राष्ट्रीय महत्त्व का है। महामति पुराणज्ञ डा० सुकथनकर इस कार्य में हमारे अर्वाचीन उग्रश्रवा हुए।

साहित्यिक महत्त्व

महाभारत संस्कृत साहित्य का धुरंधर ग्रन्थ है। उसका साहित्यिक तेज सर्वातिशायी है. 'एड्डा' और 'सागाओं' के लिए प्रख्यात लेखक कारलाइल ने लिखा है कि वे इतनी महान् कृतियां हैं कि उन्हें किंचित् स्वल्प कर देने पर शेक्सपियर, दांते और गेटे बन सकते हैं, यही बात हम महाभारत के लिए कह सकते हैं। भास, कालिदास, माघ भारवि, हर्ष की साहित्यिक कृतियां महाभारत के ही अल्प विषयात्मक, रूप हैं। यों भी महाभारत साहित्यिक शैलियों की खान है। उपाख्यान शैली, गल्प शैली, दर्शन और अध्यात्म निरूपण की संवादात्मक शैली, प्रश्नोत्तर शैली (युधिष्ठिर-अजगर और युधिष्ठिर-यक्ष प्रश्न, वनपर्व अ० १८०, ८१, अ० ३१३), केवल प्रश्नात्मक शैली (सभापर्व अ० ५, नारद प्रश्न मुख से राजधर्मानुशासन), नीति ग्रन्थात्मक शैली (विदुरनीति, उद्योग० अ० ३३, ४०) स्तोत्र शैली,[1] सहस्रनाम शैली इस प्रकार वर्तमान महाभारत में साहित्यिक पद्धति के अनेक बीज पाए जाते हैं।

---

१. जैसे महापुरुषस्तव (शान्ति अ० ३३८), कृष्णनाम स्तुति (शा० अ० १६१), भगवन्नाम निरुक्ति (शा० अ० ३४१ और कृष्णस्तवराज (शा० अ० ४७)। स्तोत्र और सहस्रनामों का संग्रह इन्हीं दो पर्वों में अधिक है जो यह संदेहजनक है।

व्यास और राष्ट्र

पर हमारे राष्ट्रीय अभ्युत्थान के लिए महाभारत का विशेष महत्त्व यह है कि वह प्राचीन भूगोल, समाजशास्त्र, शासन सम्बन्धी संस्था, नीति और धर्म के आदर्शों की खान है। वेद व्यास जिस भारत राष्ट्र की उपासना करते थे, भविष्य का हिंदू उसका स्वप्न देखेगा, उनका निम्नलिखित राष्ट्रगीत हमारे इतिहास का सनातन मंगलाचरण होगा—

अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम्।
प्रियमिन्द्रस्य देवस्य मनोर्वैवस्वतस्य च।
पृथोस्तु राजन्वैन्यस्य तथेक्ष्वाकोर्महात्मनः।
ऋषभस्य तथैलस्य नृगस्य नृपतेस्तथा।
कुशिकस्य च दुर्धर्ष गाधेश्चैव महात्मनः।
सोमकस्य च दुर्धर्ष दिलीपस्य तथैव च।
अन्येषां च महाराज क्षत्रियाणां बलीयसाम्।
सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारत भारतम्।[1]

आओ, हे भारत, अब मैं तुम्हें भारत देश का कीर्तिगान सुनाता हूँ। वह भारत, जो इन्द्रदेव को प्रिय है; जो मनु, वैवस्वत, आदिराज पृथु, वैन्य और महात्मा इक्ष्वाकु को प्यारा था; जो भारत ययाति, अम्बरीप, नहुप मुचुकुन्द और औशीनर शिवि को प्रिय था; ऋषभ, ऐल और नृग जिस भारत को प्यार करते थे; और जो भारत कुशिक, गाधि, सोमक, दिलीप और अनेकानेक वीर्यशाली क्षत्रियसम्राटों को प्यारा था; हे नरेंद्र, उस दिव्य देश को कीर्ति कथा मैं तुम्हें सुनाऊंगा।

व्यास ने राष्ट्रीय राजनीति का जो आदर्श रक्खा है वह मनु और वाल्मीकि से मिलता है। वाल्मीकि के 'अराजक जनपद' गीत से मिलता-जुलता व्यास का 'यदि राजा न पालयेत्' (शान्ति० ६८।१, ३०) गीत है। लोक में शान्ति की व्यवस्था राजा का सबसे प्रथम कर्त्तव्य है। धर्म की जड़ राजा

---

१. भीष्मपर्व अ० ९ श्लो० ५, ९। संजय धृतराष्ट्र से कह रहे हैं।

की सुव्यवस्था के बल पर टिकी रहती है। यदि राजा न हो, तो दुष्ट साधुओं को खा डालें, धर्म डूब जाय। वेद कहीं के न रहें। सारी प्रजा अन्धकार में विलीन हो जाय[1]। राष्ट्र के धर्मबन्ध शासन की सुव्यवस्था के अधीन हैं। व्यास के मत में बिना राजा का राष्ट्र मरा हुआ है।

मृतं राष्ट्रमराजकम्। (वन० ३१३।८४)

अराजक राष्ट्र मात्स्य न्याय का शिकार हो जाता है। (शा० १६, १७)। व्यास ने राजा और क्षत्रिय की परिभाषा दी है। जो लोकरंजन करता है वही राजा है (शा० ५६ । ११) जो क्षत्र से बचाता है वही क्षत्रिय (शा० २६। १३८) है। इन्हीं आदर्शों को हमारे इतिहास के स्वर्णयुग में कालिदास ने दोहराया था।[2] भीष्मा ने युधिष्ठिर से कहा—राजा काल को बनाता है, या काल राजा को बनाता है, इसमें तुम कभी संशय मत करना। राजा ही काल को बनाता है—

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम्॥ (शा० ६६ । ६)

'जब राजा भली प्रकार दंडनीति का पालन करता है। तभी सतयुग आ जाता है। राजा का आसन राष्ट्र का ककुद् है। राजा की उस आदर्श आसन्दी की रक्षा में रह कर प्रजा जिस धर्म का पालन करती है उसका एक चतुर्थ अंश राजा को प्राप्त होता है। राजा को अपनी नीति में माली की तरह होना चाहिए, कोयला फूंकने वाले आंगारिक की

---

१. **राजमूलो महाप्राज्ञ धर्मो लोकस्य लक्ष्यते।**
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम्।
न योनिदोषो वर्तेत न कृषिर्न वणिक पथः।
मज्जेद्धर्मस्त्रयी न स्यद्यदि राजा न पालयेत्॥ (शा० अ० ६८)

२. **क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।** (रघुवंश २।५३)
तथैव सो भूदन्वर्थो राजा प्रकृति रंजनात्। (रघु० ४।१२)
अर्थात् रघु प्रकृतिरंजन के कारण सच्चे अर्थों में राजा कहलाए।

तरह नहीं। एक फूलों की चाह में वृक्षों को पोसता है, दूसरा अंगारों के लिए पेड़ों को फूँक डालता है। राजा का शरीर प्रजाएँ हैं। अपने आपको बचाने के लिए भी राजा को प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। प्रजा का भी सर्वोत्तम शरीर राजा ही है। राजा को पुष्ट करके वे अपने आपको बढ़ाती हैं। जो राष्ट्र की कामना करते हैं उनको सबसे पहले लोक की रक्षा करनी चाहिए।' व्यास ने षोडश राजीय पर्व में प्राचीन आर्य राजाओं के आदर्श का स्मरण दिलाया है। राम के राज्य में समय पर मेघ बरसते थे और सदा सुभिक्ष रहता था। दिलीप के राज्य में स्वाध्याय घोष टंकार घोष और दान संकल्प घोष, ये तीन शब्द बराबर सुनाई पड़ते थे। संक्षेप में वेद व्यास के मत के अनुसार लोक का सारा जीवन राजधर्म के आश्रित है। राजधर्म बिगड़ गया तो वेद, धर्म, वर्ण, आश्रम, त्याग, तप, विद्या, सब कुछ नष्ट हुआ समझना चाहिए। (शान्ति पर्व ६३। २८, २९)—

मज्जेत् त्रयी दंडनीतौ हतायां सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विवृद्धाः।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे॥
सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः सर्वाः दीक्षा राजधर्मेषु युक्ताः।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु चोक्ताः सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः॥

व्यास जी उस राजनीतिक नेता का अधिकार नहीं मानते जो स्वयं किसान का जीवन व्यतीत न करता हो—

न नः स समितिं गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत्कृषिम्।
(उद्योग पर्व ३६।३१)

'वह हमारी समिति का सदस्य नहीं बन सकता जो स्वयं कृषि नहीं करता।' जो खेतिहर किसान नहीं है वह नेता धोखे की टट्टी है; जो स्वयं हल की मुठिया नहीं पकड़ता वह कैसा नेता, कहां का नेता, किसका नेता? किसानों के देश के राजनीतिक जीवन की यही एक कसौटी हो सकती थी। उसे ही कई सहस्र वर्ष पूर्व व्यास जी ने लोक धर्म के निचोड़ की तरह पहचान लिया और इतने सरल शब्दों में कह डाला। यहाँ व्यास जी भारत के शाश्वत किसान की भाषा में बोल उठे हैं—जो स्वयं धरती, न जोते वह हमारी संसद् में बैठने योग्य नहीं।'

व्यास और धर्म

व्यास ने जो धर्म का स्वरूप रक्खा है। वह उनका सबसे महान् ऋषित्व या दर्शन है। वे धर्म को स्वर्ग प्राप्ति कराने वाले थोथे कर्मों का जंजाल नहीं मानते। उन्होंने अपने ध्यान से धर्म का एक नई परिभाषा, एक नये स्वरूप का अनुभव किया—

नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः। (उद्योग० १३७।९)

व्यक्ति को, राष्ट्र को, जीवन को, संस्थाओं को, लोक और परलोक सबको धारण करने वाले जो शाश्वत सर्वोपरि नियम हैं, वे धर्म हैं।

धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारण संयुक्तं स धर्म इत्युदाहृतः॥

धर्म स्वर्ग से भी महान् है। लोकस्थिति का सनातन बीज धर्म है। इस दृष्टि से देखने पर धर्म गंगा के ओजस्वी प्रवाह की तरह जीवन के सुविस्तृत क्षेत्र को सिंचित और पवित्र करने वाला अमृत बन जाता है। राजाओं की जय और पराजय आने जाने वाली चीजें हैं। जीवन में सुख और दुःख भी सदा एक से नहीं रहते। पर सम्पत्ति और विपत्ति में भी जो वस्तु एकसी बनी रहती है वह धर्म है। व्यास ने महाभारत संहिता लिखने के बाद उसके अन्त में अपने दृष्टि-कोण और उद्देश्य का निचोड़ चार श्लोकों में दिया है, जिसे भारतसावित्री कहते हैं। उसका अन्तिम श्लोक यह है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्।
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः॥
नित्यो धर्मः सुख दुःखे त्वनित्ये।
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

अर्थात् काम से, भय से, लोभ से, यहाँ तक कि प्राणों के लिए भी धर्म को छोड़ना ठीक नहीं, क्योंकि धर्म नित्य है, सुख और दुःख क्षणिक हैं। इसी तरह जीव भी नित्य है, जन्म और मृत्यु अनित्य हैं। मैं भुजा उठाकर कह रहा हूँ, पर कोई मेरी बात सुननेवाला ही नहीं है। 'धर्म से ही धन और काम

मिलते हैं, उस धर्म का आश्रय क्यों नहीं लेते।' ये भारत सावित्री में व्यास के साक्षात् वचन हैं।

यदि धर्म जीवन को धारण करनेवाला है और धर्म अच्छी चीज़ है तो जीवन भी मूल्यवान् होना चाहिए। व्यास के धर्म में जीवन रोने-धोने या माया समझकर खोने की चीज़ नहीं। उनकी दृष्टि में यह लोक कर्मभूमि है, परलोक फलभूमि होगा। देवदूत ने मुद्गल से कहा—

कर्मभूमिरियं ब्रह्मन् फलभूमि रसौ मता।

(वन० २६१। ३५)

वन में पांडवों के पास जाकर स्वयं व्यास ने यह मत रक्खा था। वे इस लोक में कर्मवाद को मानते हैं। उसके साथ देववाद को भी मानते हैं और दोनों के ऊपर अध्यात्म ब्रह्म या आत्मतत्व में विश्वास रखते हैं। उन्होंने जो दार्शनिक मत रक्खा है उसमें मनुष्य सबके केन्द्र में है। व्यास का यह श्लोक स्वर्ण के अक्षरों में टाँकने योग्य है :

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि
नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्॥

(शान्ति० १८०। १२)

अर्थात् यह रहस्य ज्ञान तुमको बताता हूँ मनुष्य से श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं है। व्यास का यह मानव केन्द्रिक (मैन ऐट दि सेन्टर आव यूनिवर्स) मत हमारे अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञान और सामाजिक अध्ययन में सर्वत्र व्याप्त होता जा रहा है।

व्यास की परिभाषा के अनुसार कर्म मनुष्य की विशेषता है।

प्रकाशलक्षणा देवा मनुष्याः कर्मलक्षणाः।

(अश्व० ४३। २०)

कर्म करने से जो प्रकाश जीवन में आता है उसी से मनुष्य देव बन जाता है। आत्माभिमान के साथ मनुष्य शरीर रखने से ही सारे लाभ प्राप्त होते हैं।

पाणिवाद

व्यास ने मानवी पुरुषार्थ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए इन्द्र के मुख से पाणिवाद का व्याख्यान कराया है। जिनके पास हाथ हैं वे क्या नहीं कर सकते। जिनके हाथ हैं वे ही सिद्धार्थ हैं। जिनके हाथ हैं उनकी मैं सबसे अधिक सराहना करता हूँ। जैसे तुम धन चाहा करते हो, वैसे मैं तो पाँच अँगुलियोंवाले हाथ चाहता हूँ। पाणिलाभ से बढ़कर और कोई लाभ नहीं है [1]। जैसा कर्म किया जाता है वैसा ही लाभ मिलता है, यही शास्त्रों का निचोड़ है—

यथा कर्म तथा लाभ इति शास्त्रनिदर्शनम्।

(शांति० २७६। २०)

किन्तु धनागम धर्म से होना चाहिए। व्यास जी के मन में धर्म का ऊँचा स्थान है, उसके अनुसार न केवल अर्थ वरन् काम और मोक्ष भी धर्म पर आश्रित हैं और यह राज्य भी धर्ममूलक है—

व्यास जी ने नगद धर्म पर बल दिया है। वे कहते हैं—मनुष्य लोक में ही जो कल्याण है उसे मैं अच्छा मानता हूँ (मनुष्य लोके यच्छ्रेयः परं मन्ये युधिष्ठिर, वनपर्व १८३।८८)। व्यास जी की दृष्टि में वह व्यक्ति अधूरा है जो लोक से दूर रहता है। 'जो मनुष्य स्वयं अपनी आंखों से का ज्ञान प्राप्त करता है वही सब कुछ जान सकता है'—

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः।

(उद्योग पर्व ४३।३६)

त्रिवर्गोऽयं धर्ममूलं नरेन्द्र राज्यं चेदं धर्ममूलं वदन्ति।

(वन० ४। ४)

---

[1] **अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणयः।**
अतीव स्पृहये तेषां येषां सन्तीह पाणयः॥
पाणिमद्भ्यः स्पृहास्माकं यथा तव धनस्य वै।
न पाणिलाभादधिको लाभः कश्चन विद्यते॥

(शान्ति पर्व १८०। ११, १२)

व्यास की दृष्टि में लोक संग्रह और लोक धर्म बहुत मूल्यवान् पदार्थ हैं। आजगर मुनि को 'लोक धर्म विधानवित्' अर्थात् लोक धर्म के सिद्धान्त और संगठन का वेत्ता (शा० १७९ । ६) कहा गया है। जो व्यक्ति लोकपक्ष का इतना समर्थक हो, उसे गृहस्थ धर्म का प्रशंसक होना ही चाहिए। व्यास के अनुसार धर्म के द्वारा प्रवृत्त गृहस्थ आश्रम सब आश्रमों में तेजस्वी मार्ग है, वह पवित्र धर्म है जिसकी उपासना करनी चाहिए।[1]

व्यास और अध्यात्म

लोक, गार्हस्थ्य और मनुष्य के लिए जिस महापुरुष के मन में श्रद्धा है, जिसका दृष्टिकोण इन विषयों में इतना मंजा हुआ है, उसका अध्यात्मशास्त्र भी तदनुकूल ही मानव को साथ लेकर चलता है मनुष्य पंचेन्द्रियों से युक्त प्राणी है। इंद्रियाँ ही मानव को देव या असुर बना देती है। व्यास के अध्यात्मशास्त्र का सार इन्द्रियों का निग्रह है—

आत्मनस्तु क्रियोपायो नान्यत्रेन्द्रिय निग्रहात्।

(उद्योग ६९ । १७)

इन्द्रियों को रोकने के सिवाय आत्मा की उन्नति का दूसरा उपाय नहीं है। विषयों की ओर जाती हुई इन्द्रियों को वश में रखने से अध्यात्माग्नि प्रकाशित हो उठती हैं। जिस प्रकार ईंधन के जलने से अग्नि चमक उठती है उसी प्रकार इन्द्रियनिरोध से महानात्मा प्रकाशित होता है। डसने के भाव से सर्प जाने जाते हैं, दम्भभाव से असुर, दानभाव से देव और दमभाव से महर्षि पहचाने जाते हैं (आश्व० अ० २१)। वेदज्ञान का रहस्य सत्य भाषण में है, सत्य का उपनिषद् इन्द्रियदमन है, और दम का फल मोक्ष है—

---

[1] **सर्वाश्रमपदे प्याहुर्गार्हस्थ्यं दीप्तनिर्णयम्।**
पावनं पुरुषव्याघ्र यं धर्मं पर्युपासते॥

(शा० ६६ । ३५)

वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद्दमः ।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत्सर्वानुशासनम् ॥

(शा० २९९ । १३)

आत्मनिरोध के द्वारा जो व्यक्ति जीवन में अपना मार्ग विषयों से भरे हुए जंगल में स्वयं निश्चित करता है, वह अपना ज्ञान औरों पर नहीं बघारता, बल्कि अपने आचार से औरों को उपदेश देता है। बोध्य ऋषि की कही हुई पुरातन गाथाओं को उद्धत करके व्यास ने यही कहा है :—

उपदेशेन वर्तामि नानुशास्मीह कंचन । (शा० १७८ । ६)

मैं अपनी करनी से सिखाता हूँ, 'कथनी से नहीं। वेदव्यास ऋजुभाव के माननेवाले हैं। ऋजुभाव की उपासना ब्रह्मपद की प्राप्ति है, कुटिलता मृत्यु का पद है। इतना ही ज्ञान का सार है, और सब झूठी बकवाद है।[1]

कालधर्म

वेदव्यास के आध्यात्मिक दर्शन में कालधर्म का बड़ा स्थान है। उनकी आँखों ने समंत पंचक में हुए कुरु पाँडवों के दारुण नाश को देखा। बड़े कुशाग्र बुद्धि और कल्याणाभिनिवेशी व्यक्ति इच्छा रहते हुए भी उस क्षय को नहीं रोक सके। यह कालचक्र की ही महिमा है। कर्म के साथ मिलकर काल ही संसार में बहुत तरह के उलटफेर करता है (शा० २१३ । १३) काल के पर्यायधर्म के सामने सब अनित्य ठहरता है, कभी एक को बारी, कभी दूसरे की। महाभारत के अन्त में जो व्यक्ति स्त्री पर्व को देखे, वह इसके सिवाय और क्या कह सकता है—

न च दैव कृतो मार्गः शक्यो भूतेन केनचित् ।
घटतापि चिरं कालं नियन्तुमिति मे मतिः ॥

कोई प्राणी कितनी भी कोशिश करे दैव के रास्ते को नहीं रोक सकता। यह दैव या उत्कट काल विश्व का नित्य विधान है। इसी का नामान्तर सनातन ब्रह्म है।

---

[1]**सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम् ।**
एतावान् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ॥

(आश्व० ११ । ४)

वेदव्यास मानव जीवन की घटनाओं की ऊहापोह करते हुए उनके अन्तिम कारण की खोज में यहीं विश्राम लेते हैं। यह सच है कि मनुष्य विधाता के द्वारा निश्चित संसार के विधान को बदल नहीं सकता, पर वह इतना अवश्य कर सकता है कि उस सर्वोपरि शक्ति के रहस्यों का साक्षात्कार करके जीवन में ऋजुभाव को को अपना ले। वह यह भी कर सकता है कि इन्द्रियों के निरोध और आत्म-चिंतन से आत्म-ज्योति को इसी शरीर में प्राप्त कर ले। यह शरीर मूँज-घास है, आत्मा उसके भीतर की सींक है। जिस प्रकार मूँज से इषीका निकाली जाती है, वैसे ही योगवेत्ता शरीर में आत्मा का साक्षात्कार करते हैं। (आश्व० १९। २२, २३)

व्यास की आज्ञा है कि जय नामक इतिहास सबको सुनना चाहिए। यह धुरंधर ग्रन्थ भारतीय चरित और ज्ञान की पूर्णतम वर्णपट्टिका है। इसके निर्माता की प्रज्ञा सूर्यरश्मियों की तरह विराट् है। सारा भारतराष्ट्र महामुनि वेदव्यास के लिए अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है। हम भी हिमालय के शिलाप्रस्थ पर विराजमान बदरिकाश्रम के पुराण मुनि को प्रणाम करते हैं, जिनके पृथु नेत्रों में हमारे ज्ञान का सारा आलोक समा गया था, जिनका शालस्कन्ध के समान उन्नत मेरुदंड राष्ट्रीय मेरुदंड का प्रतीक था, जिनके चन्दनोक्षित कृष्णशरीर में हमारे शुभ आदर्श मानो राशिभूत होकर मूर्तिमान् हो उठे थे।

---

५. महापुरुष श्रीकृष्ण

भारतवर्ष के जिन महापुरुषों का मानव जाति के विचारों पर स्थायी प्रभाव पड़ा है, उनमें श्रीकृष्ण का स्थान प्रमुख है। आज से लगभग पाँच सहस्र वर्ष पूर्व एक ही समय में दो ऐसे व्यक्तियों का जन्म हुआ, जिनके उदात्त मस्तिष्क की छाप हमारे राष्ट्रीय जीवन पर बहुत गहरी पड़ी है। संयोग से उन दोनों का नाम 'कृष्ण' था। समकालीन इतिहास लेखकों ने दोनों में भेद करने के लिए एक को 'द्वैपायन कृष्ण' कहा है, जिन्हें आज सारा देश महर्षि वेदव्यास के नाम से जानता है, और जिनके मस्तिष्क की अप्रहित प्रतिभा से आज तक हमारे धार्मिक जीवन और विश्वासों का प्रत्येक अंग प्रभावित है। दूसरे देवकी पुत्र वासुदेव कृष्ण थे, जिन्हें हम अब केवल 'कृष्ण' के नाम से पुकारते हैं। कृष्ण की बाल लीलाओं के मनोरम आख्यान, उनके गीताशास्त्र के महान् उपदेश तथा महाभारत के युद्ध में उनके विविध आर्योचित कर्मों की कथाएँ आज घर-घर में प्रचलित है। असंख्य मनुष्यों का जीवन आज कृष्ण के आदर्श से प्रभावित होता है। वस्तुतः हमारे साहित्य का एक बड़ा भाग कृष्ण-चरित्र से अनुप्राणित हुआ है। कृष्ण के जीवन की घटनाएं केवल अतीत इतिहास के जिज्ञासुओं के कुतूहल का विषय नहीं है, वरन् वे धार्मिक जीवन की गति विधि को नियंत्रित करने के लिये आज भी भारतीय आकाश में चमकते हुए आकाश दीप की तरह सुशोभित और जीवित है।

जन्म और बालजीवन

अष्टमी, बुधवार, रोहिणी, इस प्रकार के तिथि वार नक्षत्र योग में आधी रात के समय अपने मामा औग्रसेनि कंस के बन्दीगृह में कृष्ण का जन्म हुआ। इसी एक बात से उस काल के राजनीतिक चक्र का आभास मिल जाता है। जिस व्यक्ति के जन्म के भय से ही उसके माता-पिता की स्वतंत्रता छीन ली गई थी, क्या आश्चर्य यदि उसके जीवन का अधिकांश समय देश के राजनीतिक

कांटों को साफ करने और प्रजा को अत्याचार और उत्पीड़न से मुक्त करने में व्यतीत हुआ हो। उस काल के जो भी उच्छृंखल, लोकपीड़क सत्ताधारी थे, उन सबसे ही एक एक करके कृष्ण की टक्कर हुई। जिस महापुरुष ने योग समाधि के आदर्श को लेकर ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करने का उपदेश दिया हो, जिसका अपना जीवन अविचल ज्ञाननिष्ठा का सर्वोत्तम उदाहरण हो, उसके ही जीवन में कंसनिपात से लेकर यादवों के विनाश तक की कथा अत्यन्त करुण कहानी के रूप में पिरोयी हुई है।

कृष्ण का बालजीवन तो एक काव्य ही है। जन्म से लेकर, अथवा उससे पूर्व ही, उनके संबंध के अतिमानवी चरित्रों का क्रम आरम्भ हो गया था। उनके वृन्दावन छोड़कर मथुरा आने के समय तक ये बाल लीलाएं आकाश में एकत्र होने वाली सुन्दर सुखद मेघमालाओं की भाँति नाना वर्ण और रूपों में संचित होती रहीं। बिना कहे ही उन्हें हम जानते हैं। हमारे देश के बालवर्ग के लिए तो उन कथाओं की रसमय सामग्री अत्यंत प्रिय वस्तु है। यमुना नदी और उसके समीप के पीलु के विटपों पर लहलहाती हुई लताओं के कुंजों में कृष्ण के बाल चरित्रों की प्रतिध्वनि आज भी जीवित काव्य कथाएं हैं। यहीं पर उन्होंने उस मल्ल-विद्या का अभ्यास किया, जिसके कारण आगे चलकर मुष्टिक और चाणूर जैसे पहलवान पछाड़े गए। यमुना के कछारों में ही उस संगीत और नृत्य का जन्म हुआ, जो हमारी संस्कृति की एक प्रिय वस्तु है। यहीं गोवंश की वृद्धि और प्रतिपालन के वे प्रयत्न किए गए, जिनका पुनरुद्धार हमारे कृषि प्रधान देश के लिए आज भी प्राप्तव्य आदर्श के रूप में हमारे सामने है।

राजनीतिक चरित्र

इन रमणीय बालचरित्रों की सुखदायी भूमिका तैयार करने के बाद श्रीकृष्ण ने एक दूसरे ही प्रकार के जगत् में प्रवेश किया। उनका वृन्दावन छोड़कर मथुरा में आना उस जगत् का देहली द्वार है। यहाँ जीवन के कठोर सत्य उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके द्वारा सबसे पहला परिवर्तन शूरसेन जनपद की राजनीति में हुआ। उग्रसेन के पुत्र लोकपीड़क कंस को राज्यच्युत

करके कृष्ण ने उग्रसेन को सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। इस समय वह और उनके बड़े भाई बलराम दोनों किशोरावस्था में पदार्पण कर चुके थे। यमुना के तट पर प्रकृति के विश्वविद्यालय में स्वच्छन्द वायु और आकाश के साथ मिलकर ग्वाल वालों के बीच में उन्होंने जीवन की बड़ी तैयारी कर ली थी, परन्तु मस्तिष्क की साधना का अवसर अभी तक उन्हें नहीं मिल सका था। इस कमी को पूरी करने के लिए वे सान्दीपिनि मुनि के गुरुकुल में प्रविष्ट हुए। कुल पुरोहित गर्गाचार्य और अवन्ती के विद्याचार्य सान्दीपिनि इन दो नामों का भगवान् कृष्ण के साथ बड़ा मधुर संबंध है। अवश्य ही गीता के प्रवक्ता को अपने ज्ञान का प्रथम बीज आर्ष ज्ञान परम्परा की रक्षा करने वाले तपस्वी ब्राह्मणों से प्राप्त हुआ था।

जैसे ही सान्दीपिनि मुनि ने विद्या समाप्त करके कृष्ण को 'सत्यं वद धर्मं चर' वाला अपना अन्तिम उपदेश देकर बिदा किया, वैसे ही परिस्थिति ने उनका संबंध हस्तिनापुर की राजनीति से मिला दिया। वसुदेव और उग्रसेन कृष्ण बलदेव को लेकर कुरुक्षेत्र स्नान के लिए गए हुए थे। वहीं कुन्ती भी पाँडवों के साथ आई थीं। बस यहीं कृष्ण और पाँडवों के बीच उस घनिष्ट संबंध का सूत्रपात हुआ, जिसके कारण आज तक हम योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धर पार्थ का एक साथ स्मरण करते हैं। कंसवध के समय ही कृष्ण अपनी राजनीतिक प्रवृत्ति का परिचय दे चुके थे। हस्तिनापुर की राजनीति के साथ संपर्क होने के बाद उस प्रवृत्ति को और भी उत्तेजना मिली। उन्होंने यह अनुभव किया कि इस समय देश में एक बड़ा प्रबल संगठन उन राजाओं का है, जो भारतीय राजनीति की प्राचीन लोकपक्षीय परम्पराओं के विरुद्ध निरंकुश होकर राजशक्ति का प्रयोग करते हैं और जिनके कारण प्रजा में क्षोभ और कष्ट है। कृष्ण का बालजीवन लोक की गोद में पला थे। वे स्वयं यादव जाति की अन्धक वृष्णि शाखा के, जो एक गणराज्य (रिपबलिक) था, सदस्य थे। इसी कारण उनकी सहानुभूति स्वभावतः लोक के साथ थी। जैसे-जैसे कारण उपस्थित होते गए, एक-एक अत्याचारी शासक से उनका संघर्ष हुआ। मगध की राजधानी गिरिव्रज में बली जरासंध का वध कराकर उन्होंने उसके पुत्र जरासंधि सहदेव का अभिषेक

किया। महाभारतकार ने लिखा है कि उस समय पृथ्वी पर जरासंध का आतंक था, केवल अन्धक-वृष्णि और कुरुवंशी क्षत्रियों ने उसकी अधीनता स्वीकार नहीं की थी। इन्हीं दोनों घरानों ने मिलकर उसका अन्त किया। चेदि जनपद में शिशुपाल का एकछत्र शासन था। शिशुपाल दुर्योधन की राजनीति का समर्थक था। दुर्योधन की शक्ति को निर्बल बनाने के लिए जरासंध और शिशुपाल का वध करके माहिष्मती की गद्दी पर उसके पुत्र धृष्टकेतु को बैठाया। नग्नजित् के पुत्रों को हराकर गंधार देश को अनुकूल किया। बलिष्ठ पांड्यराज को मल्लयुद्ध में अपने वक्षःस्थल की टक्कर से चूर कर डाला। सौभ नगर में शाल्वराज को वशीभूत किया। सुदूर पूर्व के प्राग्ज्योतिष दुर्ग में भौम नरक का निरंकुश शासन था, जिसने एक सहस्र कन्याओं को अपने बन्दीगृह में डाल रखा था। उसकी निर्मोचन नामक राजधानी में सेना सहित मुर और नरक का वध करके कामरूप प्रदेश को स्वतंत्र किया। बाणासुर, कलिंग राज और काशिराज इन सबको कृष्ण से लोहा लेना पड़ा और सभी उनके बुद्धि कौशल के आगे परास्त हुए।

कृष्ण की राजनीतिक बुद्धि अद्भुत थी। अर्जुन ने कहा था कि युद्ध न करने पर भी कृष्ण मन से जिसका अभिनन्दन करें वह सब शत्रुओं पर विजयी होगा। 'यदि मुझे वज्रधारी इन्द्र और कृष्ण में से एक को चुनना पड़े, तो मैं कृष्ण को लूँगा।' आर्य विष्णुगुप्त चाणक्य को भी अपनी बुद्धि पर ऐसा ही विश्वास था। कृष्ण का मंत्र अमोघ था। जहाँ कोई युक्ति न हो, वहाँ कृष्ण की युक्ति काम आती थी। धृतराष्ट्र की धारणा थी कि जब तक रथ पर कृष्ण, अर्जुन और अधिज्य गांडीव धनुष, ये तीन तेज एक साथ हैं, तब तक ग्यारह अक्षौहिणी भारती सेना होने पर भी कौरवों की विजय असम्भव है।

महाभारत का युद्ध भारतीय इतिहास की एक अति दारुण घटना है। इस प्रलयकारी युद्ध में दुर्योधन की ओर से गंधार, बाल्हीक, कम्बोज, केकय, सिन्धु, मद्र, त्रिगर्त (कांगड़ा), सारस्वतगण, मालव, और अंग आदि देशों के क्षत्रिय प्रवृत्त हुए। युधिष्ठिर की ओर से विराट, पंचाल, काशि, चेदि, सृंजय, वृष्णि आदि वंशों के क्षत्रिय युद्ध के लिए आये। ऐसे भयंकर विनाश को रोकने

के लिए कृष्ण से जो प्रयत्न हो सकता था, उन्होंने किया। वे पांडवों की ओर से समस्त अधिकार लेकर संधि के लिए हस्तिनापुर गए[1]। वहाँ उन्होंने धृतराष्ट्र की सभा में जो तेजस्वी भाषण दिया, उसकी प्रतिध्वनि आज भी इतिहास में गुंजायमान है—

कुरूणां पांडवानां च शमः स्यादिति भारत,
अप्रणाशेन वीराणामेतद्याचितुमागतः।

अर्थात् कौरवों और पांडवों में वीरों का नाश हुए बिना ही शान्ति हो जाय, मैं यही प्रार्थना करने आया हूँ।

धृतराष्ट्र ने कहा—'हे कृष्ण, मैं सब समझता हूँ, पर तुम दुर्योधन को समझा सको तो प्रयत्न करो'।

कृष्ण ने दुर्योधन से कहा—'हे तात, शान्ति से ही तुम्हारा और जगत् का कल्याण होगा' 'शमे शर्म भवेत्तात' (उद्योगपर्व १२४, १६)।

दुर्योधन ने सब कुछ सुनकर कहा—

यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विद्धयेदग्रेण केशव,
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पांडवान् प्रति।

(उद्योग० १२७, २५)

अर्थात् 'हे कृष्ण, सुई की नोक के बराबर भी भूमि पांडवों के लिए मैं नहीं छोड़ सकता।' बस यही युद्ध का अपरिहार्य आह्वान था। दैव की इच्छा के सामने भीष्म और द्रोण जैसे नररत्नों की भी रक्षा न हो सकी।

---

[1] 'भारतीय राजनीति की परिभाषा के अनुसार दूत तीन तरह के होते हैं, एक 'विसृष्टार्थ' जो देशकाल की आवश्यकता के अनुसार अपने उत्तरदायित्व पर राजकार्य को बनाने का सब अधिकार रखते हैं; दूसरे 'संदिष्टार्थ' जो संदेश या उक्त वचन को ले जाकर कहते हैं; और तीसरे 'शासनहर' जो लिखित पत्र या 'शासन' ले जाते हैं। पांडवों ने कृष्ण को प्रथम कोटि का अर्थात् विसृष्टार्थ दूत बना कर भेजा था, जिन्हें उनकी तरफ से अपने ही उत्तरदायित्व पर चाहे जिस प्रकार की संधि या निर्णय करने के सब अधिकार प्राप्त थे।

अन्धक वृष्णि गणराज्य के प्रधान

महाभारत में हमें कृष्ण का परिचय एक विशिष्ट रूप में मिलता है। यादव क्षत्रियों की दो प्रधान शाखाएँ अन्धक और वृष्णिसंज्ञक थीं। कृष्ण वृष्णि वंश के थे। अक्रूर अन्धक थे। वृष्णि गणराज्य की ऐतिहासिक सत्ता का प्रमाण एक प्राचीन सिक्के से प्राप्त होता है, जिस पर 'वृष्णि राजन्यगणस्य त्रातारस्य' इस प्रकार का लेख है। इससे ज्ञात होता है कि विक्रम संवत् के प्रारम्भ तक वृष्णि लोगों का शासन एक गण या संघ के रूप में था। पाणिनि की अष्टाध्यायी और बौद्ध साहित्य में भी अन्धक वृष्णियों का उल्लेख है। महाभारत सभापर्व (अ० ८१) से मालूम होता है कि अन्धक और वृष्णियों का एक सम्मिलित संघराज्य था। इसे श्रीयुत जायसवाल ने उनकी 'फेडरल पार्लामेंट' के नाम से पुकारा है। इस सम्मिलित संघ में वृष्णियों की ओर से कृष्ण और अन्धकों की ओर से बभ्रु उग्रसेन संघ प्रधान चुने गए थे। इसीलिए महाभारत की राजनीतिक परिभाषा में कृष्ण को ऐश्वर्य का अर्धभोक्ता राजन्य कहा गया है। संघसभा में राजनीति के चक्र भी चलते रहते थे। वृष्णियों की ओर से संघसभा में आहुक और अन्धकों की ओर से अक्रूर सदस्यों का नेतृत्व करते थे। कभी-कभी दोनों पक्षों से बहुत उग्र भाषण दिए जाते थे। पारस्परिक कलह से खिन्न होकर एक बार कृष्ण भीष्म से परामर्श करने हस्तिनापुर पधारे थे। तब भीष्म ने उनसे यही कहा—'हे कृष्ण, मधुर वचन रूपी एक 'अनायस' शस्त्र है, तुम उसीके प्रयोग से जातियों को वश में करो। समभूमि पर सब चल सकते हैं, पर विषम भूमि पर बोझा ढोना आसान नहीं। हे कृष्ण, तुम्हारे जैसे प्रधान को पाकर यह गणराज्य नष्ट न होना चाहिए।' हम जानते हैं कि कृष्ण के प्रयत्न करने पर भी अन्त में तीक्ष्ण भाषण के कारण ही यादवों का आपस में लड़कर विनाश हो गया।

सोलह कला का अवतार

कृष्ण को हमारे देश के जीवन-चरित्र-लेखकों ने 'सोलह कला का अवतार' कहा है। इसका तात्पर्य क्या है ? यह स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं

को नापने के लिए भिन्न-भिन्न परिमाणों का प्रयोग किया जाता है। दूरी के नापने के लिए और नाप है, काल के लिए और है, तथा बोझे के लिए और है। इसी प्रकार मानवी पूर्णता को प्रकट करने के लिए कला की नाप है। सोलह कलाओं से चन्द्रमा का स्वरूप संपूर्ण होता है। मानवी आत्मा का पूर्णतम विकास भी सोलहों कलाओं के द्वारा प्रकट किया जाता है। कृष्ण में सोलह कला की अभिव्यक्ति थी, अर्थात् मनुष्य का मस्तिष्क मानवी विकास का जो पूर्णतम आदर्श बना सकता है, वह हमें कृष्ण में मिलता है। नृत्य, गीत, वादित्र, सौन्दर्य, वाग्मिता राजनीति, योग, अध्यात्म, ज्ञान, सबका एकत्र समवाय कृष्ण में पाया जाता है। गोदोहन से लेकर राजसूय यज्ञ में ब्राह्मणों के चरण धोने तक तथा सुदामा की मैत्री से लेकर युद्धभूमि में गीता के उपदेश तक उनकी ऊँचाई का एक पैमाना है, जिस पर सूर्य की किरणों की रंग-बिरंगी पेटी (स्पैक्ट्रेम) की तरह हमें आत्मिक विकास के हर एक स्वरूप का दर्शन होता है।

कृष्ण के उच्च स्वरूप की पराकाष्ठा हमारे लिए गीता में है। सब उपनिषद् यदि गौएं हैं, तो गीता उनका दूध है। इस देश के विद्वान् किसी ग्रंथ की प्रशंसा में इससे अधिक और क्या कह सकते थे? गीता विश्व का शास्त्र है, उसका प्रभाव मानवजाति के मस्तिष्क पर हमेशा तक रहेगा। संसार में जन्म लेकर हममें से हरएक के सामने कर्म का गम्भीर प्रश्न बना ही रहता है। जीवन कर्ममय है, संसार कर्मभूमि है। गीता उसी कर्मयोग का प्रतिपादक शास्त्र है। कर्म का जीवन के साथ क्या संबंध है और किस प्रकार उस संबंध का निपटारा करने से मनुष्य अपने अन्तिम ध्येय और शान्ति को प्राप्त कर सकता है, इन प्रश्नों की सर्वोत्तम मीमांसा काव्य के ढंग से गीताकार ने की है। अतएव यह ग्रंथ न केवल भारतवर्ष बल्कि विश्व साहित्य की वस्तु है।

कृष्ण भारतवर्ष के लिए एक अमूल्य निधि है। उनका हर एक स्वरूप यहाँ के जीवन को अनुप्राणित करता है। जिस युग में इन्द्रप्रस्थ और द्वारका के बीच उनका किंकिणीक रथ बलाहक, मेघपुष्प, शैव्य और सुग्रीव नामक अश्वों के साथ झनझनाता रहता था, न केवल उस समय कृष्ण भारतवर्ष के शिरोमणि

महापुरुष थे, बल्कि आज तक वे हमारी राष्ट्रीय संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि बने हुए हैं। जिस प्रकार पूर्व और पश्चिमी समुद्रों के बीच के प्रदेश को व्याप्त करके गिरिराज हिमालय पृथ्वी के मानदंड की तरह स्थित है, उसी प्रकार ब्राह्मधर्म और क्षात्रधर्म इन दो मर्यादाओं के बीच की उच्चता को व्याप्त करके श्रीकृष्ण चरित्र पूर्ण मानवी विकास के मानदंड की तरह स्थिर है।

---

६. मनु

आर्य महाप्रजाओं के युगान्तव्यापी जीवन की स्थिर आधार-शिला का न्यास करने वाले जो अनेक महापुरुष है, उनमें मनु का नाम अप्रतिम तेज से प्रकाशित है। मनु प्रथम प्रजापति कहे जाते हैं। प्रजाओं के संवर्धन के लिए जिन प्रशस्त नियमों और उदार जीवन क्रम की आवश्यकता होती है, मनु का नाम आर्य संस्कृति में उन सबके लिए एक सुन्दर प्रतीक ही बन गया है। हमारे सहस्रमुखी जीवन क्रम को नियंत्रित करने में जो श्रेय मनु को प्राप्त है वह और किसीको नहीं। मनु कुछ स्पष्ट और निश्चित आदर्शों के प्रतिनिधि हैं। यदि हम उन आदर्शों के राजमार्ग पर अग्रसर होना चाहते है, तो यह आवश्यक है कि हम धर्म के मनु प्रतिपादित स्वरूप को अच्छी तरह से परीक्षा करके समझ लें।

मनु हमारे ऐतिहासिक तिथि क्रम से परे की वस्तु है। मनु का नाम आते ही हमें अपनी सभ्यता के उस धुंधले प्रभात का स्मरण हो आता है, जिसमें सूर्य की उषःकालीन किरणों के प्रकाश में मानव और देव दोनों साथ-साथ विचरते हुए दिखाई देते हैं। उस युग की गाथाओं के समुदाय में से इतिहास के तथ्य और पुराण की कल्पना का विश्लेषण एक कठिन कार्य है और यह कठिनाई केवल भारतवर्ष के ही लिए नहीं है, बल्कि संसार के प्रत्येक देश के लिए है। यदि हम अपने नितान्त मानवी कौतूहल को थोड़ी देर के लिए वश में कर सकें, तो यह कहा जा सकता है कि मानव जाति के पूर्व पुरुषों के विषय में सत्य और कल्पना का यह सम्मिश्रण कुछ विशेष हानिकर नहीं है। उनका जो सजीव चित्रण हमें इष्ट है, वह हमारे मनोराज्य में समस्त जातीय जीवन की एक विराट् वस्तु बनकर सदा के लिए व्याप्त हो गया है। मनु की कल्पना भी हमारे जातीय जीवन में बहुत दूर तक ओत-प्रोत है, और मनु के द्वारा प्रतिपादित धर्म की बहुत गहरी छाप हमारे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन पर पड़ी है।

भारत के बाहर के कुछ देशों के इतिहास में मनु से मिलते-जुलते कुछ नाम मिलने का सन्देह होता है। कुछ लोगों का विचार है कि जल प्रलयवाले 'नोह' का, जिनकी कथा प्राचीन बावेरु और सुमेरु देशों के ग्रंथों में है और ईसाई तथा मुसलमानी धर्मों में भी पाई जाती है, और शतपथ ब्राह्मण में जल प्रलयी कथा के संबंध में आये हुए मनु का कुछ संबंध अवश्य है। प्राचीन क्रीटद्वीप के आदि सम्राट् की संज्ञा 'मिनोस' भी मनु से मिलती-जुलती है। मिस्रदेश की परंपरा में भी पहले राजा का नाम 'मेनीज़' पाया जाता है। हो सकता है, इनके पीछे किसी एक मनु की परम्परा छिपी हो। भारतीय साहित्य में १४ मनु कहे गये हैं, जिनके नाम से मन्वन्तरों के काल विभाग प्रचलित हैं। सबसे पहले स्वयम्भू मनु है, जिनको मानव धर्म शास्त्र में धर्म का प्रवक्ता कहा गया है। हमारा वर्तमान मन्वन्तर जिन मनु के नाम से प्रसिद्ध है, उन्हें वैवस्वत मनु कहते है। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार वैवस्वत मनु ही प्रसिद्ध इक्ष्वाकु वंश के आदि सम्राट् हुए। यह कहा जा सकता है कि वैवस्वत मनु से संबंधित इक्ष्वाकु वंश की राजपरंपरा ही प्राचीन भारतीय तिथि क्रम का मेरुदंड है। महाकवि कालिदास ने चुने हुए शब्दों के तेज को पुंजीभूत करके इसी प्रख्यात वंश के कर्मठ राजर्षियों के लिए 'सो हमा-जन्म शुद्धानां' आदि विशेषणों की आरती उतारी है। उन्होंने लिखा है कि मनी-षियों में माननीय वैवस्वत मनु का सब राजाओं में ऐसे ही प्रथम स्थान है जैसे वेदों में ओंकार का। अर्थात् जिस प्रकार प्रणव रहस्य से भरी हुई त्रयी विद्या का प्रतीक है, उसी प्रकार सब राजाओं की शासन नीति के प्रतीक मनु है। मनु ने मानव धर्म के जिस उत्कृष्ट स्वरूप का उपदेश किया है उसीके कुछ प्रधान सूत्र कालिदास ने रघुवंशीय राजाओं के चरित्र की मीमांसा में लिखे है। समुद्र पर्यन्त पृथ्वी के एकराट्, जन्म से मृत्यु पर्यन्त संस्कारों के द्वारा शुद्ध रहने वाले, यौवन में यथान्याय विषयों का उपभोग करनेवाले, वृद्धावस्था में मुनियों की वृत्ति धारण करने वाले, और अन्त में योग के द्वारा शरीर छोड़नेवाले, इस प्रकार के सुव्य-वस्थित आश्रम जीवन के अनुयायी सूर्यवंशी राजा थे। वे लोग यश के लिए जीतने वाले, सत्य के लिए मितभाषी, दान के लिए अर्थसंचयी और सन्तति के लिए गृहमेधी बनते थे। विधि के अनुसार अग्निहोत्र करना, समय के अनुसार

जागना, अपराध के अनुसार दंड देना और कामना के अनुसार याचकों को दान देना ये उनकी विशेषताएं थीं। इन स्फुट रेखाओं से मानव जीवन का जो स्वरूप हमारे सामने आता है, वही संक्षेप में मानवधर्म है। हमारे आदर्शों के चिरपरिचित रघु और दिलीप के ही पूर्वज मनु थे। उदात्त क्षात्र धर्म के उत्कृष्ट प्रतिनिधि इन राजर्षियों का जो स्वरूप हमारे सामने आता है, उसमें कवि के शालप्रांशु वृषस्कन्ध, व्यूढ़ोरस्क और महाबाहु ये विशेषण अक्षरशः चरितार्थ होते है। राजर्षि मनु के भौतिक स्वरूप की कल्पना भी कुछ कुछ इसी रूप में हमारे सामने आती है।

आर्य जीवन की इसी उदार परम्परा में भगवान् श्रीकृष्ण थे। उन्होंने गीता में स्वयं कहा है कि राजर्षियों का यह उत्तम प्रज्ञा योग वैवस्वत मनु से ही प्रारम्भ हुआ और इसीके अनुयायी जनक भी थे। हम कह चुके हैं कि ब्रह्म और क्षत्र दोनों आदर्शों का पूरा मानदंड कृष्ण का जीवन था। यही बात मनु और जनक तथा उन्हीं आदर्शों से पोषित इतर राजर्षि-परम्परा के लिए भी कही जा सकती है। महाकवि कालिदास ने लिखा है कि मनु ने जिस मार्ग को चलाया, रघुवंशी राज्य की प्रजाएं तिल भर भी उससे इधर-उधर नहीं हटती थीं। भारवि ने कहा है कि दुर्योधन भी अपनी शासन नीति में मनु की पदवी का अनुयायी था। मनु के राजधर्म का ऊँचा आदर्श राज्याभिषेक की शपथ के साथ से ही भारतीय नरेशों को दीक्षित करता रहा है। ऐतिहासिक युग में गुप्तवंशी सम्राट् इसके उदाहरण स्वरूप हमारे सन्मुख आते है, जिनके समय में कवि के अनुसार स्वर्ग की समृद्धि पृथ्वी पर उतर आई।

मनुस्मृति

वर्तमान मनुस्मृति या मानवधर्मशास्त्र बारह अध्यायों[1] में अनुष्टुप् श्लोकों

---

१. प्राचीनतम रोमन लॉ का संग्रह भी द्वादशाध्यात्मक होने के कारण ट्वैल्व टेबिल्स के नाम से प्रसिद्ध है। उनका संग्रह ४२१ ई० पूर्व में दस आप्त व्यक्तियों के द्वारा किया गया था, जिसके साथ मनु की 'दशावरा परिषद्' का ध्यान आता है।

में निबद्ध है। इसी स्मृति की अन्तरंग साक्षी से यह मालूम होता है कि एकाग्र बैठे हुए भूरितेज, अमितौजा, धीमान् महात्मा मनु से ऋषियों ने धर्म के संबंध में प्रश्न किया। परन्तु कुछ दूर तक धर्म का निरूपण करने के बाद भगवान् मनु अपने मनीषी शिष्य भृगु को आगे के निर्वचन का कार्य सौंपकर चले जाते हैं और शेष ग्रंथ का व्याख्यान भृगु के द्वारा होता है। वस्तुतः वर्त्तमान मनुस्मृति का संस्करण मानव चरण के भृगुवंशी आचार्यों ने किया। इसमें एक प्रमाण यह है कि मनुस्मृति और महाभारत में गहरी समानता है। स्वर्गीय डाक्टर व्हूलर ने शान्ति, अनुशासन और वनपर्व के साथ मनुस्मृति की तुलना करके यह बताया था कि दोनों में लगभग २५० श्लोक समान हैं और यह संख्या उपलब्ध मनुस्मृति का दसवां भाग है। महाभारत के शेष पर्वों में और भी समान श्लोक होंगे। अभी हाल में भंडारकर इंस्टीच्यूट के अध्यक्ष श्रीयुत डा० विष्णु सुकथनकर ने अपने 'भृगु' शीर्षक लेख में बहुत खोज और विद्वत्ता के साथ, और भारत जिसे डा० कीथ ने भी माना है यह सिद्ध किया कि महाभारत का वर्त्तमान संस्करण भार्गववंशी ब्राह्मणों के द्वारा तैयार कराया गया था। यह अनुमान होता है कि उन्होंने ही इन समान श्लोकों का मनुस्मृति और महाभारत दोनों में समावेश किया। इस प्रश्न के उत्तर में कि मनुस्मृति का पूर्व रूप क्या था, विद्वानों का बहुमत इस पक्ष में है कि मनुस्मृति से पहले एक मानव धर्मसूत्र था, जिसमें प्रातिशाख्यों की तरह श्लोक और सूत्र दोनों मिले हुए थे। यह मानव धर्मसूत्र अब उपलब्ध नहीं होता, परन्तु किसी समय इसका सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा से था। मैत्रायणी शाखा के अन्तर्गत मानवों का एक चरण था। प्राचीन परिभाषा में चरण वैदिक परिषद् या आचार्य विशेष के चारों ओर पनपने वाले विद्या संस्थान को कहते थे। मानव आचार्यों के चरण में जिस आचार्य विशेष के चारों ओर धर्मसूत्र की रचना हुई उसीके आधार पर वर्त्तमान मनुस्मृति का अधिकांश भाग बना हुआ मालूम होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत साहित्य में मनु का नाम बहुत पुराना है। तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता और मैत्रायणी संहिता, तीनों में यह बात कही गई है कि मनु का जो वचन है वह सब औषधियों की औषधि है,

अर्थात् सब नीतियों में परम नीति है।[1]

मनु का धर्म

जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक नित्शे ने लिखा है......

The law-book of Manu is an incomparably greater intellectual work than the Bible.

अर्थात् बाइबिल की अपेक्षा मनुस्मृति किसी बहुत बड़े मस्तिष्क की उपज है। नित्शे की प्रशंसा के महत्त्व को समझने के लिए मनु के धर्म के अर्थ को जानना आवश्यक है। मनु का धर्म वीर्य और शक्ति का धर्म है। वे थोथे परलोकवाद के कट्टर शत्रु है। उन्होंने लिखा है—

भृत्यानामुपरोधेन यः करोत्यौर्ध्वदेहिकम्।
तद् भवत्यसुखोदर्कं जीवितस्य मृतस्य च।

(मनुस्मृति ११, १०)

अर्थात् जिनका भरण पोषण करना अपना आवश्यक कर्त्तव्य है उनको कष्ट देकर जो परलोक साधता है, उसके लिए इस जीवन में और इसके बाद मृत्यु में भी दुःख ही दुःख है। मनु वैदिक कर्मयोग के प्रतिपापक है। उस कर्मयोग का मूल मनु के अनुसार जीवन में दृढ़ संकल्प है। कामना से संकल्प होता है और संकल्प से ही सारे यज्ञ, व्रत, तप जीवन की अप्रतिहत शक्तियों का जन्म होता है। जिस समय समस्त जाति के अन्दर शक्तिशाली बनने की लहर उत्पन्न होती

---

[1] यह जानने की बात है कि मनुस्मृति के काल से लेकर मिथिला की रानी लक्ष्मी देवी (अठारहवीं सदी का अन्त) के समय तक हिन्दुओं के धर्मशास्त्र संबंधी ग्रंथों की अखंड परम्परा पाई जाती है। प्रो० हापकिन्स ने श्रीयुत काणे के धर्मशास्त्र विषयक इतिहास की आलोचना में लिखा है ......
what other people can show and uninterrupted line of law-books for twenty-four hundred years?
(JAOS, 51, 81)

है, उस समय मनु का वैदिक कर्मयोग काम आता है। मानव धर्म खोखले साधुओं का धर्म नहीं जिन्हें संसार से उपेक्षा हो। मनु ने कहा है—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।

अर्थात् ऋषिऋण, देवऋण, और पितृऋण इन तीनों के द्वारा जातीय संस्कृति, पितृभूमि और मानव वंश या नस्ल की यथोचित सेवा करने के बाद मनुष्य को यह अधिकार मिलता है कि वह केवल अपने अध्यात्म जीवन की चिन्ता में लगे। मनु का धर्म गणित के अंकों की तरह बहुत ही सीधा-सादा है, उनमें जन्म से मृत्यु पर्यन्त मनुष्य जीवन का एक पूरा नकशा हमें प्राप्त है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी चार पुरुषार्थ, देवऋण, ऋषिऋण, पितृऋण रूपी तीन आवश्यक कर्त्तव्य, सोलह संस्कार, पंच महायज्ञ, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और संन्यास रूपी चार आश्रम, और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इनका चातुर्वर्ण्य संगठन यही संक्षेप में मनु के धर्म हैं। एक बालक भी सरलता के साथ मनु के धर्म की रूप-रेखा खींच सकता है। मनु का यह आदर्श जीवन में लोक और परलोक, संग्रह और त्याग, भोग और वैराग्य दोनों को साथ लेकर चलता है। इसीका नाम प्राचीन ब्राह्म और क्षात्र धर्मों का समन्वय है। इस आदर्श में अभ्युदय और निःश्रेयस् इस तरह एक साथ मिल जाते हैं, जिस तरह एक रथ के खींचने में समान रूप से मिलकर दो बैल चलते हैं। मनु का धर्म और महाभारत में प्रतिपादित धर्म एक ही है। वेदव्यास ने कहा है—

धारणाद्धर्म इत्याहुः धर्मो धारयति प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इत्युदाहृतः॥

अर्थात् धर्म वह शक्ति है, जो प्रजाओं और समाज को धारण करती है। यह मनुष्य को जीवन से परे खींचकर जंगल का मार्ग दिखाने वाला साधन नहीं है। जिस धर्म से जीवन में विजय की भावना का नाश हो, पीलिया रोग की तरह जीवन को निस्तेज बनाने वाला वह धर्म मनु को कदापि सम्मत नहीं। एक प्रसिद्ध विद्वान डा० मीज़ ने 'धर्म और समाज' (धर्म ऐंड सोसाइटी) नामक

अपने विचारशील ग्रन्थ में भारतीय दृष्टि से धर्म शब्द के अर्थ को समझाने का प्रयत्न किया है। मनु और वेदव्यास ने मनुष्य और जाति के ऐहलौकिक जीवन में अभ्युदय प्राप्त करानेवाले और अन्त में अध्यात्म शान्ति तक ले जानेवाले व्यवस्थित कार्यक्रम को धर्म कहा है। यह धर्म प्रकृति के विधान के साथ मिला रहता है। अथर्ववेद में कहा है कि यह पृथ्वी धर्म से धारण की हुई है। प्रत्येक मनुष्य का जीवन भी धर्म की दृढ़ नींव पर खड़ा होता है। जितनी पुष्ट यह आधार-शिला होगी, उतनी ही विराट् ऊँचाई तक जीवन का प्रासाद खड़ा किया जा सकता है। इसलिए मनु का धर्म प्रधानतः आचारमूलक धर्म है। रामायण के द्वारा रामचरित का जो आदर्श वाल्मीकि ने रक्खा है, वही दस लक्षणोंवाला[1] आचार प्रधान धर्म मनु ने कहा है। मनु का वाक्य है—

आचारः परमो धर्मः (१ १०८),

और भी, 'आचार से विहीन विप्र को वेद का कुछ भी फल प्राप्त नहीं होता, आचारवान् होकर ही वह संपूर्ण फल को पाता है।' इस प्रकार आचार से धर्म की प्राप्ति मानते हुए ऋषियों ने समस्त तप का मूल आचार कहा है—

सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्।

मनु ने वारम्बार 'वेद को अपने शास्त्र का मूल माना है। ऋग्वेद में कहा है—

ऋतस्य पन्थां न तरंति दुष्कृतः॥ (ऋ० ६, ७३, ६)

अर्थात् आचारहीन व्यक्ति सत्य के मार्ग के पार नहीं पहुँच पाते। मनु ने इसीका अनुवाद करते हुए कहा है—

---

[1] **धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।**
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनुस्मृति ६, ९२)

वेदास्त्यागाश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसिच।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥

(म० २, ९७)

अर्थात् वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप ये सब दुष्ट मनोभाववाले मनुष्य के लिए निष्फल है।

इस आचारमूलक जीवन की साधना मनु का ब्रह्मचर्य आश्रम है। मनु के शिक्षाक्रम का उद्देश्य डाक्टर, वकील, या इन्जीनियर अथवा इनके सामान पेशेवर लोग उत्पन्न करना नहीं है, बल्कि ऐसे आचारवान् पुरुषों को बनाना है जो शरीर और मन से बलवान् हों और अपनी जाति के महान् जीवन में जिनकी श्रद्धा हो। विवाह करने का अधिकारी कौन है, इसका उत्तर मनु एक शब्द में देते हैं कि जो 'अविप्लुत ब्रह्मचर्य वाला हो। गृहस्थाश्रम में प्रवेश का यह अधिकार राष्ट्र के जीवन-मरण के साथ सम्बन्ध रखता है और त्रिकाल में भी कोई अधीर व्यक्ति इसमें परिवर्तन नहीं कर सकता। वास्तव में नीतिमूलक आचार ही नित्य धर्म है। वह सत्य होने के नाते ही हमारे लिए एक अटल कर्त्तव्य बना रहता है।

कुल धर्म

गीतांजलि की भूमिका के विद्वान् लेखक ने लिखा है—'क्या आप यह जानते हैं कि पूर्व में किस प्रकार कुलों को यशस्वी बनाया जाता है।' मनु के धर्म का लक्ष्य भी कुल है। प्राचीन आर्य जातियों के समाज संगठन में गृहपति, जिसे रोम के कानून में पीटर फेमिलिअस कहा गया है, प्रधान केन्द्र था। हिन्दू जाति में गृहपति की भावना एक स्वर्गीय दिव्य भावना है, जिसके अमृत जल से आज भी जाति का जीवन प्राणमय है। राज्य की और समाज की व्यवस्थाएँ भी जब ढीली पड़ जाती हैं, तब भी गृहपति सौरमंडल की तरह अपने परिवार के केन्द्र में बैठा हुआ उसको नियंत्रित रखता है। नियमन का नाम ही जीवन है, अराजकता मृत्यु है। राजा के राज्याभिषेक की तरह गृहपति का भी मूर्धाभिषेक किया जाता था। पहला राष्ट्र का ककुद् या उच्चतम स्थान है, दूसरा परिवार का। हिन्दू जाति में एक गृहपति की मृत्यु के बाद उसके पुत्र को उसके स्थान में मूर्धाभिक्त करने की प्रथा आज तक जीवित है, जिसका बचा हुआ रूप तेरहवें दिन पगड़ी बाँधने की क्रिया है।

विवाह के समय मनु ने समृद्ध कुल और निम्न कुलों में विवेक करने पर बहुत ज़ोर दिया है। कुविवाहों से उत्तम कुल भी हीन बन जाते हैं। अतएव बहुत सोच समझकर वैवाहिक धर्मों को स्थिर करना चाहिए।

मनु के द्वारा आर्य नारी का यशोगीत

मनु के अनुसार स्त्री उत्तम सन्तति और प्रजाविशुद्धि का हेतु है। परिवार में माता पिता वृत्त के केन्द्र और परिधि की तरह है। दोनों देखने में दो, पर वास्तव में अभिन्न हैं। मनु की व्यवस्था है—

यो भर्ता सा स्मृतांगना

अर्थात् जो पति है। वही अभिन्न रूप से पत्नी है। दोनों का अस्तित्व एक इकाई है। दोनों में न अधिकार की पृथकता है, न स्वार्थों का विरोध। परन्तु माता हज़ार पिताओं से गौरव में भारी है। माता पृथ्वी है, वह क्षमाशील धात्री के रूप में परिवार का पोषण करती है।

स्त्री के जीवन की पूर्णता माता बनने में है। वीर्यवान् पुत्रों की माता कहलाने में जो गौरव स्त्री को मिलता है, वह अन्य किसी प्रकार से नहीं। प्रकृति पुरुष के बिना दीन है; स्त्री भी उस आदर्श भर्ता को चाहती है जिसे वह अपना आराध्य देव कल्पित कर सके। विवाह उसके जीवन की उच्च पराकाष्ठा है। इसलिए मनु ने स्त्रियों के लिए वैवाहिक विधि को ही सबसे बड़ा वैदिक संस्कार माना है। पति-सेवा ही उनका गुरुकुलवास है, और गृहकार्यों में दक्षतापूर्वक योग ही उनकी अग्नि परिचर्या है (२, ६७)। जिस दिन जाति को उत्तम संतान की आवश्यकता न रहेगी, उसी दिन यह शायद संभव हो कि स्त्री अपने मातृत्व का गौरव खो दे। परन्तु यह भी निश्चय है कि उसी दिन जाति की मृत्यु भी हो जायगी। प्रजानिरोध के द्वारा मातृत्व का जो नाश हो सकता है, वैसा अन्य किसी उपाय से नहीं। मातृत्व की उपेक्षा स्त्री को स्वर्ग से गिराकर नरक के गर्त में ढकेल देती है। पुरुष स्त्री की पूजा करता है, क्योंकि उसके द्वारा वह अपनी अमरपन की भावना को पूरा करता है। बीज- निषेक के द्वारा वह स्वयं स्त्री के गर्भ में जन्म लेता है। 'यही जाया का जायात्व है कि पुरुष

है, कि पुरुष उसमें पुनः जन्म ग्रहण करता है।' प्रजासिद्धि का विलक्षण हेतु स्त्री उसका पद अत्यन्त महनीय है।

आर्यनारी का जो यशोगीत मनु ने गाया है, वह संसार के साहित्य में अनन्यसुलभ है। वैदिक सूत्र ग्रन्थों में एक सारस्वत अनुवाक आता है। विवाह संस्कारों में उसका गान किया जाता है—

यस्यां भूतं समभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत्।
तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः॥

अर्थात् महाभाग्यशीला नारी जो भूत और भविष्य की जननी है, जिस उत्तम यश का पात्र है, वह यशोगाथा आज हम गाते हैं। इस प्रकार प्रारम्भ करके बीस ऋचाएँ वेदिमंडप में स्त्री के उत्तम यशोवर्णन में गाई जाती है। मनु का यशोगीत भी चुन-चुनकर स्त्री के प्रति पूजा के वैसी ही सुरभित पुष्प चढ़ाता है—

१—जहाँ स्त्रियों का पूजन होता है, वहाँ देवता बसते हैं। जहाँ इनका आदर नहीं होता, वहाँ सब क्रियाएँ निष्फल जाती हैं।

२—जिस कुल में पति पत्नी से और पत्नी पति से संतुष्ट रहती है, वहाँ ध्रुव कल्याण वास करता है।

३—स्त्री की प्रसन्नता से सारा परिवार प्रसन्न रहता है। उसके असंतोष से कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

४—स्त्री को सदा प्रहृष्ट रहना चाहिए। उसे उचित है कि घर के कामों में तत्पर हो, सब सामान को साफ-सुथरा रखे और व्यय करने में हाथ रोके रहे।

५—मंत्र के साथ होने वाले संस्कार से प्राप्त हुआ पति इस लोक में और परलोक में भी स्त्री को नित्य सुख का देनेवाला है।

६—स्त्रियों के लिए पृथक् यज्ञ, व्रत या उपवास का विधान नहीं है। पति की शुश्रूषा से ही वे स्वर्ग में उच्च स्थान पाती है।

७—जो पुरुष यत्नपूर्व स्त्री की रक्षा करता है, वह अपनी संतान, चरित्र, परिवार, धर्म और अपने आपकी रक्षा करता है।

८—अनेक कल्याणों की भाजन स्त्रियाँ पूजा के योग्य है, ये घर की ज्योति हैं, प्रजापति ने प्रजोत्पत्ति के लिए उन्हें बनाया है। स्त्रियाँ घरों में साक्षात् लक्ष्मी है, दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

९—संतति को जन्म देना, उत्पन्न हुए पुत्रादिक का पालन करना, और प्रतिदिन की लोकयात्रा (भोजन आदि का प्रबन्ध) का एकमात्र प्रत्यक्ष कारण स्त्री ही है।

१०—अपत्य, धर्मकार्य, उत्तम आनन्द और अपनी तथा अपने पूर्व पुरुषों की स्वर्गगति सब कुछ स्त्री के अधीन है।

११—मन, वाणी और शरीर से संयत रहकर जो स्त्री पति के अनुकूल रहती है, वह इस लोक में साध्वी स्त्रियों का यश पाती है और मरने के उपरान्त पति लोक में जाती है।

१२—देवों के समक्ष की हुई प्रतिज्ञा के द्वारा पुरुष स्त्री के साथ विवाह करता है, स्वेच्छा से नहीं। अतएव देवों की प्रीति के लिए स्त्री का नित्य भरण पोषण करना चाहिए।

१३—पूर्व ऋषियों के द्वारा कहा हुआ यह पुरुष-नारी वृत्त सब जनों का हित करने वाला है। आत्मा, जाया और प्रजा, इतना ही पुरुष का विस्तार है। पुरुष के द्वारा किए हुए समस्त धर्माचरणों में स्त्री का साझा है। मनु ने जो यह कहा है कि कौमार अवस्था में पिता रक्षा करता है, यौवन में पति और वृद्धावस्था में पुत्र, इसलिए स्त्री का अपना तंत्र नहीं होता,—यह प्राचीन आर्य जातियों में स्त्री को प्रति दिन की लोक यात्रा से निश्चिन्त बनाने की सर्वसम्मत कानूनी व्यवस्था थी। मनुस्मृति से बहुत अंशों में समानता रखने वाले प्राचीन रोमन लॉ में भी ऐसा ही प्रबंध था। संक्षेप में मनु के आदर्शों का प्रतीक वह पुरन्ध्रि स्त्री है, जिसके द्वारा सप्तसिंधु से लेकर युरुप तक आर्य जाति का महान् विस्तार हुआ।

मनु और राष्ट्र

मनु का भारतवर्ष एक पुण्यभूमि है। वह इसे देवनिर्मित देश मानते हैं। इस यज्ञीय देश में जो आचार प्रचलित था, उसके लिए मनु के हृदय में

गर्व है। वह सदाचार कहा गया है और मनु आर्योचित गौरव के साथ उस सदाचार को पृथ्वी के सब मानवों के लिये आदर्श मानते हुए अपने राष्ट्र को सबसे ऊँचे आसन पर स्थापित कर देते हैं। इस प्रकार की भावना ही राष्ट्र के अमर जीवन का हेतु है, जो उसे अंधकार में भी आत्मविषाद से बचाता है। अर्वाचीन भारत के पुनरुत्थान के तोरणद्वार पर मनु का यह श्लोक सोने के अक्षरों में लिखा जायगा—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

इस देश में जन्म पाये हुए श्रेष्ठजन्मा पुरुषों से पृथिवी के सब मानव अपने चरित्र की शिक्षा ग्रहण करें।

राष्ट्र में राजा की आसंदी (गद्दी) सबसे ऊँचा स्थान है, जहाँ से दंड प्रवृत्त होता है। मनु को अराजक राष्ट्र से घृणा है। अराजकता की व्यवस्था में मात्स्यन्याय के द्वारा बलवान् निर्बलों का भक्षण और शोषण करने लगते हैं। जब तक राजनीति ठीक है, तभी तक मनु की पद्धति ठीक चलती है। स्वराष्ट्र में राजशक्ति के लड़खड़ाते ही मनु की आदर्श व्यवस्थाएं भी बैठ जाती हैं। इसीलिए मनु ने राष्ट्रीय शक्ति के मूल को महती देवता माना है। मनु के अनुसार धर्म का ही दूसरा नाम दंड है। दंड के निर्बल होने पर धर्म रसातल को चला जाता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि मनु का धर्म थोथा परलोक-विश्वास नहीं है, बल्कि वह प्रजाओं के धारण और संवर्धन करने वाली जीवन की एक शक्तिशालिनी पद्धति है। दंड ही न्याय का मूल है। जब दंड का प्रणेता साधु अर्थात् निष्पक्ष भाव से दंड का प्रयोग करता है, तभी प्रजाएं एक दूसरे को दबाना नहीं चाहतीं। मनु के अनुसार दंड ही राजा है, दंड ही नेता है, दंड ही शासिता है और दंड ही राष्ट्र में अकेला पुरुष है। सब भूतों का गोप्ता, प्रजापति का पुत्र, ब्रह्मतेज से युक्त दंड ही है, जिससे राष्ट्रीय धर्म विचलित नहीं होते। इस प्रकार का सबसे निडर रहने वाला और सबको निडर रखने वाला दंड जब तक राष्ट्र का ककुद् या सबसे ऊँचा स्थान बना रहता है, तभी तक राष्ट्र की आत्म-सम्पदा पनपती रहती है। मनु का आदर्श राष्ट्र के ब्राह्मधर्म और

क्षात्रधर्म का (जिन्हें आजकल की राजनीतिक परिभाषा में और लेजिस्लेटिव और एग्ज़ीक्यूटिव शक्ति कहते हैं) सुन्दर समन्वय है—

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते ।
ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते ॥ ६,३२२ ॥

अर्थात् बिना ब्रह्म के क्षत्र और बिना क्षत्र के ब्रह्म का विकास नहीं होता । दोनों ये मिलकर ही इस लोक में और परलोक में संवर्द्धित होते हैं ।

इस प्रकार की व्यवस्था में मस्तिष्क और बल, दोनों, की पूजा की जाती है । मनु के आदर्श ज्ञानी वे हैं, जिनमें उच्च राष्ट्रीय संस्कृति मूर्तिमान् रूप धारण करती है । वे ब्राह्म धर्म के कोश हैं । राष्ट्रीय धर्मों का निर्माण इसी प्रकार के ज्ञानियों की परिषद् में होता है, राजदंड तो उन धर्मों को प्रचलित रखता है । मानव संस्कृति बहुसंख्या पर निर्भर नहीं है । एक ज्ञानी दस हजार मूर्खों से श्रेष्ठ है ।

एकोऽपि वेदविद्धर्मं, यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽ युतैः ॥

मानव धर्मशास्त्र बुद्धि का समादर करता है, वह जकड़ने वाले धर्मों का पुलिन्दा नहीं है । युग धर्म के अनुसार कानूनों की वृद्धि और विकास करने के उदार बीज इस शास्त्र में जान-बूझकर रखे गए हैं । शिष्ट विद्वानों की दशावरा परिषदों को संगठित करने का विधान इसीलिए था ।

मनु के अनुसार विद्वान या कर्मशील ज्ञानी का मूल्य सबसे अधिक है । धन, बन्धु, आयु, कर्म और विद्या, ये पाँच आदर की चीजें हैं, इनमें बाद की वस्तु पहले से श्रेष्ठ है । धन से ज्ञान बहुत ऊँचा है । यही ऋषियों का पैमाना था जिससे मानव की ऊँचाई नापी जाती थी, और मनु ने इसीको अपनाया है । मनु की दृष्टि में 'मनुष्य' सबके केन्द्र में है, उसी का निर्माण सब शास्त्र और धर्मों का ध्येय है । मनुष्य की समृद्धि के लिए ही आदर्श संस्थाओं का विकास राष्ट्र में किया जाता है । मनु का विचार है कि राजा ही युग का प्रवर्तक होता है (राजा हि युगमुच्यते) अतएव सप्तांग राज्य की ठीक व्यवस्था मानव समाज की सबसे बड़ी आवश्यकता है । इसकी सिद्धि के लिए जहाँ एक ओर वीर्यवान दंड की स्थापना चाहिए, वहीं दूसरी ओर राष्ट्र की प्रज्ञा में निर्मलता और तेज भी आना चाहिए ।

---

७. पाणिनि

पिछले सौ वर्षों में हमारे राष्ट्रजननीय यज्ञ में जो बड़ी शक्तियाँ प्रकट हुई हैं, उनमें संस्कृत-भाषा और इतिहास-पुरातत्त्वशास्त्र मुख्य हैं। संस्कृत-भाषा में बड़ा महत्त्वपूर्ण साहित्य रचा गया। संस्कृत उस समय की भाषा है जिस समय देश स्वतन्त्र था। उस समय के स्वतन्त्र भारतीय किस प्रकार के विचार रखते थे, उस समय किस प्रकार की जीवन-पद्धति थी, इस विषय का ज्ञान संस्कृत-भाषा की रचनाओं द्वारा मिल सकता है। दूसरी ओर पुरातत्त्वशास्त्र के क्षेत्र में पिछले सौ वर्षों में जो सामग्री मिली है, वह अधिक विस्तृत और विश्वसनीय रूप में भारतवर्ष के गौरव को हमारे सामने रखती है। इन दो शक्तियों ने देश की प्राचीन संस्कृति और इतिहास को हमारे सामने रखकर सबको गौरवान्वित किया है। इस विषय में रुचि रखनेवाली और अनुसन्धान करनेवाली जितनी भी संस्थाएँ हैं, उनको देश के लिए महत्त्वपूर्ण और आवश्यक समझना चाहिए। ये विषय जीवन के पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक हैं। न केवल कुछ लोगों के लिए इनमें रुचि हो सकती है, बल्कि लोक-जीवन की दृष्टि से इन चीजों का सब के लिए महत्त्व है।

यों तो संस्कृत-साहित्य का इतिहास वैदिक काल से लेकर सोलहवीं शती तक महत्त्वपूर्ण रचनाओं का इतिहास है, लेकिन उस इतिहास में भी कुछ युग ऐसे हैं जब विशेष रूप से रचनात्मक कार्य हुआ है, पाणिनि का युग भी ऐसा युग था जिसमें शब्द-शास्त्र इस देश में बहुत ही विकसित हुआ। भगवान् पाणिनि जिस काल में हुए, उस काल का परिचय हमारे लिए आवश्यक है। वह परिचय हमको पाणिनि के मूलग्रन्थ और उनकी टीकाओं से प्राप्त होता है। जिस समय पाणिनि का शास्त्र बना, लोगों ने आश्चर्यचकित होकर कहा—'महत्सुविहितं पाणिनीयम्', अर्थात् पाणिनि का शास्त्र महान् और सुरचित है। इतना महान् और सुन्दर शास्त्र उससे पहले नहीं बना था। यही शास्त्र बाद में

लोगों के बीच में काफी फैलता गया है। ऐसा कोई भी वैयाकरण न होगा, जिसने पाणिनि के ग्रन्थों का अध्ययन करके अपने ज्ञान का विकास न किया हो।

प्रारम्भिक जीवन और शास्त्र-निर्माण

पाणिनि के जीवन-चरित के विषय में दो परंपराएँ प्राप्त हैं। एक परंपरा तो वह है, जो हमें संस्कृत-साहित्य से कहानियों और उपाख्यानों के रूप में मिलती है। कहा जाता है कि पाणिनि आचार्य उपवर्ष के जो पाटलिपुत्र में रहते थे, शिष्य थे और जन्म से मन्दबुद्धि थे। पीछे शिव की उपासना और कृपा से उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। हमारे यहाँ जितने भी मेधावी पुरुष हुए हैं, उनके जीवन की व्याख्या करनेवालों ने उनकी प्रतिभा के लिए प्रायः यही कहा है कि सेवा से प्रसन्न हुए किसी देव विशेष के वरदान के कारण उन्हें ज्ञान हुआ, जिसके फलस्वरूप उन्होंने अपने-अपने शास्त्र की रचना की। कालिदास के विषय में भी ऐसी ही किंवदन्ती है कि सरस्वती के वरदान द्वारा उनको ज्ञान प्राप्त हुआ था। लेकिन इस परंपरा के अतिरिक्त एक दूसरी परंपरा भी मिलती है। आचार्य पाणिनि के विषय में यह परंपरा एक चीनी यात्री की कृपा से प्राप्त हुई है। श्यूआन् च्वाङ् नामक यह चीनी यात्री सम्राट् हर्ष के समय सातवीं शताब्दी में भारत में आया था। वह चीन से मध्य-एशिया और गंधार देश के रास्ते से यहाँ आया। सिन्धु नदी के समीप शलातुर गाँव में जाकर उसने जो-कुछ वहाँ सुना और देखा, उसका वर्णन अपने यात्रा-ग्रन्थ में लिखा है—"यह स्थान ऋषि पाणिनि का जन्मस्थान है। जहाँ वे उत्पन्न हुए थे, वहाँ उनकी मूर्ति बनी है। यहाँ के लोग पाणिनि के शास्त्र का अब भी अध्ययन करते हैं। इसी कारण यहाँ के मनुष्य अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक प्रतिभाशाली और विद्वान् हैं।" फिर इसके बाद वह पाणिनि के जीवन के विषय में लिखता है— "प्राचीन काल में भी शब्द-शास्त्र था और उसका विस्तार हुआ; लेकिन फिर ऐसा समय आया कि उसका ह्रास हुआ और चारों तरफ अन्धकार छा गया। देवेन्द्र, बृहस्पति आदि ने शब्द-विद्या का उद्धार किया। इस प्रकार शब्द-शास्त्र पुनः अपने स्थान को प्राप्त हुआ, लेकिन सबने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार व्याकरणशास्त्र की रचना की। इस प्रकार जब ऋषि पाणिनि हुए, तो उन्होंने

अपने समय के भिन्न-भिन्न व्याकरणों को देखा। उन्हें देखकर उनके मन में यह बात आई कि शब्द-शास्त्र को व्यवस्थित करना चाहिए। उन्होंने सोचा कि हम समस्त सामग्री का संकलन करके एक ऐसे नये शास्त्र की रचना करें कि उस विषय की सब सामग्री एक ठिकाने आ जाय। पाणिनि जन्म से बड़े मेधावी थे। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना के लिए पाणिनि ने लम्बी यात्रा की। उन्होंने सब बड़े-बड़े स्थान देखे और जो सामग्री प्राप्त हुई, उसका संकलन किया। इस यात्रा में उन्हें ईश्वरदेव के दर्शन हुए। पाणिनि ने अपने मन की बात उनसे कही और शास्त्र की जो रूप-रेखा उनके मन में थी, वह उनके सामने रखी। उसे देखकर ईश्वरदेव बहुत प्रसन्न हुए और कहा—'तुम्हारा संकल्प शुभ है। अवश्य ऐसे शास्त्र का निर्माण होना चाहिए'।' इसके बाद एकान्त स्थान में बैठकर मन की दृढ़ शक्ति से पाणिनि ने अपने व्याकरण की रचना की। उसे रचकर वे पाटलिपुत्र की राजसभा में गए, जहाँ राजा ने सब विद्वानों के सामने उनके शास्त्र को परीक्षित और मान्य किया।"

पाणिनि का जन्म तक्षशिला के पास शलातुर गाँव में हुआ था। अतएव तक्षशिला विश्वविद्यालय का प्रभाव उनके शास्त्र पर पड़ा हुआ मालूम होता है। सम्भव है कि वे कुछ दिन इस विश्वविद्यालय में पढ़े भी हों। तक्षशिला की ज्ञान-पद्धति विशेष वैज्ञानिक थी। वहाँ के वैज्ञानिक प्रयोगात्मक पद्धति से कार्य करते थे। आयुर्वेद के चरक और सुश्रुत आदि विद्वानों के वैज्ञानिक शास्त्र तक्षशिला-विश्वविद्यालय में ही रचे गए थे। इसका अर्थ यह है कि तक्षशिला के विद्वान् सामग्री स्वयं संकलन करके, उसके भीतर पैठकर, उसका विश्लेषण करके तद-नुसार शास्त्र तैयार करते थे। इस सम्बन्ध में तक्षशिला के लोगों में एक कहानी प्रसिद्ध थी कि जीवक नामक राजवैद्य तक्षशिला में पढ़कर अपने आचार्य के पास गया और उनसे प्रार्थना की कि मुझे अब यहाँ बहुत समय हो गया है, मैं अपने देश को लौटना चाहता हूँ। आचार्य ने इस बात की परीक्षा लेने के लिए कि इसने अपने विषय को ठीक तौर से जान लिया है या नहीं, उससे कहा कि तक्षशिला के आसपास के वन से कोई ऐसी वनस्पति लाकर दो, जो किसी औषधि के काम में न आ सकती हो। वह १५ दिन तक घूमता रहा। उसने भरसक प्रयत्न

किया ; लेकिन कोई जड़ी-बूटी उसे ऐसी नहीं मिली, जो दवा के काम में न आती हो। उसने लौटकर आचार्य से कहा कि मुझे प्रयत्न करने पर भी ऐसी कोई बूटी नहीं मिल सकी, जो किसी-न-किसी रोग में औषधि-रूप में काम में न आती हो। यह बात सुनकर आचार्य बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने समझ लिया कि यह इस शास्त्र में योग्य हो गया है।

इस पद्धति से पाणिनि ने जब व्याकरणशास्त्र की रचना करने की बात सोची, तो उन्होंने घूम-घूमकर शब्द-सामग्री का संकलन किया, और जो देश की भिन्न-भिन्न राजधानियाँ या प्रसिद्ध स्थान थे, उनमें जाकर उन्होंने उच्चारण, अर्थों, शब्दों, मुहावरों और धातुओं के विषय में अपनी सामग्री का संकलन किया। गणपाठ के अन्तर्गत उन्होंने कई सौ स्थानों की सूची दी है। 'अष्टाध्यायी' में बहुत अधिक भौगोलिक सामग्री मिलती है। यथार्थ में सिकंदर के बाद के यूनानी ऐतिहासिकों के वर्णन की बहुत-सी भौगोलिक सामग्री अष्टाध्यायी की सामग्री के साथ मिलती है। इस प्रकार सामग्री का संकलन पाणिनि ने किया। उस समय इस देश के जितने प्रसिद्ध संघ या गण, गोत्र या कुल अथवा वैदिक चरण थे, उनकी एक विस्तृत सूची उनके शास्त्र में आ गई है। इस समय उत्तर-पश्चिम से लेकर दक्षिण-पूर्व तक जो सभ्यता फैली हुई थी, उसका एक विशिष्ट चित्र पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है। यह काम बिना परिश्रम के नहीं हो सकता था। अतएव श्यूआन् च्वाङ् का यह कहना कि पाणिनि ने बड़ी-बड़ी यात्राएँ करके सामग्री संचित की थी, ठीक जान पड़ता है। उनके ध्यान की शक्ति और महान् परिश्रम, इन दोनों का अनुमान तो अष्टाध्यायी के देखने से ही हो जाता है। पतंजलि ने भी लिखा है—'प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता यत्नेन सूत्रं प्रणयति स्म'। अर्थात् प्रमाणभूत आचार्य ने पवित्रता के साथ शुद्ध स्थान में बैठकर बड़े परिश्रम से इस शास्त्र की रचना की। जिस समय यह शास्त्र बन गया, तो इसको लेकर आचार्य पाटलिपुत्र की विशिष्ट राज सभा में गए। राजेश्वर ने काव्यमीमांसा में लिखा है—

पाटलिपुत्र की राजसभा में शास्त्रकारों की परीक्षा होती थी। उपवर्ष,

वर्ष, पाणिनि, पिंगल,[1] व्याडि, वर रुचि और पतंजलि उस परीक्षा में उत्तीर्ण होकर यशस्वी बने थे। जिसने किसी शास्त्र-विशेष की रचना की होती थी, वह उसे राज सभा में परीक्षार्थ प्रस्तुत करता था। उस परीक्षा में सफल होने के बाद ही उसका काव्य या शास्त्र मान्य समझा जाता था। इस सभा का थोड़ा-सा वर्णन हमको यूनानी विद्वानों से भी मालूम होता है। पाणिनि के समय पाटलिपुत्र में नन्द-राजाओं का राज्य था। वहाँ उस समय राजसभा का ऐसा निमम था कि जिस किसीने भी विशेष अनुसंधान का कार्य किया हो, या विशेष ग्रन्थ की रचना की हो, तो वह उसको उस परिषद् के सामने रखता था। परिषद् के सामने जब पाणिनि का ग्रन्थ आया, तो राजसभा के विद्वानों ने इसकी बड़ी प्रशंसा की कि व्याकरण शास्त्र में ऐसा ग्रन्थ आज तक नहीं बना। राजा भी उससे बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने प्रसन्न होकर कहा कि जो इस शास्त्र को कण्ठस्थ करेगा, उसको एक सहस्र मुद्रा इनाम में दी जायगी। यह उस समय का राज-नियम था। इस वर्णन से हमें पाणिनि के जीवन की अच्छी रूप-रेखा प्राप्त होती है। पतंजलि के महाभाष्य से पता चलता है कि पाणिनि अत्यन्त बुद्धिशाली आचार्य थे। पतंजलि ने पाणिनि के लिए 'कवि'-पद का प्रयोग किया है (अकीर्तितमा चरितं कविना)। टीकाकारों ने कवि का अर्थ मेधावी और प्रतिभाशाली किया है। पतंजलि ने पाणिनि को भगवान् आचार्य, प्रमाणभूत आचार्य एवं सुहृद्भूत आचार्य अर्थात् पूज्य, प्रामाणिक और हितबुद्धि रखने वाला बताया है।

शलातुर गाँव का भी पता लग गया है। कैम्बलपुर-ज़िले में जहाँगीरा स्टेशन के पास जिस स्थान पर हम सिन्धु नदी पार करते हैं, वहाँ से १० मील पर एक गाँव है, जिसे अब 'लहुर' कहते हैं। वहाँ से कुछ कुषाणकालीन पत्थर की मूर्त्तियाँ भी मिली हैं; पर उनमें स्वयं पाणिनिकी कोई ऐसी मूर्ति अब तक नहीं मिली, जिसे श्यूआन् च्याङ्ने देखा था।

---

[1] श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकार परीक्षा।
अत्रोपवर्ष-वर्षाविह पाणिनिपिंगलाविह व्याडिः।
वररुचिपतंजली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः॥

पाणिनि के शास्त्रका महत्त्व

पाणिनि ने अपना शास्त्र सूत्र-रूप में रचा है। इन सूत्रों की संख्या ३६६५ है। सूत्र-साहित्य की एक विशेष प्रकार की शैली है। यह शैली केवल भारतवर्ष में ही मिलती है। पाणिनि सूत्र-युग के अन्तिम महान् आचार्य कहे जा सकते हैं। उनके सूत्र अत्यन्त ही गँटी और मँजी हुई शैली में हैं। पाणिनि के सूत्रों पर कात्यायन ने वार्तिक रचे। कात्यायन के विषय में ऐसा समझना भूल है कि वे पाणिनि के ग्रन्थ में दोष निकालनेवाले उनके प्रतिपक्षी थे। सच्ची बात यह है कि कात्यायन के मन में पाणिनि के लिए बहुत आदर था। उन्होंने 'भगवतः पाणिनेः सिद्धम्' कहकर अपने वार्तिकों को समाप्त किया है। कात्यायन के वार्तिकों के कारण पाणिनीय शास्त्र की पूर्णता, प्रामाणिकता और गम्भीरता में वृद्धि हुई है। पाणिनि के सूत्र और कात्यायन के वार्तिक दोनों को लेकर पतंजलिने महाभाष्य की रचना की। महाभाष्य से पहले भी 'अष्टाध्यायी' पर कुछ टीकाएँ लिखी गई होंगी। पतंजलि ने 'माथुरीवृत्ति' का उल्लेख किया है, जो परिभाषावृत्ति के कर्त्ता पुरुषोत्तम देव के अनुसार 'अष्टाध्यायी' की एक अतिप्राचीन टीका थी। सूत्र ३।२।१०८ पर दिए हुए उदाहरणों से मालूम होता है कि कौत्स नाम के शिष्य ने पाणिनि के पास अध्ययन किया था। ऐसा मानने का पर्याप्त कारण है कि स्वयं पाणिनि के द्वारा सूत्रों की व्याख्या हुई थी। सूत्र १।४।१ की दो तरह की व्याख्या में पतंजलिने लिखा है कि पाणिनिने दोनों तरह से शिष्यों को सूत्र पढ़ाया, इसलिए दोनों अर्थ प्रामाणिक हैं। पाणिनि से ही सूत्रों की व्याख्या की पद्धति चली। व्याकरण पढ़ने वाले जानते हैं कि कई प्रयोग ऐसे हैं जिनको उदाहरण के रूप में सब टीकाकारों ने अपनाया है। वे उदाहरण इस शास्त्र में सबसे पुराने हैं और सम्भवतः पाणिनि के समय से ही चले आते रहे हैं। ऐसे उदाहरणों को मूर्धाभिषिक्त कहते हैं। कात्यायन और पतंजलि ने पाणिनि के सूत्रों को नया प्राण देकर उन्हें सदा के लिए प्रमाणित और मण्डित कर दिया। व्याकरण शास्त्र की बहुत विस्तृत सामग्री इन दोनों आचार्यों ने वार्तिक और भाष्य में सुरक्षित कर दी है। पाणिनि के सूत्रों पर जो प्रामाणिक टीकाएँ लिखी गईं, उनके नाम ये हैं—कुणिवृत्ति, माथुरीवृत्ति, पतंजलिकृत चूर्णि

या महाभाष्य, भर्तृहरिकृत त्रिपादी, भागवृत्ति, वामन और जयादित्यकृत काशिका, जिनेन्द्रबुद्धिकृत न्यास, हरदत्तकृत पदमंजरी, कैयटकृत प्रदीप, नागेशकृत प्रदीपोद्योत और भट्टोजि दीक्षितकृत शब्दकौस्तुभ। सबसे पुरानी टीकाओं का रूप यह होता था—(१) सूत्र की चर्चा अर्थात् पदविग्रह, (२) वाक्याध्याहार या अनुवृत्ति, (३) उदाहरण और (४) प्रत्युदाहरण। बाद की टीकाएँ विस्तृत होती चली गईं, यहाँ तक कि शब्द कौस्तुभ में यह विस्तार चरम सीमा को पहुँच गया। पाणिनिकी उपलब्ध टीकाओं में काशिका सबसे अधिक सुन्दर, मूल्यवान् ऐतिहासिक सामग्री से युक्त एवं प्राचीन परम्परा की रक्षा करने वाली है।

पाणिनि के व्याकरण में विस्तृत और मूल्यवान् ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध होती हैं। पाणिनि ने इस दृष्टि से अपना शास्त्र नहीं लिखा था कि वे इतिहास की बातों का संग्रह करें। लेकिन भाषा में शब्द किसी न-किसी संस्था का प्रतीक होता है, अथवा किसी स्थान, गोत्र, ग्रन्थ आदिका नाम होता है। व्याकरण के ग्रन्थ में ऐसे शब्दों को स्थान मिलता है। इसकी वजह समझ लेनी चाहिए। पाणिनि ने एक प्रकरण में 'तेनक्रीतम्' सूत्र लिखा है। बाजार से खरीदी हुई किसी चीज़ के लिए क्या शब्द प्रयुक्त किया जाय, इसका इस प्रकार के सूत्रों में विचार है। जैसे एक कार्षापण से खरीदी हुई वस्तु कार्षापणिक कहलाती थी। कार्षापणिक शब्द में मूल कार्षापण शब्द का अर्थ कुछ बढ़ गया है। आजकल के उदाहरण से यह बात ठीक समझ में आ सकेगी। 'चवन्नी चरितावली' का अर्थ है चार आने में प्राप्त होनेवाली पुस्तक। प्रश्न होता है कि यह अर्थ 'चवन्नी' शब्द में कहाँ से आ गया? व्याकरण में इसे कहते हैं वृत्ति, अर्थात् शब्दों में अपने अर्थ से अधिक अर्थ कहने की जो शक्ति आ जाती है, उसका नाम वृत्ति है। उस शक्ति को प्रकट करने के लिये प्रत्यय का सहारा लेते हैं। शब्दों द्वारा यदि हम अधिक अर्थ कहना चाहते हैं, तो उस शब्द में प्रत्यय लगाकर शब्द की शक्ति को बढ़ा देते हैं। उदाहरण के तौर पर वर्ष शब्द है। इस शब्द में 'इक' प्रत्यय लगा देने वार्षिक बनता है, 'वार्षिक अधिवेशन', 'वार्षिक सम्मेलन' आदि का अर्थ है से 'वर्ष में होनेवाला'। 'वर्ष में होनेवाला' यह विशिष्ट अर्थ शब्द में 'इक' प्रत्यय जोड़कर प्रकट किया गया है। इसीका नाम वृत्ति है। व्याकरण

शास्त्र बनाते समय पाणिनि ने अपने समन में देखा होगा कि कितने ही प्रकार की वृत्तियाँ लोक में चालू थीं। आज यदि हम अपनी हिन्दी-भाषा का व्याकरण बनाने के लिए बैठ जायँ, तो हमें भी इसी पद्धति से शब्दों की छान-बीन करनी पड़ेगी। यह जो हमारा विस्तृत लोक-जीवन है, इस सारे लोक-जीवन की छान-बीन करके हमें सूची बनानी होगी कि कितने प्रकार की वृत्तियाँ लोक में प्रचलित हैं। यह देखकर आश्चर्य होता है कि पाणिनि ने कितनी गहराई से छान-बीन करके अनेक अर्थों वाली इन वृत्तियों का अध्ययन किया और उनसे सम्बन्ध रखने वाले अर्थों और शब्दों को अष्टाध्यायी में स्थान देकर सूत्रों की रचना की।

लोक-जीवन की झाँकी

व्याकरण को प्रायः शुष्क विषय कहते हैं। किन्तु यदि इस दृष्टि से देखें, तो व्याकरण भी रुचिकर विषय बन जाता है। उस समय के लोक-जीवन की सामग्री को, जिसके विषय में हम अन्य प्रकार से अधिक नहीं जानते, पाणिनि ने विलक्षण ढंग से हमारे सामने रखा है। पाणिनि के व्याकरण में वृत्तियों या शब्दों के द्वारा प्रकट किए जाने वाले अर्थों के कितने प्रकार हैं, इसका अच्छा ज्ञान तद्धित-प्रकरण से होता है। इस प्रकरण के सूत्रों में उस समय की सभ्यता का एक अच्छा चित्र मिल जाता है। उदाहरण के लिए इस युग में प्रचलित सिक्कों को लें। एक शतमान से जो खरीदा जाता था, वह शातमान कहलाता था। शतमान सौ रत्ती तोल का चाँदी का शलाकाकृति सिक्का था। उस समय के जो पुराने सिक्के प्राप्त हुए हैं, वे अंगरेजी में 'पंचमार्क्ड' (सं० आहत) कहलाते हैं। इस समय तक तक्षशिला से लेकर दक्षिण-भारत तक लगभग २०-२५ हज़ार आहत सिक्के मिल चुके हैं। अष्टाध्यायी में इन्हें 'रूप से आहत' (रूपादाहत) कहा गया है। अंगरेज़ी सिम्बल का पर्याय संस्कृत 'रूप' है। भिन्न-भिन्न चिह्न या रूप ठप्पों के द्वारा बराबर तोल वाले चाँदी के टुकड़ों पर छाप दिए जाते थे। इस तरह के सब सिक्कों पर कुछ मिलाकर लगभग ५०० रूप या चिह्न पाए गए हैं, जैसे वृषभ, सूर्य, चक्र आदि। रूप से ठोंका जाने के कारण सिक्का रूप्य कहलाता था। पालिग्रन्थों में सिक्के पर रूप के आहत करने को 'रूप्य समुत्थापन' कहा है (रूपं छिन्देत्वा, रूपं समुत्थापेत्वा)। इस प्रकार के

आहत सिक्के पाणिनि के समय में चलते थे। ६०० ई० पूर्व के लगभग शतमान सिक्के का वर्णन ब्राह्मण और श्रौतसूत्रों में आता है। यदि यजमान ब्राह्मण को दक्षिणा दे, तो चाँदी के शतमान सिक्के की दक्षिणा होती थी (तस्य राजतम् शतमानं दक्षिणा भवति)। पाणिनि ने शतमान का नाम दिया है। बाजार में जाकर एक शतमान में जो चीज़ खरीदी जाती थी, उसे शातमान कहते थे। तक्षशिला के आस पास की खुदाई में 'शतमान' नामक सौ रत्ती तोल के चाँदी के सिक्के मिले हैं। प्राचीन आहत मुद्राओं की इतनी अच्छी सामग्री जितनी अष्टाध्यायी में मिली है, किसी अन्य ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हुई।

शतमान से जो छोटा सिक्का था, उसे शाण कहते थे। पाणिनि के दो सूत्रों में इसका नाम आया है। प्रश्न यह था कि जिस चीज़ को शाण सिक्के से खरीदा जाय, उसका क्या नाम होगा? शाण क्या सिक्के की तोल के विषय में महाभारत के वनपर्व में लिखा है—'अष्टौ शाणाः शतमानं वहन्ति', अर्थात् एक शतमान बराबर आठ शाण के। १०० रत्ती यानी १८० ग्रेन के शतमान का आठवाँ हिस्सा साढ़े बारह रत्ती का शाण हुआ। एक दूसरा सिक्का कार्षापण था। जिस तरह से आज कलदार रुपया चालू सिक्का है, उसी तरह ५००-६०० ई० पूर्व में कार्षापण चलता था। इसका सबसे प्राचीन उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में ही आता है। कार्षापण दो तरह का होता था, एक सोलह मासे अर्थात् ३२ रत्ती का। उस समय एक चाँदी का मासा दो रत्ती का होता था। इस तरह ३२ रत्ती का एक कार्षापण था। दूसरी तरह का कार्षापण सिक्का ४० रत्ती या २० मासे का होता था। अष्टाध्यायी में उसे विंशतिक कहा गया है। इन सिक्कों के अलावा और भी नाम आए हैं, जो उस समय चलते थे, जैसे अर्ध-कार्षापण, पाद-कार्षापण, माषक आदि। ताँबे के भी सिक्के होते थे। लेकिन ताँबे के कार्षापण के एक मासे का वज़न पाँच रत्ती के बराबर होता था। वह १६ मासे या ८० रत्ती का होता था। इस प्रकार 'तेनक्रीतम्' (उसे मोल लिया) सूत्र के प्रकरण में प्राचीन भारतीय सिक्कों की मूल्यवान् सामग्री अष्टाध्यायी में पड़ी रह गई है।

अब दूसरा उदाहरण लें। उस समय भिन्न-भिन्न तरह के अन्न होते थे।

अन्न खेतों में बोए जाते थे। जिस खेत में जो अन्न बोया जाता था, खेत का नाम उसी अन्न के नाम से पड़ जाता था। इस अर्थ को सूचित करने के लिए प्रत्यय लगाए जाते थे। साँठी चावल के खेत को षाष्टिक्य, जड़हन के खेत को शालेय और कुँवारी धान के खेत को ब्रैहेय कहते थे। पाणिनि के अनुसार महाव्रीहि एक तरह का चावल था। यह मगध देश में पैदा होता था। चीनी यात्री श्यूआन् च्वाङ्ने नालन्दा-विश्वविद्यालय में पढ़ते हुए वह चावल खाया था और उसकी बड़ी प्रशंसा की है। पाणिनि ने देविका नदी का नाम दिया है। टीकाकारों के अनुसार देविका के किनारों पर बढ़िया शालि चावल होता था (देविकाकूले भवाः दाविका कूलाः शालयः, ८।३।१)। देविका पंजाब की एक नदी थी, जो सियालकोट-जिले में होकर बही है। आज भी देविका के किनारे कमोकी मंडी का चावल प्रसिद्ध है।

कुछ सूत्रों में कंबल और वस्त्रों का वर्णन है। 'परिवृतो रथः' (रथ मँढ़ा गया, ४।२।१०) सूत्र में रथों को वस्त्रों से मँढ़ने का उल्लेख है। चमड़े से भी रथ मँढ़े जाते थे। इस प्रकार के दो रथों का वर्णन पाणिनि ने किया है—द्वैप यानी द्वीपी के चमड़े से मँढ़ा गया रथ और वैया यानी व्याघ्र के चमड़े से मँढ़ा हुआ रथ। मालूम होता है कि इस तरह के रथ ५००-६०० ई० पूर्व में बहुत चलते थे। जातकों में भी इन दोनों प्रकार के रथों का वर्णन आया है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में चारों दिशाओं से राजा जो भेंट लाए थे, उनमें पूर्वी देश के राजा वैयाघ्र रथ लाए थे। उस रथ की कीमत एक हज़ार कार्षापण के बराबर थी। वैदिक साहित्य में भी जहाँ राजाओं के राज्याभिषेक का वर्णन है, वहाँ वैयाघ्र रथ का उल्लेख आया है। वैयाघ्र चर्म से बने हुए आसन पर बिठाकर राजा की सवारी निकाली जाती थी।

इसी प्रसंग में दूसरा सूत्र आता है, जिसमें 'पांडुकम्बली' शब्द आता है। जो रथ पीले कंबल से मँढ़ा गया हो, उसे पांडुकम्बली कहते हैं। यह कैसा रथ होता था और ये कम्बल कहाँ से आते थे, यह एक प्रश्न था। जातकों को पढ़ते हुए उसमें एक श्लोक मिला—**इंद्रगोपक वएणाभा गंधारा पांडुकंबला**। इन्द्रगोपा बीरबहूटी को कहते हैं। वह कम्बल जो बीरबहूटी के

जैसे चटकीले लाल रंग का होता था और गांधार देश में बनाया जाता था, पांडुकंबल कहलाता था। इस तरह के कंबल बनाने का काम गधार देश में बहुत दिनों से चला आता है। सौभाग्य से यह कला अभी तक वहाँ जीवित है। सर आरेल स्टाइन जब स्वात-घाटी में गए, तो उन्होंने यह कला वहाँ देखी। पेशावर के बाजार में स्वाती कंबल अभी तक बिकने आते हैं। वनस्पतियों से तैयार किए हुए लाल रंगों से ये कंबल रँगे जाते थे। कम्बलों के बनाने की यह परंपरा जातकों के और पाणिनि के काल से आज तक ढाई-तीन हज़ार वर्षों की जीवित कला है।

राष्ट्रीय एकता

पाणिनि का जन्म पश्चिमोत्तर भारत में हुआ था, पर उन्होंने प्राच्य और उदीच्य दोनों भागों का वर्णन किया है। उनके शास्त्र में प्राच्य देश के मुख्य-मुख्य एकराज जनपदों—भरत कोसल, मगध आदि—का उल्लेख आया है। 'प्राचां क्रीड़ायाम्' और नित्यं क्रीड़ाजीविकयोः' सूत्रों में उन्होंने पूर्वी भारत में होनेवाली शालभंजिका, पुष्प-प्रचायिका आदि क्रीड़ाओं का उल्लेख किया है। ऐसा मालूम होता है कि प्राचीन भारतवर्ष में इस प्रकार के कई खेल होते थे। उनका अंकन हमें भारतीय शिल्प में भी मिलता है। साँची, मथुरा आदि में इस प्रकार की उद्यान-क्रीड़ाओं के दृश्य बहुत-से स्तम्भों पर उत्कीर्ण मिले हैं। दण्डी कवि ने उद्यान-क्रीड़ा और सलिल-क्रीड़ा के विषय में कहा है कि काव्यों में इनका वर्णन आवश्यक है। कालान्तर में इस देश के साहित्य में लगभग १८ वीं शताब्दि तक काव्यों में उद्यान-क्रीड़ाओं और जल-क्रीड़ाओं का उल्लेख होता रहा। व्याकरण शास्त्र में अशोक-पुष्प-प्रचायिका, वीरणपुष्प-प्रचायिका, उद्दालक-पुष्प-भंजिका, शालभंजिका आदि क्रीड़ाओं का उल्लेख आता है। रक्ताशोक वृक्ष पहले मथुरा के आसपास होता था। दुर्भाग्य से ज्यों-ज्यों वर्षा पश्चिम-भारत में कम होती गई, रक्त अशोक वहाँ से पूर्व की ओर हटता गया। रक्त अशोक के फूल चुन-चुनकर स्त्रियाँ जिस क्रीड़ा को करती थीं, वह अशोक-पुष्पप्रचायिका कहलाती थी। इस प्रकार और भी फूलों के नाम से क्रीड़ाओं के नाम पड़ गए थे।

भौगोलिक दृष्टि से अष्टाध्यायी में महत्त्वपूर्ण विस्तृत सामग्री का समावेश पाया जाता है। वैदिक काल से मौर्य-काल तक से भारतीय भूगोल की सामग्री को लेकर अब तक किसी भी भाषा में सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ नहीं बना। इसलिए किसी भी शोधसंस्था के लिए भारतीय भौगोलिक कोष का निर्माण एक अच्छा कार्य हो सकता है। अफ़ग़ानिस्तान के अनेक भौगोलिक स्थानों के नाम भारतीय संस्कृत-साहित्य में प्राप्त होते हैं। अफ़ग़ान शब्द स्वयं अश्वकायन से बना है। पठान शब्द का उल्लेख वेदों में पक्थन नाम से आया है। उनकी भाषा का आज भी पख़्तून नाम है, जिसका बिगड़ा रूप पख्तो है। स्वात का नाम सुवास्तु हमें पाणिनि से मिलता है। हैरात के पास एक नदी है, जिसका नाम हरीरूद है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में उसका नाम सरयू आया है। ईरानी उच्चारण के कारण उसका नाम हरयू हुआ और वही हरीरूद (रूद = नदी) हुआ।

दो बड़ी कबायली जातियाँ मोहमन्द और अफ़रीदी हैं। उनके संस्कृत नाम 'मधुमन्त' और 'आप्रीत' थे, जो पाणिनि की अष्टाध्यायी और महाभारत के भीष्मपर्व में प्रयुक्त हुए हैं। अष्टाध्यायी में सौवीर देश का नाम आया है, जो आधुनिक सिन्ध का प्रदेश था। उस समय भारतवर्ष की भौगोलिक सीमा मध्य-एशिया तक थी। अशोक के समय में भी मध्य-एशिया तक उनका विजित या राज्य था। पामीर का पुराना नाम कम्बोज था। कम्बोज देश की राजधानी द्वारिका थी, जिसे इस समय दरवाज़ कहते हैं।

अफ़ग़ानिस्तान में काबुल के ६० मील उत्तर में कपिशा एक प्राचीन स्थान था, जहाँ खुदाई में कला की वस्तुएँ और शिला लेख भी निकले हैं। यहाँ से बड़ी अच्छी किस्म की शराब आती थी। कौटिल्य के अर्थ शास्त्र में दो तरह की शराबों का वर्णन आया है, जो इस देश के कापिशायन और हारहूरक नाम के अंगूरों से बनती थीं। हरे रंग के अंगूर से बनी हुई कपिशा से आने वाली जो शराब या मधु था, उसके लिए 'कापिशायन मधु' का उल्लेख व्याकरण में आया है। और दूसरी दक्षिणी अफ़ग़ानिस्तान के हारहूर-प्रदेश में पैदा होनेवाली काली दाख से बननेवाली हारहूरक शराब थी। इन दोनों का उल्लेख कौटिल्य ने अर्थ शास्त्र में किया है। कौटिल्य पाणिनि के एक शती बाद हुए। उन्होंने इस देश

का जो वर्णन किया है, उसमें पाणिनि की बहुत-सी बातें मिल जाती हैं। अपने देश के बड़े प्रदेशों में पंजाब के मद्र जनपद और उसकी राजधानी शाकल (सियालकोट) के नाम अष्टाध्यायी में आए हैं। मद्र उत्तरी पंजाब में चिनाब के किनारे पर था। इसके पास उशीनर था। इसके आगे कुरु-जनपद आता है। इसके आगे क्रमशः कोसल, मगध, कलिंग, सूरमस, ये कई जनपद थे। सूरमस आसाम की सूरमा घाटी का पुराना नाम था।

इस सारे प्रदेश में दो प्रकार के राज्य थे—एक में राजा का शासन था दूसरे में संघ-राज्य थे। संघ के लिए पाणिनि ने गण शब्द का भी प्रयोग किया है। गणों का विधान महाभारत में मिलता है। जहाँ आजकल संयुक्त-प्रान्त (उत्तर-प्रदेश) है, वहाँ विशेषकर एक राजाधीन राज्य थे, और पंजाब का इलाका अधिकतर गण-राज्यों से भरा हुआ था। पाणिनि ने वाहीक देश के संघों या गणों के नाम दिए हैं। क्षुद्रक और मालव यह एक संयुक्त राज्य था। क्षुद्रक मालवों की क्षौद्रक मालवी सेना ने सिकन्दर का मुकाबला किया था।

पाणिनि के समय संस्कृत-साहित्य का बहुत विस्तार हो चुका था। उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकार के साहित्य का कर्तृत्व की दृष्टि से वर्गीकरण करके उसका नाम दिया है, जैसे (१) दृष्ट, (२) प्रोक्त, (३) उपज्ञात, (४) कृत और (५) व्याख्यान सामवेद के लिए दृष्ट शब्द का प्रयोग हुआ। वेद की शाखाओं, ब्राह्मणों और अन्य चरण-साहित्य की गिनती 'प्रोक्त' के अन्तर्गत थी। 'उपज्ञात' उस शास्त्रीय साहित्य को कहते थे, जिसकी रचना सर्वप्रथम किसी आचार्य ने की हो। उसी आचार्य के नाम से उस साहित्य का नाम होता था। पाणिनि स्वयं अपने व्याकरण के आद्यप्रवक्ता आचार्य थे। उनका पाणिनीय व्याकरण उपज्ञात कोटि का था। चौथे प्रकार के ग्रन्थ थे काव्य, श्लोक, नाटक आदि, जो 'कृत ग्रन्थ' कहलाते थे। पाँचवें प्रकार का साहित्य व्याख्यान-साहित्य था। यज्ञीय कर्मकाण्ड और व्याकरणादि शास्त्रों पर बहुत-से व्याख्यान ग्रन्थों की रचना पाणिनि के समय में हो चुकी थी। जो व्याख्यान जिस ग्रन्थ पर बनता था, उसी नाम से व्याख्यान वाले ग्रन्थ का नाम रखा जाता था (तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यात व्यनाम्नः, ४।३।६६)। गोल्डस्टुकर ने पाणिनि का अध्ययन करते हुए लिखा था कि अष्टाध्यायी में केवल

तीन या चार ग्रन्थों के नाम मिलते हैं। लेकिन सत्य यह है कि पाणिनि को न केवल मुख्य-मुख्य प्रकार के साहित्य का परिचय था, बल्कि विशेष साहित्यिक ग्रन्थों के भी कुछ नाम उन्होंने दिए हैं। शिशुक्रन्दीय, यमसभीय, इन्द्रजननीय, ये तीन नाम सूत्र में आए हैं (४।३।८८)। व्याकरण के विशेष प्रकरणों पर आश्रित ग्रन्थों की रचना उस समय तक हो चुकी थी। सुबन्त या संज्ञा शब्दों का ग्रन्थ 'नामिक', लिङन्त या धातुओं का ग्रन्थ 'आख्यातिक', कृदन्त प्रत्ययों का ग्रन्थ 'कार्त', उदात्त-अनुदात्त स्वरों का ग्रन्थ 'नातानतिक', मूर्धन्य विचार या षत्व-णत्व (सेरीब्रेलाइज़ेशन) से सम्बन्धित ग्रन्थ 'षात्वणात्विक', पुरश्चरण का वर्णन करनेवाला ग्रन्थ 'पौरश्चरणिक', यज्ञीय कर्मकाण्ड का व्याख्यान-ग्रन्थ 'आध्वरिक' कहलाता था। ग्रन्थों के नाम किस प्रकार रखे जायँ, इसी दृष्टिकोण को लेकर पाणिनि ने इस प्रकरण का समावेश अष्टध्यायी में किया था, जिसके फलस्वरूप बहुमूल्य साहित्यिक सामग्री अष्टाध्यायी में सुरक्षित रह गई है।

इस प्रकार अनेक संस्थाओं का उल्लेख अष्टाध्यायी में आया है। भाषा का एक-एक शब्द अर्थों का प्रतीक है। शब्दों के पीछे संस्थाओं का इतिहास रहता है। आचार्य ने संक्षिप्त शैली से अपने शास्त्र की रचना की। जो प्रयोग (लक्ष्य) में आनेवाला शब्द का विस्तार था, उसको आधार मानकर उन्होंने नियम या सूत्र (लक्षण) बनाए। प्राचीन परिभाषा के अनुसार 'लक्ष्य-लक्षण' का नाम ही व्याकरण था। पाणिनि के सामने संस्कृत वाङ्मय और लोक-जीवन का बृहत् भंडार फैला हुआ था। वह नित्य-प्रति प्रयोग में आनेवाले शब्दों से भरा हुआ था। इस भंडार में जो शब्द कुछ भी निजी विशेषता लिए हुए था, उसी का उल्लेख सूत्रों में या गणपाठ में आ गया है। फल-स्वरूप भूगोल, सामाजिक जीवन, शिक्षा और साहित्य, कृषि- वाणिज्य-व्यवसाय, सिक्के-नापतौल आदि से संयुक्त आर्थिक जीवन, राजनीति, दर्शन और धर्म, इन सबकी बहुविधि सामग्री अष्टाध्यायी में अनायास संगृहीत हो गई है। प्राचीन शैली के पढ़नेवाले जो विद्यार्थी हैं, वे इस सामग्री को अपने अध्ययन के समय ध्यान में रखकर यदि अध्ययन करेंगे, तो एक अष्टाध्यायी के अध्ययन से ही उनको प्राचीन समय का बहुत अच्छा भौगोलिक और सांस्कृतिक ज्ञान

प्राप्त हो सकेगा। इस दृष्टिकोण से व्याकरण का पढ़ना-पढ़ाना रोचक बन जायगा। कोरी दांत किटाकिट कहकर पाणिनीय शास्त्र की अवहेलना करना उसके साथ अन्याय करना है। इस देश में ढाई सहस्र वर्षों से बच्चे से बूढ़े तक जो संस्कृत भाषा सीखना चाहते हैं, पाणिनि के सूत्रों का अध्ययन करते हैं। पाणिनि के यश के लिए ठीक ही कहा गया है कि वह बालकों तक में फैल गया था—

'आकुमारं यशः पाणिनेः'।

पाणिनि का व्याकरण हमारी राष्ट्रीय एकता का प्रतीक था। शारदा देश काश्मीर एवं विशालबद्री के आश्रम से सेतुबन्ध रामेश्वर और कन्याकुमारी तक, जहाँ तक भारतवर्ष है, वहीं तक संस्कृत का विस्तार था, और जहाँ तक संस्कृत है, वहीं तक पाणिनीय अष्टाध्यायी की मान्यता थी। आज जब हम पुनः अपनी संस्कृति के मूल स्रोतों की खोज में हैं, हमें द्विगुणित उत्साह से अपने राष्ट्र के सबसे महान् आचार्य के ज्ञान का स्वागत करना चाहिए।

---

८. अशोक का लोक सुखयन धर्म

देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा अशोक की सबसे बड़ी विजय धर्मविजय थी। कलिंग विजय के बाद अशोक में विचारों का जो परिवर्तन हुआ उसके कारण उस ने धर्म के वास्तविक तत्त्व पर बहुत काफी चिंतन किया। जान पड़ता है, विचार करते हुए वह अन्त में ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचा जिसका मनुष्य-जीवन के साथ घनिष्ट संबंध है। अशोक के लिए धर्म न तो संप्रदायों और मत-मतांतरों की, जिनकी काफी संख्या उस समय भी देश में थी, बपौती थी, और न इस लोक के जीवन से दूर केवल परलोक में स्वर्ग जैसे किसी प्रलोभन को वश में कर लेने का कोई नुस्खा था। अशोक ने अपने महान् व्यक्तित्त्व और विशाल मस्तिष्क की शक्ति से भारतीय ज्ञान और दर्शन की प्राचीन परंपराओं को मथकर उनका तत्त्व खींच निकाला। उसीको उसने 'सारवढि' अर्थात् धर्मों के सार की वृद्धि कहा है।

देवों के प्रिय प्रियदर्शी राजा सब सम्प्रदायों, साधुओं और गृहस्थों का सम्मान करते हैं और बहुत तरह की पूजा से उनको पूजित करते हैं। लेकिन कोई भी दान और पूजा देवानांप्रिय की दृष्टि में इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी सब सम्प्रदायों के सार की वृद्धि (शि० ले० १२)।

धर्म के तत्त्व की यह नई परिभाषा अशोक का अपने अंतर्ज्ञान और प्राणिमात्र की कल्याण-भावना से मथा हुआ मक्खन है। जैसा विशाल उसका हृदय था, उसी विशालता के अनुसार धर्म की एक सार्वभौम परिभाषा पर उसका मन जाकर टिका। न तो उसे धर्म के नाम से प्रचलित किसी एक सम्प्रदाय को औरों की उपेक्षा करके आगे बढ़ाना अभीष्ट था और न उसके जैसी सूक्ष्म तार्किक बुद्धि और अन्तर्राष्ट्रीय तथा उदार भावना के व्यक्ति के लिए धार्मिक परिभाषा के किसी तंग बंधन को स्वीकार करना ही संभव था। अतएव अपनी सारग्राहिणी सूक्ष्म प्रतिभा से अशोक ने मौर्यकालीन राष्ट्र के

उस महान् युग में महान् पराक्रम किया। धर्म की सार्वभौम परिभाषा का निर्णय करने और अपनी प्रजाओं के एवं अपने मित्र राजाओं के जीवन में उस धर्म को सत्य कर दिखाने का कार्यक्रम, यही उस पराक्रम का स्वरूप था।

अशोक के धर्म पर विस्तृत विचार करने से पूर्व बौद्धधर्म के साथ जो उसका संबंध था उसपर भी विचार करना आवश्यक है। बौद्धसाहित्य के दिव्यादान आदि ग्रंथों में अशोक को भगवान् बुद्ध के शासन में दीक्षित कहा गया है। अपने कोष, महापृथिवी, अंतःपुर, अमात्यगण, आत्मा और कुणाल को भी आर्यसंघ को सौंप कर अशोक का मन प्रसन्न न हुआ। इसपर राधागुप्त अमात्य ने पूछा "आप उदास क्यों हैं?" अशोक ने कहा 'संघ से मैं विप्रयुक्त हूँ, इसलिये दुःखी हूँ" (दिव्यावदान पृ० ४३०)। इसमें संदेह नहीं कि बौद्धधर्म और संघ के साथ अशोक का घनिष्ट संबंध था। उसने भगवान् बुद्ध के जन्मस्थान लुंबिनी गाँव की अपने अभिषेक के बीसवें वर्ष में यात्रा की (रुम्मिनदेई स्तंभलेख)। उस अभिषेक के चौदहवें वर्ष में पूर्वकाल के एक बुद्ध कनक मुनि के स्तूप की यात्रा करके आकार में उसको दुगना बढ़ाया। इन बातों से बौद्धधर्म के साथ उसके जीवन का व्यावहारिक सम्बन्ध प्रकट होता है। बैराट शिलालेख से मालूम होता है कि बौद्ध संघ के प्रति भी अशोक के मन में संमान का भाव था।[1] उसने संघ को यथोचित अभिवादन किया है। संघ के लिये उसके मन में गौरव और प्रसाद अर्थात् श्रद्धा का भाव था। परन्तु उससे भी अधिक उसकी श्रद्धा भगवान् बुद्ध के उपदेशों के लिये थी। उसके शब्दों में भगवान् बुद्ध ने जो कुछ कहा है, वह सब सुन्दर कहा है। उस भगवान् के उपदेश को भिक्षु और भिक्षुणी, उपासक और उपासिकाएँ सर्वदा सुनें और धारण करें, यह उसका अभिमत था। इसी प्रसंग में बुद्ध के धर्म को उसने सद्धर्म कहा है और यह इच्छा प्रकट की है कि बुद्ध वचनों की रक्षा से ही सद्धर्म चिरस्थायी हो सकता है। मास्की से प्राप्त प्रथम

---

[1] **विदिते वे भंते आवतके हमा बुधसि धंमसि संघसी ति गालवे च प्रसादे च (बैराट लेख)।**

लघु शिलालेख में, जिसमें केवल एक बार अशोक का निजी नाम दिया गया है, स्पष्ट लिखा है—अंसुमि बुध-शके, अर्थात् में शाक्य बुद्ध का अनुयायी हूँ।' कलिंग विजय के डेढ़ वर्ष बाद तक अशोक बुद्धानुयायी उपासक बना रहा। तब तक उसने जीवन में जैसा चाहिए था वैसा पराक्रम नहीं किया था। वह कहता है कि एक वर्ष पहले जब से में संघ में आया हूँ, मैंने बहुत अधिक उद्योग किया है और पराक्रम का ही यह फल हुआ है।

इन बचनों से यह अवश्य ज्ञात होता है कि अशोक के मन पर बुद्ध के उपदेश की गहरी छाप पड़ी थी और वह एक गृहस्थ की भांति अपने आपको बौद्धधर्मानुयायी मानने लगा था। संघ में जाने (संघमुपगते) की घटना भी ऐतिहासिक सत्य है, किन्तु यह कहना कठिन है कि अशोक ने संघ में दीक्षित होकर चीवर पहन लिया था। संघ का जो विशेष प्रभाव उस पर पड़ा, बौद्ध-धर्म के बाहरी रूप के प्रचार के लिये नहीं था, क्योंकि उस विषय में उसने बार बार सब संप्रदायों के लिये अपने समान व्यवहार का उल्लेख किया है; बल्कि जिस तत्त्व को उसने धर्मरूप में ग्रहण किया था, उसके सर्वात्मना प्रचार के लिये अपनी सारी शक्ति से कटिबद्ध हो जाना, यह विशेष परिवर्तन संघ में आने के बाद उसके जीवन में हुआ। अपने राज्य-आसन को सुरक्षित रखते हुए साम्राज्य की भारी शक्ति को धर्म-विजय के आदर्श से संचालित करना, यही अब उसके उत्थान और उग्र पराक्रम का ध्येय बन गया।

भगवान् बुद्ध के अमृततुल्य वचन अशोक के सामने थे। भारतीय साहित्य की जो अन्य प्राचीन परम्पराएँ थीं, वे भी उसके सामने थीं। अनेक धार्मिक आचार्यों ने जिन प्राणदायक सत्यों का अपने जीवन में साक्षात्कार किया था और जिनसे भारतीय ज्ञान की महती परंपरा प्रतिष्ठित हुई थी। वह भी अशोक को अविदित न थी। उन सब का मथन करके अशोक ने धर्म के तत्त्व का मक्खन या अमृतभाग निकाला। धर्म क्या है? इसे बताने के लिये सीधे-साधे शब्दों में उसने स्वयं ही कहा है—

देवानांप्रिय ऐसा कहते हैं—"माता-पिता की सेवा करनी चाहिए। गुरुओं की सेवा करनी चाहिए। प्राणियों के प्रति दया का भाव दृढ़ करना

चाहिए। सच बोलना चाहिए। इन धर्म के गुणों को आगे बढ़ाना चाहिए। ऐसे ही अंतेवासी को आचार्य की सेवा-संमान करना चाहिए। सगे संबंधियों के साथ यथायोग्य व्यवहार करना चाहिए। यह पुरानी प्रकृति है। यह दीर्घायु को देने वाली है। ऐसा ही करना उचित है"। [1]

इन सरल शब्दों में अशोक ने अपने धार्मिक मंतव्य को कहा है। जतिंग रामेश्वर स्थान के इसी लेख में एक वाक्य और जोड़ा गया है जो धर्म की इस परिभाषा के साथ अशोक के सम्बन्ध को निश्चित कर देता है—

'हेवं धंमे देवानं पियस'

अर्थात् देवों के प्रिय राजा के मत में यही धर्म है। जीवन को ऊँचा उठाने वाले ये नियम अत्यन्त प्राचीन हैं और इसीलिये अशोक ने स्वयं मानों अपने धर्म की इस परिभाषा के लिये सार्वजनिक सहानुभूति और मतैक्य प्राप्त करने के लिये ही ऐसा कहा है—

'ऐसा पोराण पकिती।'

अर्थात् यह सनातन परंपरा है, यही पुरानी और चिरस्थायी जीवन पद्धति है। इसके स्वीकार करने में सबको एकमत होना चाहिए। इन धर्मगुणों को स्वीकार करने में किसी को बाधा नहीं हो सकती। तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली के अन्तर्गत गुरु अपने शिष्य को जो अनुशासन देता है उसमें और अशोक के धर्मगुणों में कितना साम्य है—

'सत्यं वद। धर्मं चर। मातृदेवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव।'

अर्थात्, सत्य बोलो। धर्म पर चलो। माता, पिता, आचार्य और अतिथियों की सेवा करो।

धर्म की इस परिभाषा को दूसरे स्तंभ-लेख में और भी स्पष्ट किया गया है। इस लेख में अशोक ने शृंगग्राहिकया शैली से स्पष्ट कहा है—

---

[1] **लघु शिलालेख, २**

"धर्म अच्छा है, लेकिन धर्म है क्या ? पापरहित होना, बहुत कल्याण करना दया, दान, सच्चाई और पवित्रता, ये धर्म हैं।"[1] धर्म की यह परिभाषा मनु के प्रसिद्ध दस लक्षणोंवाले धर्म के कितनी निकट है। मनु ने भी धृति, क्षमा दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धन, विद्या, सत्य और अक्रोध इन दस गुणों को जिनका सम्बन्ध नीति और सदाचार से है, धर्म कहा है। मनु की परिभाषा के अक्रोध, दम और इन्द्रियनिग्रह अशोक के 'अल्प आसिनव' के अन्तर्गत हैं। 'चंडता, निष्ठुरता, क्रोध, मान और ईर्ष्या, ये आसिनव या पाप के गड्ढे में मनुष्य को गिराते हैं' (स्तंभ लेख ३)। क्षमा, दया नामक धर्म गुण का पर्याय है। सत्य और शौच दोनों सूचियों में समान हैं। अग्रपराक्रम और अग्रउत्साह जिन पर अशोक ने इतना जोर दिया है ये ही धर्म मय जीवन के लिये धृति नामक गुण हैं। मनु के धी या ध्यान पर अशोक ने भी बहुत जोर दिया है। और अपने शब्दों में उसे 'निझति' कहा है। स्तंभ लेख सात में अनेक प्रकार से धर्म की व्याख्या और धर्म के लिये किये गये अपने कार्यों का परिगणन कराने के बाद कहा है "धर्म की वृद्धि दो तरह से होती है, एक तो बाहरी धर्म नियमों का पालन करने से और दूसरे निझति या ध्यान से। इनमें भी धर्म के नियम महत्त्व में कम हैं। निझति बहुत भारी है। धर्म नियम तो ऐसे समझिए जैसे मैंने यह किया, इन जीवों को अवध्य कर दिया, और भी जो काम मैंने किए, वे धर्म नियम हैं। पर निझति से ही मनुष्यों में सच्ची धर्मवृद्धि हुई है।" (स्तंभ लेख ७) वस्तुतः ध्यान के द्वारा मानसिक परिवर्तन ही "निझति" है। यही इस नये धर्म का रहस्य था जो उस युग के धर्म विषयक सार्वजनिक चिंतन को विशेषता थी। अशोक के बहुत कल्याणवाले धर्म में और मनु के दस लक्षणवाले धर्म में गहरी समानता देखते हुए यह मानना उचित प्रतीत होता है कि दोनों की आत्मा एक है। सम्प्रदाय विशेष या मतमतांतरों के विश्वास से धर्म को ऊपर उठाकर शील और सदाचार की दृष्टि से धर्म की

---

[1] **धंमे साधू कियं चु धंमे ति अपासिनवे बहुकयाने दया दनि सचे सोचिये (द्वतीय स्तंभ लेख)।**

परिभाषा करना और नीतिप्रधान मार्ग से जीवनक्रम को चलाना, यह उस युग के विचार की विशेषता थी। इसका सर्वोत्तम पुष्प हम अशोक में विकसित देखते हैं। अशोक जी धर्मविषयक वाणी और व्यास की भारत सावित्री दोनों का मर्म बिल्कुल एक है। अशोक कहते हैं "भेरी घोष को हटा कर मैंने धर्म-घोष चलया है" (शिलालेख ४)। वेदव्यास ने भी निम्नलिखित शब्दों में अपने व्यक्तित्व की छाप डालते हुए कहा है।

'ऊर्ध्व बाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ॥'

अर्थात् भुजा उठाकर मैं कह रहा हूँ कि धर्म से ही जीवन में अर्थ और काम का प्राप्ति होती है। उस धर्म की उपासना क्यों नहीं करते।

व्यास के 'न च कश्चिच्छृणोति मे' कोई मेरी बात नहीं सुनता की तरह अशोक ने भी ठीक इसी प्रकार के शब्दों में मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति का वर्णन किया है—

"कयानमेव देखति इयं मे कयनि कटेति नो मिन पापं देखति इयं मे पापं कटेति इयं वा आसिनवे नामाति। दुपटिवेखे चु खो एसा। हेवं चुखो एस देखिये। (स्तंभ लेख ३)। देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहता है—कल्याण या अच्छाई को ही हर कोई देखता है कि यह मैंने अच्छा काम किया है। पर पाप को कोई नहीं देखता कि यह मैंने पाप किया है, अथवा यह जो आचार हीनता मुझसे हुई है। अवश्य ही इस प्रकार का देखना बहुत ही कठिन है। परन्तु इसे इस तरह देखना ही चाहिए।"

अशोक और व्यास दोनों के कंठ की वाणी लगभग एक ही प्रकार से फूट पड़ी है। दोनों ने लोककल्याण की भावना से व्याकुल होकर मनुष्यों की एक साधारण कमजोरी की ओर इशारा किया है। अर्थ और काम के मुकाबले में धर्म की बात किसी को अच्छी नहीं लगती। अपने गुणों का ध्यान करने में लोग जितने तत्पर रहते हैं, अपनी त्रुटियों के प्रति उतने नहीं रहते और न उन्हें दूर करने में कड़ाई बरतते हैं। व्यास ने महाभारत में नये सिरे से धर्म की व्याख्या की। उनके मत में धर्म को धर्म इसलिये कहते हैं क्योंकि उससे प्रजाओं

को धारण किया जाता है। जिसके अन्दर धारण करने की शक्ति हो उसी को धर्म कहना चाहिए—

धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यस्याद् धारणसंयुक्त स धर्म इत्युदाहृतः॥'

व्यक्ति को, राष्ट्र को, जीवन को, संस्थाओं को, लोक और परलोक की धारण करने वाले जो शाश्वत सर्वोपिरि नियम हैं, वे धर्म हैं। धर्म स्वर्ग से भी महान् है। लोकस्थिति का सनातन बीज धर्म है। इस नई दृष्टि से देखने पर धर्म ओजस्वी प्रवाह की तरह जीवन को सींचने और पवित्र करने वाला अमृत है। राजाओं की जय और पराजय आने जाने वाली हैं, पर धर्म नित्य है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

[महाभारत का अन्तिम श्लोक]

अर्थात् काम से, भय से, लोभ से, यहाँ तक कि प्राणों के लिए भी धर्म को छोड़ना ठीक नहीं क्योंकि धर्म नित्य है, सुख और दुःख क्षणिक हैं। इसी तरह जीव भी नित्य है, जन्म और मृत्यु अनित्य है।

अशोक ने भी शील और सदाचार प्रधान धर्म को 'दीघावुस' या दीर्घ जीवी माना है (स्तंभ लेख २) और धर्म विजय को महाफला—बहुत फल देने वाली एवं परलोक में भी टिकाऊ कहा है (शिला लेख १३)। अशोक के अनुसार धर्म ही साधु है, धर्म ही जीवन का सार है।

जीवन के आदर्श परिवर्तनशील हैं और इतिहास इस बात का साक्षी है कि वे युगानुसार बदलते रहते हैं। किसी समय 'श्रेष्ठतमाय कर्मणे' (यजुर्वेद), श्रेष्ठतम कर्म के लिये जीवन को ढाला जाता था। ब्राह्मण ग्रंथों के युग में वह श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ था और यज्ञ का आदर्श ही जीवन का प्रधान आदर्श था। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' (१।७।१।५)[1]

इस आदर्श की समाज में जब अति हुई तब भगवान् बुद्ध के युग में उसकी प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। अशोक ने भी हिंसा की उस प्रवृत्ति की ओर इशारा किया है—

भूतानं' (शिलालेख ४)।

'अतिकांतं अंतरं बहूनि वाससतानि बढितो एव प्रणारंभो विहिंसा च अर्थात् पूर्वकाल में बहुत समय तक, अनेक संख्यक सैकड़ों वर्षों तक, पशुओं की हिंसा और सब भूतों के प्रति हिंसात्मक व्यवहार बढ़ता रहा। समाज में इस प्रकार की निरर्थक और उद्वेगकारिणी हिंसा से लोगों का मन फिरा और जीवन में एक नये आदर्श की खोज होने लगी। हिंसात्मक यज्ञ तब श्रेष्ठतम कर्म न रह गया। बुद्ध-युग में शील प्रधान धर्म आदर्शों के ऊँचे आसन पर प्रतिष्ठित किया गया। बुद्ध का प्रयत्न एकांगी न था, सारा समाज उस प्रकार के भाव से हिल रहा था। समाज में विचारों की वह असाधरण उथल-पुथल धर्म जैसी जीवन की सरल व्याख्या को प्राप्त कर के कुछ शांत हुई और स्थिर किनारे पर लगी। इसका गहरा प्रवाह हिन्दू साहित्य पर भी स्पष्ट है। संशोधित महाभारत संस्करण के विद्वान् संपादक श्री सुकथनकर ने महाभारत ग्रंथ पर पड़े हुए नीतिप्रधान धर्म के गंभीर प्रभाव को देख कर, उसकी विवेचना करते हुये लिखा है कि किसी गाढ़े युग में चौबीस हजार श्लोकों वाले वीरगाथा परक मूल काव्य को जिसके कर्ता वेदव्यास माने जाते थे एवं जिसमें भारत युद्ध के इतिहास का ही विस्तृत वर्णन था, भृगुओं ने, जिनको धर्म और नीति शास्त्र का विशेष ज्ञान था, अपनाकर उसका बृहत् संस्कार कर डाला और भारत को महाभारत के रूप में संसार को प्रदान किया। फलतः महाभारत केवल इतिहास ग्रंथ न रह गया, उसने धर्मग्रंथ का रूप ग्रहण कर लिया। महाभारत का विशाल प्रासाद धर्म की नींव पर रचा गया है। धर्म ग्रंथ

---

[1] यही बात यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र के 'श्रेष्ठतमं कर्म' शब्दों की व्याख्या करते हुए तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी कही है, यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म (३।२।१।४)।

महाभारत के नायक धर्म के पुत्र धर्मराज युधिष्ठर हैं। भारतयुद्ध धर्मयुद्ध है, युद्धभूमि को धर्मक्षेत्र कहा गया है, एवं नारायण को धर्म की ग्लानि दूर कर के धर्म की स्थापना के लिये कृष्ण रूप में अवतार लेने वाला कहा गया है। इस प्रकार संपूर्ण महाभारत धर्म के सांचे में ढल कर निष्पन्न हुआ। कुछ दिन तक, जैसे आश्वलायन गृह्यसूत्र के समय में मूल भारत काव्य महाभारत से अलग भी विद्यमान रहा, पर पीछे से धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और मोक्षशास्त्र नामक त्रिवर्ग के रूप में संसिद्ध एक ही महाभारत ग्रंथ लोक के सामने बच गया। अशोक से कई शती पूर्व में धर्म के आदर्शकी पूर्ण प्रतिष्ठा बढ़ी। एक ओर वेदव्यास ने 'नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः।' कहकर महान् धर्म को प्रणाम किया है, और दूसरी ओर अशोक ने—

'एस हि सेस्टे कंमे य धमानुसासनं' (शिलालेख ४)

अर्थात् यही श्रेष्ठ कर्म है जो धर्म का अनुशासन है, इस प्रकार की घोषणा की। जो श्रेष्ठतम आदर्श कर्म है उस धर्म के स्वरूप का परिचय कराने का अशोक ने कई बार प्रयत्न किया है। स्तंभलेख २ और ७ एवं लघुशिला लेख २ में इस सदाचार प्रधान धर्म की व्याख्या की गई है। जिन विशिष्ट कार्यों से और जीवन पद्धति से दया, दान, पवित्रता, मृदुता और लोककल्याण की वृद्धि हो, वे ही धर्म हैं।[1] धर्म और शील ये दोनों पर्यायवाची हैं। अशोक ने जहाँ एक ओर धर्म को श्रेष्ठ कर्म बताया वहीं दूसरे सूत्र में कहा है कि जिसके जीवन में शील नहीं है उससे धर्म का आचरण नहीं हो सकता—

'एस ही सेस्टे कमं य धंमानुसासनं
धंमचरणे पि न भवति असीलस।' (शिलालेख ४)

धर्ममय जीवन की कुंजी व्यक्ति के मन की शुद्धि है। जिसके मन के भाव शुद्ध नहीं है उसका धर्माचरण और सारा काम भी दंभ के लिए हो सकता है। अतएव भाव शुद्धि और आत्मसंयम यही धर्म की सच्ची कसौटी

---

[1] **एस हि धंमाप दाने धमं पटीपति च या इयं दया दाने सचे सोचवे मदवे साधवे च लोकस (स्तंभलेख ७ पंक्ति १८)**

है। अशोक ने सब धर्मों के सिद्धान्त पर सूक्ष्म विचार करके यही निष्कर्ष निकाला कि संयम और भाव शुद्धि इन दोनों विषय में सब एकमत हैं, यथा—

'देवों के प्रिय प्रियदर्शी राजा की इच्छा है कि सब धर्म और संप्रदायों के लोग हमारे राज्य में चाहते हैं कि सब जगह समान रूप से रहें, क्योंकि वे सभी तो एकमत होकर संयम और भावशुद्धि, चाहते हैं। मनुष्यों की इच्छाएँ और उनकी प्रवृत्तियाँ एक सी नहीं होतीं। कोई पूर्ण रूप से और कोई एक अंश में धर्माचरण कर पाता है। लेकिन यह निश्चय है कि संयम, भाव शुद्धि, कृतज्ञता और दृढ़भक्ति से जो रहित हैं, वह चाहे जितना भी दान दे उसका स्थान बहुत नीचे रहेगा।' (शिलालेख ७)

ज्ञात होता है कि भावशुद्धि पर इस प्रकार का गौरव उस युग की विशेषता थी। शील प्रधान जीवन में यदि भाव ठीक न हों तो सब कुछ आडंबर बन जाता है। मनु ने भी भावशुद्धि को ही मुख्य माना है 'वेद, दान नियम यज्ञ और तप, ये सब उस के जीवन में जिसका भाव बिगड़ा हुआ है, व्यर्थ हो जाते हैं'।[1] गीता के धर्म का लक्ष्य भी मन की शुद्धि प्राप्त करना है। मन को ठीक किए बिना धार्मिक जीवन के आडंबर को गीता में मिथ्याचार कहा है। सच्चे धर्म के लिये आत्मपर्यवेक्षण अत्यंत आवश्यक है। अपने अच्छे बुरे कर्मों की छानबीन करने की आदत ही धार्मिक जीवन की पहली सीढी है। इस प्रकार का सूक्ष्म विचार या विवेक ही वह भीतरी आँख है जिससे मनुष्य स्वयं अपनी उन्नति कर सकता है। इसे अशोक ने 'चक्षु' कहा है। दया, दान, सत्य, शौच आदि गुणों के अतिरिक्त अन्य अनेक उपायों से आध्यात्मिक चक्षुदान के लिये उसने जो अथक परिश्रम किया उसका गौरव पूर्ण उल्लेख किया है (स्तम्भलेख २)।

उसके निजी जीवन में यह आध्यात्मिक आँख अत्यन्त जागरणशील

---

[1] **वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।**
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥ (**मनुस्मृति** २।९७)

विचार और कार्य के द्वारा रात और दिन सब भूतों के हित और लोक कल्याण में प्रवृत्त रहती थी। इसके अतिरिक्त उसने अपना प्रभाव अपने पुत्र-पौत्र और उच्च राज कर्मचारियों पर भी डाला और धर्ममय शासन के विधान को यथाशक्ति पूरा करने के लिये उन्हें प्रेरित किया।

धर्म-विजय के लिये कृतसंकल्प सम्राट् ने एक विशिष्ट लेख में शासन के इस नए विधान की आज्ञा जारी की—

'एसा हि विधि या इयं धंमेन पालना, धंमेन विधाने, धंमेन सुखियना; धंमेन गोती ति।

अर्थात् यह विधान है। धर्म से प्रजा का पालन करो। धर्म से समस्त कार्यों का आचरण करो। धर्म से लोक को सुख पहुँचाओ। धर्म से रक्षा करो। (स्तम्भलेख २)।

इन चार सूत्रों में शासन के नए दृष्टिकोण से सबको परिचित कराया गया। 'मेरे जितने छोटे बड़े और मध्यपद के कर्मचारी (पुलिसा) हैं, वे सब, एवं प्रत्यंत देशों में कार्य करने वाले महामात्र, सब इसी विधान का अनुवर्तन करेंगे और दूसरे लोगों से करायेंगे' (स्तम्भलेख १)। उसने चाहा कि वह अपने उपदेश और उदाहरण से सब के मन में अपना संक्रामक उत्साह भर दे। 'बिना अग्र धर्मकामना के, बिना अग्र आत्मपरीक्षा के, बिना अग्र शुश्रूषा के, बिना अग्र-भय के, बिना अग्र उत्साह के, इस लोक और परलोक दोनों में से किसी की भी साधना नहीं की जा सकती।' इस विचार का प्रभाव सब से पहले उसके निजी जीवन पर पड़ा और उसने अपने दैनिक कार्यक्रम में भारी परिवर्तन किया। सर्वत्र और सब काल में उसने अपने आपको राजकार्य के लिये तत्पर और सुप्राप्य घोषित किया। जो उसका बिल्कुल निजी समय था, उसमें भी राजकार्य को हिस्सा बंटाने का अधिकार दिया। 'अब मैंने ऐसा कर दिया है कि चाहे मैं भोजन करता होऊं, चाहे अपने महल में होऊं, चाहे रनिवास में होऊं, चाहे शरीर की आवश्यक क्रियाओं में संलग्न होऊं, चाहे पूजा में निरत होऊं, और चाहे उद्यान में विश्राम करता होऊं, सब जगह लोगों के कार्य की सूचना मेरे कर्मचारी मुझे दें, सब जगह मैं लोक कार्य करने के लिये उद्यत हूँ। ऐसी मैंने

आज्ञा दी है। जनकार्य और उत्थान करते हुए मुझे संतोष नहीं होता। सर्व लोक हित मेरा एक मात्र कर्तव्य है, उससे श्रेष्ट और कोई कर्म नहीं है।' (शिलालेख ६)

अब क्रमशः अशोक ने अपने चारों ओर के बहुविध जीवन को टटोलना शुरू किया कि किस प्रकार से उसमें धर्म के नए आदर्श के अनुसार परिवर्तन किया जाय। धार्मिक जीवन के दो पक्ष हैं एक तो आंतरिक शील, संयम और सदाचार की प्रवृत्ति जिसका संबंध व्यक्ति के अपने जीवन से है और दूसरे परिवार और समाज के बीच में स्थित मनुष्य के व्यवहार। सच्चे धार्मिक जीवन का प्रभाव मनुष्य के बाह्य व्यवहारिक जीवन पर अवश्य पड़ना चाहिए। इसके लिये अशोक ने एक नए जीवन क्रम का उपदेश दिया। जिस प्रकार प्रथम स्तम्भ-लेख में शासन के नए विधान में चार बातों को प्रधानता दी गई है, उसी प्रकार दूसरों के साथ संपर्क में आने वाले धार्मिक जीवन के लिये चार बातों को मूल भूत कहा गया है। वे इस प्रकार हैं—

१. धर्म दान
२. धर्म संबंध
३. धर्म संविभाग
४. धर्म संस्तव या धर्म परिचय

अर्थात् कोई भी व्यक्ति केवल अपनी ही उन्नति और धर्म वृद्धि से सन्तुष्ट न रहे, बल्कि उसमें सबको हिस्सा दे और धर्ममय जीवन के बढ़ते हुए क्षेत्र में प्रयत्नपूर्वक सबका स्वागत करे। जब कोई किसी को द्रव्य का दान देता है या अन्य किसी प्रकार से अनुग्रह करता है तो उससे केवल परिमित हित हो सकता है; लेकिन धर्म दान और धर्म अनुग्रह का फल अनंत है। धर्म के उपदेश से जिसका जीवन बदल दिया जाता है, उसके कल्याण की कोई सीमा नहीं रहती। 'इसलिये पिता को, पुत्र को, भाई को, स्वामी को, पड़ोसी को, मित्र को, सुहृद् को, सम्बन्धी को और परिचितों को चाहिए कि आपस में एक दूसरे को बताते रहें कि यह कर्त्तव्य है और यह उत्तम है' (शिलालेख ९,११)। पर संबंधी धार्मिक व्यवहार की अशोक कृत व्याख्या में निम्नलिखित कर्त्तव्य संमिलित हैं—

१. दास और सेवकों के साथ सम्यक् व्यवहार

२. माता और पिता की शुश्रूषा
३. मित्र, परिचित और संबंधियों को दान
४. श्रमण और ब्राह्मणों को दान
५. प्राणियों की अहिंसा [१]

शिलालेख ६ में गुरुजनों का संमान और सेवा भी इस कार्यक्रम में सम्मिलित हैं, एवं इस प्रकार के अन्य उत्तम कर्तव्य भी समझने चाहिए (एसे अंनेचा हेडिसे)। यह व्याख्या अशोक को अत्यंत प्रिय थी। शिलालेख ३ और ४ में भी इसको दुहराया गया है। अल्प व्यय अर्थात् देख भाल कर धन का व्यय करना और अल्पभांडता अर्थात् कम संग्रह करना ये दोनों गुण भी इसी कार्यक्रम के अंतर्गत कहे गए हैं। अशोक ने कहा है कि जीवन में इस प्रकार के गुणों का आचरण उसके धर्माचरण संबंधी विशेष आयोजना का फल था। अन्यथा उससे पूर्व के युगों में पशुओं का यज्ञीय आलंभन और प्राणियों की हिंसा बहुत बढ़ी हुई थी और अन्य सद्‌गुणों की ओर भी लोगों की रुचि नहीं थी। इस प्रकार जनता में नया धर्मदान बांटने और उनमें धर्म मंगल का भाव जगाने के लिये केवल एक सामान्य आज्ञा देकर ही अशोक ने संतोष नहीं कर लिया, बल्कि उसने शासन के संपूर्ण यंत्र को उसी ध्येय के लिये संचालित किया। साम्राज्य में सर्वत्र राज कर्मचारी, राजुक और प्रादेशिक पदाधिकारियों को हुक्म हुआ कि वे प्रति पांच वर्ष में एक बार धर्मानुशासन के कार्य के लिये अवश्य दौरा करें, किंतु उसके साथ अपने नियमित कार्यों को न भूलें। ज्ञात होता है कि पीछे से इस कार्य के लिये स्वतंत्र कर्मचारियों की आवश्यकता का अनुभव हुआ और सम्राट् ने धर्म महामात्र नाम के विशेष कार्यकर्ता नियुक्त किए। सम्राट् स्वयं भी प्रजाओं के संपर्क में आकर धर्मानुशासन और धर्म विषयक परि-प्रश्न करते थे। अपनी व्यक्तिगत रुचि की और विशेष संकेत करते हुए अशोक ने कहा है कि धर्म का उपदेश और धर्म विषयक परिपृच्छा इन दोनों में भी

---

[१] **तत एषे दाष भटकषि षक्या पटिपति मातापिताषु षुषुषा मितषंथुत न तिक्यानं समना बभनाना दाने पानान अनालम्भे (शिलालेख ११)।**

अंतिम बात उसको बहुत प्रिय थी। सरल ढंग से जानपद जन के निकट जाकर उनसे धार्मिक विषयों में प्रश्नोत्तर करने में उसका मन बहुत भरता था। एसे भुये लाति होति देवानां पियसा पियदसिसा लाजिने, (शिलालेख ८)।

घरेलू जीवन को धर्म के सांचे में ढालने के लिये एक आवश्यक बात की ओर भी अशोक ने ध्यान दिया। गृहस्थ जीवन का मूल आधार स्त्रियां हैं और उनका बहुत सा समय और शक्ति छोटे-छोटे निरर्थक रीति रिवाजों में निकल जाती है। 'घर में बीमारी के समय, पुत्र के विवाह में, कन्या के विवाह में, बच्चों के जन्म के समय, घर से बाहर यात्रा के समय और इसी प्रकार के बहुत अवसरों पर नाना भांति के छोटे बड़े मंगल लोग मनाते हैं और माताएं और स्त्रियां तो विशेष कर इसमें भाग लेती हैं। उन्हें यह सोचना चाहिए कि इस प्रकार के मांगलिक कार्यों का फल बहुत थोड़ा है। उनसे वास्तविक सुख की वृद्धि नहीं होती। गृहस्थ जीवन के सच्चे सुख को बढ़ाने के लिये धर्म मंगल करना चाहिए जिसका फल बहुत बड़ा है। घर में नौकर चाकरों के प्रति अच्छा व्यवहार, बड़े बूढ़ों का आदर, यथाशक्ति दान और हिंसा की वृत्ति को रोकना यही सच्चा धर्म मंगल है जिससे घर का स्थायी सुख बढ़ सकता है। इसी में सब को मन लगाना चाहिए। पिता, पुत्र, भाई स्वामी, मित्र, परिचित और पड़ोसी सभी को अवसर के अनुसार इन बातों को समझाने का प्रयत्न करना चाहिए। धर्म मंगल के अतिरिक्त जो दूसरी तरह की मान्यताएं हैं उनका फल भी, संदिग्ध है। उनको करने से काम सिद्ध हो अथवा न भी हो। यदि कार्य हो भी जाय तो उसका फल इसी लोक में मिल सकता है। लेकिन धर्म मंगल का फल चिरस्थायी होता है। अगर वह विशेष काम न भी पूरा हो तो परलोक के जीवन में धर्म मंगल से अनंत पुण्य होगा। कदाचित् धर्म मंगल करनेवाले व्यक्ति का लौकिक कार्य भी संपन्न हो जाय तब तो दोनों लाभ हैं, यहां कार्य सिद्धि और परलोक में अनंत पुण्य' (शिलालेख ६)। इस प्रकार अपने नैतिक विचारों के अनुसार लोगों के जीवन को धर्मपरायण बनाने के लिये अशोक ने एक बृहत् सार्वजनिक प्रयत्न किया और छोटे बड़े सब को निमंत्रण दिया कि वे उस सुन्दर और आवश्यक कार्य में सहयोग दें।

धर्मानुशासन की नई नीति के फलस्वरूप बाह्य जीवन में भी सम्राट् को कुछ परिवर्तन आवश्यक जान पड़े। इन्हें अशोक के सामाजिक सुधार कहा जा सकता है। पहला सुधार सब प्रकार की हिंसा को रोकना था। इसके लिये उसने अपने आपको ही सब से पहले सुधार का पात्र समझा। उसके कथनानुसार 'पहले राजाओं के रसोई घर में सैकड़ों-हजारों पशुओं की हिंसा होती थी।' जिस दिन पहला धर्म लेख उसने लिखवाने का विचार किया उस दिन तक दो मोर और एक हिरन राजा के चौके के लिये मारे जाते थे। उसमें हिरन निश्चित न था पर उस दिन से पीछे इन तीनों प्राणियों का वध भी रोक दिया गया। इस प्रकार अपने जीवन को परिशुद्ध बनाकर उसने जनता के जीवन में से हिंसा के दोष को मिटाने का निश्चय किया। उसने उन समाज नामक उत्सवों को बंद करने की आज्ञा दी जिनमें उसे बहुत प्रकार के दोष जान पड़े। बौद्ध साहित्य से मालूम होता है कि समाज संज्ञक उत्सवों का जनता में बड़ा प्रचार था। इनमें नृत्य और संगीत के लिये बहुत बड़ी संख्या में जनता एकत्र होकर आनंद मनाती थी और मांस और मद्य का प्रचार रहता था। अशोक का लक्ष्य विशेष कर उस तरह के समाज से हो सकता है जिसमें हाथी, घोड़े, बैल, बकरे, मैंढ़े, मुर्गे, बटेर आदि की हिंसामय भिड़न्त कराई जाती थी। कौटिल्य ने भी उत्सव समाज और यात्राओं का उल्लेख किया है जिनमें चार दिन के लिये राज्य की ओर से मद्य चुआने और पीने की छूट रहती थी (अर्थ० २।२५)। अशोक के पितामह चंद्रगुप्त को पशुओं की भिड़ंत देखने का बहुत शौक था और वर्ष में एक बार इस प्रकार के हिंसामय द्वंद्व कराने के लिये एक बड़े मेले की आयोजना की जाती थी। हाथी और गैड़ों को परस्पर भिड़ते और लोहूलुहान होते देखकर जनता में पाशविक आनंद की उत्तेजना होती थी। इस विभत्स कृत्य को बंद करना आवश्यक था और इसी सुधार ने सब से पहले अशोक का ध्यान खींचा। हिंसात्मक समाजों को बंद किया गया पर जनता के जो स्वस्थ और शुद्ध उत्सव थे, उन पर किसी प्रकार की रोक थाम नहीं लगाई गई। "एक तरह के समाज ऐसे हैं जो देवनांप्रिय प्रियदर्शी राजा की दृष्टि में शिष्ट सम्मत हैं" (शिलालेख १)।

ये उत्तम समाज जान पड़ते हैं जिनका प्रबन्ध स्वयं अशोक ने जनता में धर्म का अनुराग उत्पन्न करने के लिये किया था। ये एक प्रकार के धार्मिक जुलूस थे जिनमें देवताओं के विमान निकाले जाते थे। सजे हुए हाथी, ज्योति स्कंध एवं और अनेक दिव्य रूप जनता को दिखलाए जाते थे। लोगों में उस समय स्वर्ग और परलोक के संबंध में जैसा दृढ़ विश्वास था उसी के अनुरूप विमान दर्शना, हस्ति दर्शना, अग्नि स्कंध और दिव्य रूप प्रदर्शन के आयोजन अशोक के द्वारा कराने की व्यवस्था की गई।

पशु-जगत् के प्रति तो धार्मिक सम्राट् के मन में बहुत ही अनुकंपा का भाव था। 'द्विपाद, चतुष्पाद, पक्षि, और जलचर जीवों पर मैंने बहुत प्रकार का अनुग्रह किया है और प्राणदक्षिणा दी है'(स्त० ले २)। अनुकम्पा के ये विविध कार्य इस प्रकार थे :—

१. मुर्गों को बधिया न किया जाय।[1]

२. गेहूँ आदि की भूसी जिसमें जीव पैदा हो गए हों न जलाई जाय।

३. जंगलों को व्यर्थ के लिये या जानबूझ कर पशु-हिंसा के लिये न जलाया जाय।

४. हर महीने की कुछ निर्दिष्ट तिथियों पर बैल, बकरे, मेंढ़े, सुअर और अन्य पशुओं को खस्सी न किया जाय।

५. अन्य निर्दिष्ट तिथियों पर गाय और घोड़ों को दागा न जाय।

६. वर्ष में परिगणित छप्पन तिथियों पर मछली न मारी जायँ और न बेंची जायँ।

७. इन्हीं दिनों में हाथियों के लिए सुरक्षित बनों में तथा केवटों के लिये सुरक्षित तालाबों में किसी प्रकार की हिंसा न की जाय।

---

[1] बधिया करने से कुक्कुट का मांस अधिक स्वादिष्ट बन जाता है इस विचार से ऐसा किया जाता था। इस निष्ठुर प्रथा के विरुद्ध यह आज्ञा जारी की गई थी।

८. बकरी, भेड़ और शूकरी गर्भिणी है या जिसके बच्चे दूध पीते हों, वे तब तक अवध्य हैं जब तक कि बच्चों की आयु कम से कम छः महीने की न हो जाय।

९. संक्षेप में जीव का जीव से पोषण किसी प्रकार न करना चाहिए (जीवेन जीवे नो पुसतिविये)। इस संबंध में पशु और पक्षियों की एक लंबी सूची देकर सम्राट् ने उन्हें अवध्य घोषित किया।

इस प्रकार का ब्योरेवार शासन जारी कर के अशोक ने पशु-जगत् को वास्तविक रूप में अपनी कृपा का पात्र बनाया और प्राण दक्षिणा दी।

जनता के व्यक्तिगत और सार्वजनक जीवन में उपर्युक्त प्रकार से गंभीर सुधार किए गए। साथ ही अशोक का ध्यान एक दूसरी कठिन समस्या की ओर भी गया। भारतवर्ष में सदा से बहुत से मतांतर और संप्रदायों के लोग बसते रहे हैं। उनकी पारस्परिक शांति और सद्भावना पर ही जनता की उन्नति और सुख निर्भय करते हैं। उनके प्रति राज्य की नीति क्या होनी चाहिए इसका जैसा सुंदर निर्णय अशोक ने किया वह आज भी महत्वपूर्ण है। प्रथम तो अशोक ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि कोई जनपद अर्थात् देश का भाग ऐसा नहीं है, जहां कि जनता का किसी न किसी धार्मिक संप्रदाय (पाषंड) में विश्वास और प्रीति (प्रसाद) न हो (शिलालेख १३)। धार्मिक भेद एक अनिवार्य घटना है। जब धर्म की दृष्टि से महान् जनसमूह में भेद अवश्यंभावी है, तब उस अनिवार्य परिस्थिति में मनुष्य की चतुराई इसी बात में है कि वह भेद से बचकर समन्वय का मार्ग खोज निकाले। जिस तरह आज देश में कई प्रधान धर्मों के मानने वाले लोग रहते हैं उसी तरह अशोक के समय में भी थे। स्तंभ लेख ७ से ज्ञात होता है कि उस काल में चार संप्रदाय मुख्य थे—(१) ब्राह्मण (२) श्रमण अर्थात् बौद्ध (३) निर्ग्रंथ अर्थात् जैन और (४) आजीवक। अंतिम संप्रदाय के लोग आचार्य मंखिल गोसाल के अनुयायी थे जो नियतिवाद या भाग्य पर अत्यधिक विश्वास करते थे और कर्म का निराकरण करते थे। ये चारों संप्रदाय अत्यन्त शक्तिशाली और लोकमें बहुसंख्यक मनुष्यों को मान्य थे। उनमें पारस्परिक मतभेद, ईर्ष्याजनित वाद-विवाद और कलह भी पर्याप्त मात्रा में रहता था।

अपने धर्म की प्रशंसा में और दूसरों का खंडन करने में अंधभक्त लोग शिष्ट मर्यादा का अतिक्रमण कर जाते थे। अशोक ने इस जटिल प्रश्न पर गंभीरता के साथ विचार किया और उसने ऐसा उपाय ढूंढ निकाला जिससे इन संप्रदायों में समवाय या मेल की वृद्धि हो। उसने अपनी नीति का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—कि 'मैं सभी संप्रदायों के भिक्षुओं और गृहस्थों का सम्मान करता हूँ, और दान तथा विविध प्रकार की पूजा से उनको पूजित करता हूँ' (शिलालेख १२)। इस प्रकार राज्य की ओर से सब संप्रदायों के प्रति समान व्यवहार की घोषणा की गई। यदि यह प्रथम सत्य है कि देश में अनेक मत-मतांतर और संप्रदाय बसते हैं, तो दूसरा सत्य यह है कि राजा या राज्य की दृष्टि में वे सब बराबर हैं। राजकोष से दान और सम्मान पाने में सबका समान अधिकार है।

इस सत्य की घोषणा के बाद अशोक ने एक तीसरे सत्य की ओर ध्यान दिलाया है। वह यह कि जो जिस संप्रदाय को अपनी इच्छा और प्रसन्नता से ग्रहण किये हुए हैं वही उसके लिये श्रेष्ठ है।

'ए चु इयं अतना पचूपगमने से मे मोख्यमते।' (स्तंभलेख ६)

संप्रदाय के विषय में अपनी-अपनी रुचि ही सबसे बढ़कर है। 'आत्मना प्रत्युपगमनं' अर्थात् अपने मन के अनुसार मार्ग का ग्रहण, यही बुद्धिकारक नीति कही जा सकती है। जो जिस धर्म को स्वेच्छा से मानता है, वही उसके लिये मुख्य है। धर्मों के विषय में पारस्परिक स्पर्धा बिलकुल अनावश्यक है। इस प्रकार राज्य की दृष्टि से सब धर्मों का समान अधिकार घोषित करके, एवं व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की दृष्टि से हर एक को ही मुख्य पद का अधिकारी मानकर अशोक ने प्रत्येक संप्रदाय को एक दूसरे ही धरातल पर उठाने का प्रयत्न किया। यह नवीन उद्देश्य सब संप्रदायों या पाषंडों की सारवृद्धि था। 'देवों के प्रिय राजा दान और पूजा को उतना महत्त्वपूर्ण नहीं समझते, जितना सब धर्मों के सार की बढ़ती को। सारवृद्धि तो बहुत तरह की है किन्तु उसका मूल वाणी का संयम (वचिगुती) है।' धार्मिक विचार परिवर्तन के संबंध में वाक्-संयम की क्या मर्यादा है, इसकी व्याख्या में अशोक की सूक्ष्म तर्क शक्ति और निष्पक्ष विचार का बहुत ही सुन्दर परिचय प्राप्त होता है।

'वह वाणी का संयम क्या है ? लोक केवल अपने ही संप्रदाय का आदर और दूसरे संप्रदाय की निंदा बिना कारण के न करें। दूसरे संप्रदाय के विषय में हल्की बात केवल किसी विशिष्ट कारण से ही कही जा सकती है और इस तरह दूसरे संप्रदाय का आदर भी विशिष्ट कारण से ही होना चाहिए। जो ऐसा करता है वह अपने संप्रदाय की उन्नति करता है और दूसरे धर्म का भी हित करता है। इसके विपरीत आचरण से वह अपने धर्म को क्षति पहुँचाता है और दूसरे संप्रदाय का भी अनहित करता है। जो कोई अपने धर्म की भक्ति में आकर अपने संप्रदाय की प्रशंसा और दूसरे की निंदा करता है कि मैं इससे अपने धर्म का गौरव बढ़ाऊँगा; वह वैसा करके वास्तव में अपने ही धर्म को बहुत बड़ी हानि पहुँचाता है' (शिलालेख १२)।

प्रत्येक धर्म के सारतत्व को उन्नत करने का मुख्य उपाय वाक्संयम बताया गया है। यदि भारत' जैसे विशाल देश के निवासी व्यवहार में इस नीति का पालन करते तो पारस्परिक कटुता के अवसर बहुत ही कम हो जाते। वाणी का संयम तब तक नहीं हो सकता जब तक पारस्परिक मेल-मिलाप की भावना न हो। इसलिये सब धर्मों को प्रथम बार और अंतिम बार निश्चित रूप से यह जान लेना चाहिए कि आपस का मेल-जोल ही एकमात्र ठीक मार्ग है (त समवाय एव साधु)।

समवाय या समन्वय केवल सदिच्छा से ही प्राप्त नहीं किया जा सकता, उसके लिये बुद्धिपूर्वक प्रयत्न और कार्य की आवश्यकता होती है। जब तक हम एक दूसरे के धर्म के विषय में सच्ची जानकारी नहीं प्राप्त करते, तब तक हम में दूसरों के लिये सहानुभूति उत्पन्न नहीं हो सकती। इसके लिये सब लोग एक दूसरे के धर्म को सुनें तथा सुनने की इच्छा रखें। इस प्रकार सभी धर्मावलंबी बहुश्रुत बनेंगे, और उनका आगम या सिद्धान्त उत्तम बनेगा। प्रत्येक संप्रदाय को यह अच्छी तरह बता देना चाहिए कि देवानांप्रिय की दृष्टि में दान और पूजा का इतना महत्त्व नहीं जितना इस बात का कि 'सब धर्मों के सारतत्व की वृद्धि हो और सब संप्रदायों का दृष्टिकोण उदार बने' (सार बढि अस सर्व पासंडानं बहुका च, शिला लेख १२)।

एक सफल शासक की भाँति अशोक ने सब धर्मों को एकता के मार्ग पर लाने के लिये राज्य की ओर से विशेष कर्मचारी नियुक्त किए जिनका नाम धर्म महामात्र था। केवल मौखिक उपदेश देकर ही वह शांत नहीं रहा, किन्तु उसी काम के लिये नियुक्त विशेष कर्मचारियों के द्वारा उसने सब धर्मों के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन किया। साथ ही इस बात की भी भरसक चेष्टा की कि सब संप्रदायों में एकता और मेल-जोल की वृद्धि हो, सब को राज्य के प्रसाद में समान भाग मिले, सन्यासी और गृहस्थ लोगों में धार्मिक भावों का प्रचार हो, और राज्य की ओर से प्राणियों के लिये अविहिंसा आदिक जो अनुग्रह के कार्य आदिष्ट थे, उन सबका यथावत् पालन किया जाय। इस प्रकार के गंभीर उत्तरदायित्व की पूर्ति धर्ममहामात्र नामक राजपुरुषों के अधीन थी जिनको बहुत ही विश्वासपात्र जानकर सम्राट् ने नियुक्त किया था।

अशोक के धर्म की अंतिम विशेषता इस लोक और परलोक के जीवन का समन्वय है। वह स्थान-स्थान पर इस लोक और परलोक दोनों को धार्मिक जीवन के द्वारा साधने की बात कहता है। 'इस प्रकार जो धर्माचरण करेगा वह इस लोक और परलोक को बना लेगा' (हिदत पालते आलधे होति। स्तं० ले० ७)। 'राजुक लोग धर्म के लिये नियुक्त राजपुरुषों के द्वारा जनपद जन से कहेंगे कि यहाँ वहाँ (हिदत पलत) इस लोक परलोक दोनों की आराधना करो।' (स्तं० ले० ४) 'बिना ऊँचे दर्जे के पराक्रम और उत्साह के इस लोक और परलोक की साधना कठिन है' (स्तं० ले० १)। इस बात पर सबको विशेष ध्यान देना चाहिए कि 'यह मेरे लिये इस लोक में लाभकारी है, और परलोक में लाभकारी है' (स्तं० ले० ३)। 'जो कर्मचारी इस प्रकार अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता उसको न स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है और न राजा की प्रसन्नता मिल सकती है। किन्तु जो अपने कर्त्तव्य का ठीक तरह से पालन करेगा वह स्वर्ग भी प्राप्त करेगा और इस लोक में मुझ से भी उऋण हो जाएगा।' (कलिंग ले० १) निम्नलिखित वाक्य में उसकी इस विषय की अभिलाषा स्पष्ट रूप से कही गई है—

'सब मुनिसे पजा ममा। अथा पजाये इच्छामि। हकं किंति ? सवेन हित सुखेन हिदलोकिक पाललोकिकेन यूजेवू ति।' (कलिंग लेख १)

'सब मनुष्य मेरी संतान की तरह हैं। अपनी संतान के लिये मैं चाहता हूँ कि वे सब प्रकार के इस लोक और परलोक संबंधी हितसुख से युक्त हों।'

'इस धर्मदान से इस लोक में सुख और परलोक में अनंत पुण्य उत्पन्न होता है' (शि० ले०। ११)। इस लोक के जीवन में अभ्युदय और परलोक के जीवन में उच्च गति, इन दोनों पर अशोक के धर्म में समान बल दिया गया है। उस समय की जनता का धर्म पर पक्का विश्वास था। उसी की झलक हमें अशोक के इस वाक्य में मिलती है। 'इससे बढ़कर और कौनसा कर्त्तव्य है जैसी कि स्वर्ग की आराधना?'[1]

इस प्रकार इस लोक और परलोक दोनों को सुधारने का आदर्श सामने रखते हुए शिलालेख १० में उसने अपनी आंतरिक भावना के अनुसार पारलौकिक कल्याण का भी स्पष्टीकरण कर दिया है। वह कहता है कि मेरा जो कुछ पराक्रम है वह परलोक के लिये है, और इस वास्ते है कि सब लोक पाप के बंधन से छूट जाएँ। भाँति-भाँति का अपुण्य ही घोर बंधन है। जहाँ बंधन कम हैं ऐसे स्वर्ग की प्राप्ति छोटे और बड़े दोनों के लिये अग्रपराक्रम के बिना बहुत कठिन है। उन दोनों में भी जो बड़े लोग हैं, उनके लिये तो महा कठिन है। लघुशिलालेख १ में वह विशेष रूप से पुनः इसी भाव को दोहराता है कि विपुल स्वर्ग की आराधना में छोटे और बड़े का भेद नहीं है, छोटा व्यक्ति अवश्य उसमें भाग पा सकता है।

अशोक ने व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में शील और सदाचार के रूप में धर्म की नई व्याख्या करके प्रजाओं का बहुत कल्याण किया। उसने लोगों को आध्यात्मिक चक्षुदान दिया। उसके अपने शब्दों में 'लोक-कल्याण दुष्कर है। जो कल्याण का कार्य सबसे पहले करता है वह दुष्कर कार्य करता है' (शि० ले० ५)। समस्त राजकीय परंपरा में अशोक लोक-कल्याण के सच्चे आदिकर्ता थे।

---

[1] **कि च इमिना कतव्यतरं यथा स्वगारधि। (गिरनार शि० ले० ६)**

६. परम भट्टारक महाराजाधिराज श्री स्कन्दगुप्त

गुप्तवंश महीपति स्कन्दगुप्त भारतवर्ष के एक बड़े सेनानी हैं। इस देश में क्षात्रधर्म को मूर्तिमान् करनेवाले व्यूढोरस्क और महाबाहु जितने सेनाध्यक्ष जन्मे हैं उन सब में हिमाद्रि शिखर के समान सर्वाभिभावी एक स्कन्दगुप्त ही हैं। जिन दुर्दान्त हूणों की प्रबल अनीकिनी ने रोम साम्राज्य को भी ध्वस्त कर दिया था उन्हीं बर्बर अश्वारोहियों से भारतीय सभ्यता की रक्षा करनेवाले गुप्त वंशैक-वीर को स्कन्दगुप्त कहते हैं। मध्य एशिया से चींटियों की नाईं असंख्य दल बाँधकर जङ्गली हूण चीन से फ्रांस तक समस्त भूप्रदेश पर फैल गए थे। डैन्यूब से वल्गा तक तथा थ्यूरिञ्जिया, रोम और गाल में इनकी लपलपाती हुई तलवारों ने अनगिनत मनुष्यों को चाट लिया था। इनके कन्धे बड़े-बड़े, नाकें बैठी हुई और आँखें काली-काली सिर में घुसी रहती थीं। क्रोध के समय पुतलियाँ इधर से उधर डोलती थीं। मृत्यु को गेंद की तरह ठुकराते हुए ये भीषणकाय घोड़ों पर सवार समस्त धन और जन, नगर और देशों को रौंदते हुए चलते थे। जिस बरबण्ड अटिला या एटजल के भयङ्कर अत्याचारों का स्मरण कर यूरोपवासी काँप उठते थे, उसी के समान प्रलयङ्कर व्यक्तियों से समराङ्गण में लोहा लेकर जिसने अपने भुजदण्डों से पृथ्वी को कम्पायमान कर दिया था उस अद्वितीय सेनानी स्कन्दगुप्त को सचमुच भारत का गोप्ता या त्राता कहना चाहिए।

स्कन्दगुप्त का चरित्र

वे स्कन्दगुप्त सब नृपति-गुणों के निकेत थे। उन्होंने कुमार अवस्था में ही अनेक वीरोचित कार्य किए। अपने पिता कुमारगुप्त के जीवनकाल में ही स्कन्दगुप्तने सैन्यसञ्चालन में अद्भुत पटुता प्रदर्शित की थी। इसीलिये शौर्य रञ्जित उनके अमल चरित्रों के स्तुति गीत बन्दीजन कुमार काल से ही प्रारम्भ करते थे। 'चरितममलकीर्तेर्गीयते यस्य शुभ्रं दिशि दिशि परितुष्टैराकुमारं मनुष्यैः

(भितरी स्तम्भ लेख)। अन्य राजाओं के चरित्र तो अभिषेक के पश्चात् गाए जाते हैं, परन्तु स्कन्दगुप्त ने युवराज रहते ही अपनी भुजाओं के प्रचण्ड पराक्रम का परिचय दिया था, इसलिए उनके यश का गान कुमारकाल से ही प्रारम्भ किया जाता था।

कुमार गुप्त के समय में विन्ध्यभूमि में पुष्यमित्रों का बल बहुत बढ़ गया था। उनके बढ़ते हुए वैभव की टक्कर गुप्त साम्राज्य से हुई। शिलालेखों की ध्वनि से यह स्पष्ट विदित होता है कि धन बल सम्पन्न पुष्यमित्रों के सामने गुप्त सेना को हारना पड़ा। कदाचित् इसी समर के समय कुमार गुप्त का अन्त हो गया। कुल क्रमागत वंशलक्ष्मी विचलित हो गई। चञ्चला ने जिस समुद्र गुप्त के वंश का वरण किया था उसमें कुमार गुप्त ऐसे लोलुप नृपति के उत्पन्न होने से अभिमत भोग्या लक्ष्मी विलुप्त हो चली। उसे एक नये सर्वगुणसम्पन्न वर की आवश्यकता हुई। इसीलिए प्रशस्ति-लेखकों ने परमभागवत श्री स्कन्दगुप्त को अनुरूप, मूर्तिमान्, विनीत, मेधास्मृति-विभूषित, सत्य आर्जव औदार्य और नयसे उत्पन्न, अनुरक्त, भक्त आदि विमल विशेषणों से याद किया है। ऐसे मनुजेन्द्र पुत्र को सारे गुण दोषों की समीक्षा करके विचारपूर्वक लक्ष्मी ने फिर अपना स्वामी वरण किया।

तत्कालीन अवस्था

जिस समय स्कन्दगुप्त सिंहासन पर बैठे, पुष्यमित्रों के युद्ध का घाव ताजा था। चारों ओर से सैकड़ों शत्रु राज्य पर दाँत लगाये हुए थे, मानों सैकड़ों काल-सर्प दर्प से फन ऊँचा करके गुप्तवंशैक वीर को डसने की ताक में हों। सारे देश की शान्ति खतरे में थी। उत्तरी भारत में राजसत्ता की कमर टूटते ही सर्वत्र अव्यवस्था फैल जाती। उत्तर पश्चिम के दर्रों पर प्रचण्ड हूण टकरा रहे थे। एक बार रक्षा का बाँध टूटते ही सारा देश और सभ्यता हूणों की बाढ़िया में बह जाती। यहीं पर स्कन्दगुप्त की महिमा है। जैसे तपस्वी क्षत्रिय की आवश्यकता थी वैसा ही उस समय स्कन्दगुप्त के रूप में उत्पन्न हो गया। उन्होंने गरुड़ के समान समस्त नृपति-भुजङ्गों के विष का पान कर लिया। (नरपतिभुजगानां मान-दर्पोत्फणानां प्रतिकृति गरुडाज्ञां निर्विषी चावकर्ता।) यदि स्कन्दगुप्त जैसा बली

योद्धा उस समय उत्पन्न न होता तो भारतवर्ष में भी मध्य एशिया की भाँति ही पहली सभ्यता पर चौका लग जाता। हम लोग हूणों को न पचा पाते, हूण ही हमें पचा जाते। हूण आए सही, पर वे तूफानी नदी की तरह सामने आनेवाली वस्तुओं को न बहा सके।

उन्हें जो मार्ग दिया गया उसी से उनको शनैः शनैः धँसना पड़ा। उसका प्रमाण हाथों-हाथ देखने को मिला। जिन हूणों ने रोम को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था, भारत में उन्हीं के वशज राजाओं ने संस्कृत में शिला लेख लिखवाए। तूरमाण के लेख में पहिले ही वराह अवतार की स्तुति की गई है। पश्चिम में जिनके घनघोर आघात से महीधर भी डोल गए, उन्हीं हूणों में इस देश में इतना पतिवर्तन कैसे हो गया? इसका सारा श्रेय सेनानी स्कन्द को दिया जाना चाहिए। जैसे देवासुर संग्राम की कल्पना में कुमार कार्त्तिकेय ने देवों की रक्षा की थी, वैसे ही हूण–गुप्त अथवा हूण–भारत युद्ध में स्कन्दगुप्त ने भारत को बचा लिया। उसने अपनी अपार सेना के भालों और खड्गों का महाजाल पूर कर सघन बन की नाईं हूणों की दुर्धर्ष गति को रोक दिया। उस बन से मार्ग निकालने में ही हूणों के सारे बल और स्फूर्त्ति का अन्त हो गया। देश की सभ्यता की रक्षा हो गई।

प्रशस्ति के लेखक ने स्कन्दगुप्त के इन पराक्रमों का स्रोत खोज निकाला है। उनका कहना है कि चतुरुधादिजलान्ता अवनी को आत्माधीन करने का श्रेय स्कन्द गुप्त की आत्म शक्ति को ही है! (अवनिमवनतारिर्यश्चकारात्मसंस्थां पितरि सुरसखित्वं प्राप्तवत्यात्म शक्त्या)। इस शक्ति का कुछ परिचय भितरी लेख में वर्णित पुष्यमित्र युद्ध की एक घटना से मिलता है। समस्त सेना जब हतोत्साह हो चली, तब उसमें नया जीवन फूँकने के लिए स्कन्दगुप्त ने कड़ी पृथ्वी पर सोकर एक रात बिताई। जहाँ सेनापति लोग इस प्रकार की तपस्या करें, वहाँ क्षात्र धर्म कैसे न समुदीर्ण हो? इस प्रकार स्कन्दगुप्त के एक रात बिताने के पश्चात् सेना का उत्साह पुनः उत्तप्त हो गया, मानो स्वयं सम्राट् ही सहस्र रूप धारण कर सैनिकों के अन्तर में मिल गए हों। पुष्यमित्रों की बाढ़ तुरन्त रोक दी गई। गुप्त साम्राज्य की विघटित नींव पुनः सुदृढ़ हो गई। इस विजय का

राजनीतिक महत्व बहुत है। यदि सवा सौ वर्षों से दृढ़-संस्थ गुप्त साम्राज्य के पैर उखड़ जाते तो उत्तरी भारत में सीमा प्रदेश की रक्षा करनेवाला कोई न रह जाता। गुप्त साम्राज्य के छिन्न भिन्न होते ही फिर देश में किसी में भी इतना पौरुष न था जो स्कन्दगुप्त के समान अभेद्य प्राचीर खड़ी करके हूणों की बाढ़ को रोक देता। हूणों के धक्कों के आगे रोम का दिखावटी सम्राट् थ्योडोसियस बालू की भीत की भाँति बिखर गया था। उसके राज्य में हूणों के घोड़े स्वच्छन्द भाव से सर्वत्र विचरने लगे। उनकी टापें जिधर पड़तीं प्राणियों की तो गति क्या जङ्गली घास तक समूल नष्ट हो जाती। परन्तु भारतवर्ष में हूण साम्राज्य की गाथा दूसरे शब्दों में कही जाने योग्य है। इस देश के तत्कालीन अदम्य पौरुष को सम्भवतः कालिदास का निम्न श्लोक व्यक्त करता है।

तत्र हूणावरोधानाम् भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम्॥ (रघुवंश ४। ६८)

हूण देश में घुसने भी न पाए। उदीची दिशा में आगे बढ़कर देश की प्राकृतिक सीमा पर ही हूणों को रोका गया। खैबर से प्रयाग तक तिल-तिल भूमि के लिए उन्हें भयङ्कर हानि उठानी पड़ी। परन्तु जिस सेना की कुछ संख्या ही न हो उसके सम्मुख संसार का कोई भी सेनानी सदा कैसे खड़ा रह सकता है? हाँ, प्राण रहते स्कन्दगुप्त हूणों को सन्तत परास्त करते रहे। हूण किसी देश में जम कर राज्य करने के लिए नहीं आए थे। वह एक आँधी थी जो उठी और सामने की सब वस्तुओं को विध्वंस करती चली गई। यही दशा इस देश में भी होती, यदि यहाँ उस आँधी का सारा वेग शेषनाग के समान सहस्र मुखों से एक सेनापति पान न कर गया होता। जो बचा वह केवल एक हलका-सा झोंका था जिससे सभ्यता का कुछ बना-बिगड़ा नहीं। यद्यपि गुप्त साम्राज्य इस आहुति में पड़ने से स्वयं मिट गया, तो भी उसकी महिमा का स्मरण करने के लिये 'भितरी' प्रशस्ति की 'हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता' पंक्ति अब भी पर्याप्त है।

---

१०. भारत का चातुर्दिश दृष्टिकोण

प्राचीन भारत की राजनीतिक परिभाषा में अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्कों के लिये 'चातुर्दिश' शब्द का प्रयोग हुआ है। अथर्ववेदीय सूक्त के आरम्भ में ही ऋषि इस बात का स्मरण दिलाता है कि पृथिवी के पास चार दिशाएं हैं—

यस्याश्चतस्त्रः प्रदिशः पृथिव्याः ।

चार दिशाएं तो सभी के पास होती हैं, परन्तु विशेष रूप से स्मरण दिलाने का अभिप्राय यह है कि पृथिवी के जन उन चारों दिशाओं के महिमा भाव को पहिचानें और देश में फैला हुआ जो विस्तार है उसे दिगन्त तक अपना बना लें। जिस देश का दिगन्त जितना बड़ा है वह देश भी उतना ही महान् होता है। वस्तुतः मन के क्षेत्र में और स्थूल रूप में भी मातृभूमि के दिगन्त का विस्तार ही भूमि का महिमाभाव है। जिनका दिगन्त बड़ा नहीं वे अपने ही केन्द्र में सिमटे और सिकुड़े पड़े रहते हैं। बीज के दिगन्त का जब विस्तार होता है, तब वह क्रमशः बढ़कर वट-वृक्ष के रूप में फैलता है। उसके विस्तार का स्थूल रूप ही यह है कि उसकी शाखाएं प्रशाखाएं चारों ओर फैल कर दिशाओं को छा लें। वह बट वृक्ष जब अपने विस्तार से दिशाओं को छेक कर प्रतिष्ठित होता है तभी उसके अस्तित्व का प्रमाण आँखों के सामने आता है।

भूमि के लिये तो दिक् सीमा का विस्तार बहुत ही सच्ची जीवन-घटना है। समुद्र तक एक ओर, पर्वतों तक दूसरी ओर भारत का स्वाभाविक दिक्-विस्तार था, उसमें अपने को व्याप्त करके ही मातृभूमि का स्वरूप स्थिर हुआ। इसी कारण प्राचीन भारतवर्ष की जो प्राकृतिक भौगोलिक सीमाएं थीं उनके बीच में अच्छी तरह फैल कर ही यहाँ की जनता ने मातृभूमि के रूप का सम्पादन किया। सिन्धु के उस पार बाल्हीक और कम्बोज, बल्ख और पामीर तक

पृथिवी की दिक्-सीमा फैली । दूसरी ओर महोदधि (आधुनिक बंगाल की खाड़ी) और रत्नाकर (आधुनिक अरब सागर) को मातृभूमि की रत्नजटित मेखला के रूप में कल्पित करके समुद्र-पर्यन्त पृथिवी को भारत के चक्र के अन्तर्गत माना गया । भारत का लोक संनादन या लोकों को गुंजाने वाला चक्र इसी भौगौलिक विस्तार के भीतर अपने आपको अजेय बनाकर युग-युग में घूमता रहा ।

स्थूल भौगोलिक दिक् सीमा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय संस्कृति के दिक्-विस्तार की सीमाएं हैं । धर्म और सत्य के मूर्तिमान् रूप को संस्कृति कहते हैं । संस्कृति के द्वारा राष्ट्र-ज्ञान के आकाश में अपने आपको फैलाना जिस पद्धति से होता है वही संस्कृति के ऊँचनीच भाव की माप समझी जाती है । यों तो रक्त से सने हुए पंजों को फैलाकर अनेक क्रूर विजेताओं ने भी अपने आपको इतिहास में फैलाया है, पर वह विस्तार जंगली पशुओं के उद्दण्ड आक्रमण या निष्ठुर विचरण के समान विश्व की प्रजाओं के लिये दुःखदायी ही हुआ । उसे ऊँची संस्कृति नहीं माना जा सकता । संस्कृति के विस्तार को भारतीय परिभाषा में धर्म-विजय कहा गया है । धर्म का अर्थ संकुचित सम्प्रदाय नहीं है, किन्तु धर्म से तात्पर्य आत्मा मन और शरीर का कल्याण करने वाले सभी उदात्त भावों से है । सद्भाव सहिष्णुता और समन्वय की अनुकूल वायु से प्रेरित होकर जब राष्ट्र को संस्कृति के पोत दूसरे देशों के तटों पर उतरते हैं तभी संस्कृति का दान देने वाले और दान लेने वाले दोनों मनुष्यों का सच्चा और स्थायी सुख होता है । प्रेम के द्वारा संस्कृति का प्रसार आज भी विश्व का भावी आदर्श है ।

संस्कृति के विस्तार के लिये देश की दिक्-सीमाएं अनन्त बनाई जा सकती हैं । भारत ने स्वर्णयुग में जब अपना चातुर्दिक् नेत्र खोला तो उस आँख में मध्य एशिया से लेकर पूर्वी एशियाई द्वीप-पुंज तक का सारा भू-भाग भर गया । संस्कृति का यह चमकीला नेत्र एक बार खुला और इसका तेज दिग्-दिगन्त को प्रकाशित करता हुआ सर्वत्र छा गया । इसी सुनहले तेज के कारण इतिहास का वह युग स्वर्ण-युग कहा जाता है । निस्सन्देह गुप्तकाल भारतीय इतिहास का वह स्वर्णयुग था जब देश और विदेश में भारतीय संस्कृति, कला, धर्म और ज्ञान की चतुर्विध परिपाटी एक साथ प्रकट हो उठी । भारत का

वह यश आज भी अपने पड़ोसी देशों के भाल पर अंकित है। अपनी-अपनी संस्कृति का यश प्रत्येक देश के लिये महिमा का कारण होता है। गुप्तकालीन संस्कृति के यश-विस्तार को देखकर महाकवि कालिदास कह उठे—

आरूढ मद्रीन्नुदधीन्वितीर्णम्
भुजंगमानां वसतिं प्रविष्टम्।
ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि
यशः परिच्छेत्तुमियत्तया लम्॥

रघु० ६।७७

पर्वतों और सागरों की सीमाओं के पार वह यश फैल गया। पाताल और आकाश में भी वह छा गया। राष्ट्रीय पराक्रम के साथ फैलने वाले उस यश की कोई सीमा न थी।

मध्य एशिया की खुदाई में जो पुरातत्व की सामग्री मिली है, कोरिया मंगोलिया चीन तिब्बत और अफगानिस्तान में जो साहित्य और कला का भारतीय भंडार मिला है, उसे देखकर सचमुच ऐसा ज्ञात होता है कि संस्कृति का फैलता हुआ यश पर्वतों पर चढ़ कर उस पार निकल गया। हमारी भौगोलिक सीमा के परकोटे उस यश को रोक न सके, अर्थात् सांस्कृतिक विकास के मार्ग में अपनी दुर्गमता से बाधक न बन सके। भारतीय आचार्यों के झुन्ड और चीनी यात्रियों के दल उत्तरी पर्वतों को चींटियों की तरह सुख से लाँघ गए। सुराष्ट्र, अपरान्त, चोल मण्डल, कलिंग और ताम्रलिप्ति के समुद्र-तटों को पखारनेवाली जलमालाएँ भारतीय नाविकों और महानाविक पोताध्यक्षों को दिन-रात उदधि के उस पार पहुँचने का निमन्त्रण दे रही थीं। उस संगीत में एक प्रबल आकर्षण था, जिसको छाया एक गुजराती लोकोक्ति में मिलती है—

जो जाए जावे पाछो नो आवे।
ने जो आवे तो परिया-परिया मोती लावे॥

'जो जावा जाता है वहीं बस जाता है लौट कर नहीं आता है। यदि लौट कर आता है तो इतने मोती लाता है कि पीढ़ी दर पीढ़ी चलते हैं'।

सुमात्रा (श्री विजय) के शैलेन्द्र वंशी सम्राट् श्री बालपुत्र देव का एक

ताम्रपत्र नालंदा की खुदाई में मिला है। उसमें अन्य दानों के अतिरिक्त 'चातुर्दिश आर्य भिक्षु संघ' के लिये दिए हुए कुछ दानों का उल्लेख है। यह भिक्षु-संघ उन विद्यार्थियों का था जो विदेशों से शिक्षा-प्राप्ति के लिये नालंदा में एकत्र होते थे। चारों दिशाओं से आने के कारण वे चातुर्दिश संघ के छात्र कहे जाते थे, जिसका अर्थ आज की भाषा में वही है जो 'अन्तर्राष्ट्रीय छात्रावास' का होगा। नालंदा के अपने छात्रों का संगठन 'श्री नालंदा महाविहारीय आर्य भिक्षु संघ' कहलाता था जिसकी अनेक मुद्राएं वहाँ मिली हैं। इस प्रकार अपने चातुर्दिश नेत्रों को हमें पुनः उद्घाटित करना है। वैदिक भावों के अनुसार चारों दिशाओं में देश का स्वस्तिभाव हो। पूरब-पच्छिम, उत्तर दक्खिन कहीं हम डिगें नहीं।

मा न पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा।
मोत्तरादधरादुत स्वस्ति भूमे नो भव॥

अथर्व० १२।१।३२

११. सप्तसागर महादान

मथुरा संग्रहालय की वर्तमान भूमि के हरे मैदान में सामने की ओर अथाह जलराशि वाला चौड़े मुँह का इन्दारा है जिसे सात समंदरी कूप कहते हैं। इस कुएँ की सफाई कराते समय इसमें से कई कुषाण कालीन मूर्तियाँ निकली थीं जो इस समय संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। कुएँ में २५-३० फुट से अधिक पानी है जो चार पुरों की सिचाई से भी पूरी तरह नहीं टूट सका और कुएँ की पूरी सफाई न हो सकी। अब भी उसमें प्राचीन मूर्तियाँ अवश्य मिलनी चाहिएँ। उपलब्ध मूर्तियों की प्राचीनता को देखते हुए कुएँ की आयु आरम्भिक गुप्तकाल ज्ञात होती है। कुषाण काल में जिन मूर्तियों और मन्दिरों का निर्माण हुआ था उनसे मथुरा की शिल्प-श्री कई शताब्दियों तक अपने प्रभालेपी सौन्दर्य से जगमगाती रही। ज्ञात होता है कि नगर की अभिराम शोभा कुषाण और गुप्त युग में अक्षुण्ण बनी रही। प्रायः पंचम शताब्दी के अन्त तक गुप्त युग की रमणीय कला कृतियों का निर्माण मथुरा में जारी रहा। हूणों के आक्रमण के समय इस प्रवाह को धक्का लगा और जान पड़ता है उसी समय कुषाण और गुप्त कालीन मूर्तियाँ आस पास के मन्दिरों से लाकर सात समंदरी कूप में जल मग्न कर दी गई।

सात समंदरी नाम बड़ा विचित्र है। मथुरा में रहते हुए कितनी ही बार यह नाम सुना पर इसका रहस्य समझ में नहीं आया। अभी हाल में मत्स्य पुराण की सहायता से सात समन्दरी नाम का अभिप्राय ज्ञात हुआ। मत्स्य पुराण के अध्याय २७४ में निम्नलिखित सोलह महादानों का परिगणन है—

(१) तुला पुरुष दान (२) हिरण्यगर्भ दान (३) ब्रह्माण्ड दान (४) कल्पवृक्षदान (५) गोसहस्र दान (६) स्वर्णकामधेनु दान (७) हिरण्याश्वदान (८) स्वर्ण हस्ति दान (१०) पञ्च लांगल दान (११) धरादान (१२) विश्वचक्र दान (१३) कल्पलता दान (१४) सप्तसागर दान (१५) रत्नधेनु दान (१६) महाभूत घटदान।

अध्याय २७४ से अध्याय २८६ तक के १६ अध्यायों में क्रमशः एक-एक महादान का विस्तृत विवरण दिया गया है। तदनुसार अध्याय २८७ में सप्त-सागर महादान का वर्णन है। यह सारा प्रकरण कलियुग के राजवंशों का वर्णन करने वाले अध्यायों के बाद में जोड़ा गया है। ज्ञात होता है कि किसी ऐसे समय में जब भारतवासियों का भौगोलिक और भौमिक विस्तार भारत की सीमाओं को नांघ कर समुद्रों के उस पार तक फैल गया था, सप्तसागर महादान की कल्पना समाज में प्रादुर्भूत हुई। जिस समय पूर्वी द्वीप समूह के साथ निर्बाध आवागमन नित्यप्रति की घटना बन चुकी थी उस काल में ही जनता का दृष्टिकोण सप्त-समुद्रों तक विस्तीर्ण हो सकता था। लोक में इस प्रकार की भावना का प्रसार गुप्त काल में पूर्णता को प्राप्त हुआ।

जावा में चौथी और पाँचवीं शताब्दी के शिलालेख प्राप्त हुए हैं जिनसे पता चलता है कि उन दिनों उस प्रदेश में 'तारुमा' नाम का राज्य था और पूर्णवर्मा वहाँ के शासक थे (ओझा, भारतीय अनुशीलन, पृष्ठ ४२)। इसके अनन्तर सातवीं शताब्दी के मध्य में जावा में श्रीविजय नाम के साम्राज्य की स्थापना हुई। यह शैलेन्द्र वंश कहलाता है। नालन्दा से प्राप्त आठवीं शताब्दी के पालवंशीय देवपाल देव-राजा के ताम्रपत्र-लेख में तत्कालीन सुमात्रा के शैलेन्द्र-वंशीय बालपुत्र नामक राजा का उल्लेख मिलता है। उससे भारत, सुमात्रा और जावा आदि पूर्वीय द्वीप समूह के बीच घनिष्ट सम्बन्ध का ज्वलन्त उदाहरण प्राप्त होता है। गुप्त काल के लगभग भारतवर्ष का अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपने पूर्ण विकास को प्राप्त हो चुका था। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के लिये संस्कृत में 'चातुर्दिश' शब्द प्रसिद्ध हो गया था। नालन्दा के महाविहार में जो छात्र विदेशों में विद्याध्यायन के लिये आते थे उनके लिये चातुर्दिश संघ नाम से एक संघ अलग ही था। प्रत्येक दिशा में देश की जो भौगोलिक सीमाएँ थीं वे जब वृद्धि को प्राप्त हुईं तभी अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण पनप सका। चतुर्दिगन्त के साथ संबंधित होने की जागरूक भावना गुप्तकालीन साहित्य में प्रौढ़रूप में पाई जाती है।

महाकवि कालिदास ने अपने युग की इस क्रान्तदर्शिनी भावना को कई

प्रकार के शब्द-विन्यास से व्यक्त किया है। महोदधि के तीर पर कलिंग देश में बहनेवाली हवाओं का वर्णन करते हुए उन्होंने द्वीपान्तरों से आनेवाली लवङ्ग पुष्पों की सुगन्धि का वर्णन किया है। ये द्वीपान्तर निश्चय ही समुद्र के उस पार सुदूर पूर्व और पश्चिम के द्वीप थे। उस युग में महेन्द्र का पति महोदधि (बंगाल खाड़ी) का भी स्वामी समझा जाता था (रघुवंश ६,५४) कवि की कल्पना के अनुसार महार्णव की मंद्रध्वनि सोते हुए देशवासियों को जगाती थी (प्रबोधयत्यर्णव एव सुप्तम्, रघु०, ६,५६)। जान पड़ता है कि उस काल में देश का वातावरण 'निःशेष पीतोज्झित सिन्धुराजः, (रघु० ६, ६१) की ध्वनि से गूंजता था, देशवासियों के अदम्य साहस ने समुद्र की उत्ताल तरंगों की अवहेलना करके उनके ऊपर अपना शासन स्थापित कर लिया था। उसके फल स्वरूप ऐसा प्रतीत होता था कि मानों देश के वीर और साहसी नाविकों ने महार्णव के अन्तगल को निःशेष रूप से पी डाला था। गुप्त युग में चारों ओर की दिक्सीमाओं को पार करते हुए देश की संस्कृति का यश पर्वतों को नांघ कर और समुद्र को पार करके देश देशान्तरों में फैल गया। इसी महान् विजय को ध्यान में रख कर महाकवि कालिदासने लिखा होगा—

आरूढमद्रीन् उदधीन् वितीर्णम्
भुजंगमानां वसतिं प्रविष्टम्
ऊर्ध्वंगतं यस्य न चानुबन्धि
यशः परिच्छेत्तुमियत्तयालम् (रघु० ० ६, ७७,)

अर्थात् विश्वजित् यज्ञ के प्रयोक्ता चारों दिशाओं से विभूति का आहरण करके उसका संवर्धन और त्याग करने वाले (रघु० ६,७६) महाराज रघु का यश पर्वतों और समुद्रों को पार करके समस्त भूगोल में व्याप्त हो गया। पाताल में और स्वर्ग लोक में भी यश की प्रतिध्वनि सुनाई दी। सब दिशाओं में और तीनों कालों में व्याप्त उस यश की पूरी तरह माप किस प्रकार हो सकती है? राष्ट्रीय संस्कृति के यशोविस्तार के प्रति इस प्रकार की भावना गुप्त काल में अक्षरशः सत्य थी।

भारतीय भूगोल की परिभाषा के अनुसार किसी समय पृथ्वी सात द्वीपों वाली सप्तद्वीपा वसुमती कहलती थी। पतञ्जलि के महाभाष्य में इसी परिभाषा का उल्लेख किया गया है, किन्तु भौगोलिक विस्तार के साथ-साथ द्वीपान्तरों की संख्या में भी वृद्धि हुई। कालिदास के समय में यह संख्या १८ तक गिनी जाती थी। इसलिये कवि ने 'अष्टादश द्वीपनिखातयूपः' पद का प्रयोग किया है (रघु०६, ३८) अर्थात् अट्ठारह द्वीपों में जिन्होंने अपने यूप चिह्न स्थापित किए थे। इस प्रकार की प्रशस्ति मलय, जावा सुमात्रा आदि द्वीपों में प्राप्त यूप अथवा यज्ञीय स्तम्भों को देखकर सत्य घटना सी जान पड़ती है। गुप्त युग के बाद १८ द्वीपों की संख्या काव्य में स्थिर हो जाती है। कादम्बरी और तिलकमंजरी नामक आख्यायिका-ग्रन्थों में इस संख्या का उल्लेख आता है। कविवर धनपाल कृत 'तिलक मंजरी' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि भारतीय सम्राट् अपने महलों में जो रंगभूमि विरचित करते थे उसमें अभिनीत होने वाले नाटकों को देखने के लिये अट्ठारह द्वीपों के राजा एकत्र होते थे—

अभिनीयमानरघुपुरःसरादिभूपालचरितमुन्नतप्रासादशिखरचन्द्रशालायाम् रचितरङ्गभूमिरवसरेषु द्रष्टुमागतानामष्टादशद्वीपमेदिनीपतीनाम् दर्शयसि दिव्य-प्रेक्षाविधिम्, (तिलक मंजरी पृ० ५७)।

दसवीं शताब्दी से पूर्व जावा के शैलेन्द्र सम्राटों की अध्यक्षता में बड़बुदूर के महान् बौद्ध मन्दिरों का निर्माण हो चुका था प्राम्बनं और कलशं (कथासरित्सा-गर का कलशवरपुर) के देव प्रासादों की कीर्ति अवश्य ही भारतवर्ष के बाहर से आकर यहाँ फैली होगी। तभी तो महाराज मेघवाहन की सम्राज्ञी मदिरावती के दोहद का वर्णन करते हुए कवि ने कल्पना की है कि रानी के हृदय में अभि-लाषा हुई कि सागर के मध्य में स्थित द्वीपों के देव मंदिरों में होने वाले सांध्य-नृत्य को चलकर देखा जाय—

सागरान्तरद्वीपायतनेषु सान्ध्यमारब्धमप्सरोभिः प्रेक्षानृत्यमीक्षितुमाकांक्षत् (तिलक मंजरी पृ० ७५)।

इस प्रकार गुप्तकाल में सप्तसमुद्रों के साथ जीता-जागता परिचय देश को

प्राप्त हुआ। समुद्रगुप्त ने प्रयाग की विजय-प्रशस्ति में सर्वद्वीप निवासियों के साथ अपने सम्बन्ध का उल्लेख किया है। उसकी परम्परा उत्तरकालीन शताब्दियों में भी अटूट बनी रही। सप्त समुद्रों की प्रदक्षिणा करके महोर्मियों पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहराते हुए जो नाविक घर लौटते थे उन्होंने सप्त-समुद्र से प्राप्त होने वाली लक्ष्मी के महादान का आदर्श समाज में प्रचारित किया। इस प्रकार के वीर और धीर भारतीय पोताध्यक्षों में चटगाँव के समीप रक्तमृत्तिका (रांगामाटी) के महानाविक बुद्धगुप्त का नाम अमर रहेगा जिनका संस्कृत शिला-लेख आज भी मलय द्वीप के बेलेजली प्रान्त में उत्कीर्ण है।

इस प्रकार सागरों की परिक्रमा से लौटे हुए मनुष्यों की समाज में बढ़ती हुई संख्या पाटलिपुत्र, काशी, कौशांबी, उज्जयिनी जैसे समृद्ध नगरों को भरने लगी। सामुद्रिक व्यापार के द्वारा समाज में लक्ष्मी का संचय होने लगा और लोक में यह प्रतीति दृढ़ हुई कि वस्तुतः लक्ष्मी सागर की पुत्री है। सामुद्रिक यात्राओं के द्वारा लक्ष्मी के संचय की वार्ता चारों ओर फैल गई और सप्त समुद्रों के साक्षात् सान्निध्य से लक्ष्मी को प्राप्त करने की अभिलाषा जन-साधारण के हृदयों में उमंगने लगी। इन भावों की छाप तत्कालीन काव्य, नाटक और कथा-साहित्य पर भरपूर पड़ी। गुजराती भाषा में आज भी एक लोकोक्ति जीवित है जिसका अर्थ यह है कि जो जावा जाता है वह फिर कर नहीं आता अर्थात् वहीं बस जाता है। जो कदाचित् लौटता है तो इतने अधिक मोती लाता है कि पीढ़ी दर पीढ़ी भी समाप्त नहीं होते। इन्हीं भावों को व्यक्त करने के लिये सप्तसागर नामक महादान की कल्पना का जन्म हुआ। पुराण के लेखक ने लोक-व्यापी उस उदार भावना का अनुवाद करते हुए लिखा है 'ये सप्त-समुद्र पापों का क्षय करने वाले और अमृत का विलेपन लगाने वाले हैं। समस्त भुवनों में जो लक्ष्मी है तथा देव और असुर जिन मणियों को धारण करते हैं उनके प्रभव स्थान ये सागर हैं। इनके साथ अपना मन मिलाने से हम भी उस लक्ष्मी में भाग प्राप्त कर सकते हैं। क्षीर, उदक, घृत, दधि, मधु, लवण और इक्षुरस रूपी जिन अमृतों से हमारा परिचय है वे ही तो इन समुद्रों में भरपूर हैं। इन्हीं अमृतों के अनुसार नामकरण को प्राप्त होने वाले सप्तसागर तीनों भुवनों के जीव-संघों को

अनेक प्रकार के रत्न और धनों से आनन्दित करते हैं। वे सागर जिन्होंने रत्नों से भरे हुए महार्णव के रूप में हमारी इस पृथ्वी को करधनी रूप में अलंकृत किया है सब प्रकार हमारे दुःख और दारिद्रय को दूर करें'। (मत्स्यपुराण २८८, १२-१३) इन भावनाओं से भरे हुए हृदयों से जिस समय मध्य देश के नागरिक सप्त-सिन्धुओं के चरणों में अपना अर्घ्य चढ़ाते थे, उसी युग का स्मारक मथुरा का यह समुद्रकूप है जो आज सात समंदरी कुएँ के नाम से अपने उस प्राचीन गौरव का संकेत करा रहा है। उसकी परिभाषा को और उसके नाम की लिपि को फिर से समझने की आवश्यकता है। आज भी जिस प्रकार देशव्यापी तीर्थयात्रा से लौटने पर उत्सव, भोज और दान किए जाते हैं उसी प्रकार के संगीत, नृत्य-मय प्रफुल्लित उत्सव और महादान सप्त-समुद्रों की परिक्रमा पूरी करके आए हुए व्यापारी समाज में उस समय मनाए जाते थे। इसी कुएँ के समीप बैठकर मथुरा के कितने ही महानाविक, पोताध्यक्ष और सांयात्रिक व्यापारियों ने परिवार और बन्धु बान्धवों के साथ उत्सव करते हुए किसी समय निम्नलिखित श्लोक का उच्चारण किया था—

नमो वः सर्वं सिन्धूनामाधारेभ्यः सनातनाः।
जन्तूनाम् प्राणदेभ्यश्च समुद्रेभ्यो नमोनमः॥

अर्थात् 'समुद्रों को हमारा प्रणाम है जो समस्त जलधाराओं के सनातन आधार हैं और सब जन्तुओं को प्राण दान करने वाले हैं'। कूप और जलाशय नदियाँ और समुद्र इन सब में ओत-प्रोत जो जलतत्व है वही उनकी एकता का विधायक है। मनुष्य की भावना के अनुसार एक कूप भी सप्तसागरों के प्रतिनिधि रूप में उन सोतों के नाम से नामांकित किया जा सकता है। यही वरदान किसी समय मथुरा के लक्ष्मीपुत्र नागरिकों ने इस सप्तसमुद्र कूप को दिया था। जिस समय देश में स्वर्ण की समृद्धि थी उसी समय हमारी संस्कृति का भी स्वर्णयुग निर्मित हुआ। सप्तसागर महादान की विधि बताते हुए कहा गया है कि अपनी शक्ति के अनुसार सवा पाव से सवा मन तक स्वर्ण लेकर बित्तेभर के (प्रादेशमात्र, ९ इंच) अथवा उससे बड़े हाथ भर (अरत्नि मात्र, १८ इंच) के लम्बे चौड़े सात चमचमाते हुए कुण्ड बनाने चाहिएँ। और उन कुण्डों में क्रमशः-नमक,

दूध, घी, गुड़, दही, शक्कर और जल भरकर उन्हें सप्त-समुद्रों का प्रतिनिधि मानकर भावना करनी चाहिए। जिन देवों में हमारा विश्वास हो और जिनकी हम पूजा उपासना करते हों उनके द्वारा सप्तसमुद्रों पर विजय की भावना को बलवती बनाना मनुष्य का धर्म है। तदनुसार विधान किया गया कि लवण के कुण्ड में स्वर्ण निर्मित ब्रह्मा की प्रतिमा स्थापित की जाय। दुग्ध के बीच में विष्णु की, घृत के मध्य में शिव की, इक्षुरस या गुड़ के बीच में भास्कर सूर्य की, श्वेत दधि के मध्य में चंद्रमा की, शर्करा के बीच में लक्ष्मी की और जल के मध्य में पार्वती की प्रतिमा रखनी चाहिए। इसके अतिरिक्त रत्न और धान्य उन कुण्डों के समीप रखने चाहिएँ। इस प्रकार सागर और धरित्री के संयुक्त वरदान से प्राप्त होने वाली जो लक्ष्मी है उसका प्रतीक उन जोड़ों के रूप में कल्पित करके समुद्रों की भावना अपने हृदय में भरनी चाहिए। यत्न पूर्वक जिस लक्ष्मी का उपार्जन किया गया है अंत में उसके भार को हल्का कर लेना अर्थात् लोक हित के लिये उसको विसर्जित कर देना आवश्यक है। यही सप्तसागर महादान का लौकिक स्वरूप है। "त्यागाय संभृतार्थानाम्, दान के लिए धन का संचय, यही गुप्तयुग का जीता-जागता आदर्श था।

आज प्राचीन सप्तसागर दान के आदर्श हमारे नागरिकों के दृष्टि-पथ से ओझल हो गए हैं। परन्तु यह निश्चय है कि जब तक सप्त समुद्रों के साथ हमारा सम्बन्ध फिर से स्थापित न होगा तब तक सवा मन स्वर्ण-दान की क्षमता हमारे समाज में फिर से उत्पन्न न हो सकेगी। जिन देशों का सम्बन्ध सप्त समुद्रों के साथ आज जीता-जागता है वहाँ इस प्रकार के महादान की योग्यता साधारण सी घटना है। अपने नागरिकों से सवा मन स्वर्ण दान प्राप्त करनेवाली अनेक पश्चिमी संस्थाओं के वृत्तान्त हमारे कर्णगोचर होते रहते हैं। किसी समय सप्त समुद्र की परिक्रमा से लौटा हुआ. प्रत्येक भारतवासी यथाशक्ति इस महादान के द्वारा अपने आपको सामाजिक भार से उऋण करता था। लोक में पनपनेवाली धार्मिक संस्थाएँ, विहार और महाविद्यालय, जिनमें शिक्षा के केन्द्र थे और जिनमें ज्ञान और धर्म की साधना निरन्तर होती थी, सप्त-सागर महादान से प्राप्त होने वाले स्वर्ण से उपकृत रहती थीं।

भारत के उस प्राचीन सामुद्रिक व्यापार अथवा सप्तसागरों के विजय की कथा बड़ी रोमाञ्चकारी है। मध्यकाल का संस्कृत कथा-साहित्य पूर्वी द्वीपसमूह की यात्राओं के वर्णनों से भरा पड़ा है। अनेक भौगोलिक नामों के रूप में उस विजय के कीर्ति स्तम्भ आज भी विद्यमान हैं। मंजुश्री मूलकल्प में कुछ पूर्वी द्वीपों के नाम दिये हुए हैं जिनमें यवद्वीप (जावा) बलिद्वीप (बाली) नग्नद्वीप (निकोबार) हैं। नग्नद्वीप को राजेन्द्र चोलदेव के तंजोर लेख में निक्कवरं भी कहा गया है। वारुषक सुमात्रा के उत्तर पश्चिम में स्थित बरुस है। यवद्वीप प्रसिद्ध जावा है। इसी यवद्वीप के उत्तर पूर्व के कोने से सटा हुआ मधुरा द्वीप था जिसका वर्तमान नाम मदुरा है। दक्षिण पूर्वी सुमात्रा की संज्ञा श्री विजय थी जहाँ शैलेन्द्र सम्राटों का महान् राज्य फूला फला और जिसे इस समय पलेंबांग कहते हैं। उत्तरी सुमात्रा का नाम सुवर्ण द्वीप था। बर्मा को सुवर्ण भूमि कहते थे और उत्तरी बर्मा के प्रोम नगर का संस्कृत रूप ब्रह्म था। सुवर्ण द्वीप में ही कलशपुर था जिसका वर्णन कथासरित्सागर के उपाख्यानों (५४, १०८) में आया है। मलयद्वीप के उत्तर पश्चिम तटपर तक्कोल नगर था जहाँ से आने वाली शीतल चीनी को तक्कोल (कक्कोल) कहा गया है। इस प्रकार और द्वीपों को मिलाकर 'अष्टादशद्वीपनिाखतयूपः' विरुद गुप्तकालीन भारतवर्ष ने प्राप्त किया था। उस सुरभित यश की गाथा को व्यक्त करनेवाला संकेत तत्कालीन सामाजिक संस्कृति में सप्तसागर महादान था। उस पुण्य और पवित्र नाम को अपने उर की अगाध जलराशि में धारण किये हुए मथुरा का यह सप्तसमुद्र महाकूप लगभग डेढ सहस्त्र वर्षों से आज भी जीवित है।

१२. कटाह द्वीप की समुद्र-यात्रा

भारतीय उत्कर्ष के युग में पूर्वीय द्वीपसमूह के साथ इस देश का घनिष्ठ संबंध था। भारतीय संस्कृति, धर्म और भाषा का उन द्वीपों की सभ्यता पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। एक प्रकार से ये द्वीपसमूह भारत की धर्म-विजय के अन्तर्गत आ गए थे। इस धर्मविजय की कथा मानवी सभ्यता के इतिहास में अतीव गौरवशालिनी है।

पूर्वीय द्वीपसमूह में निम्नलिखित द्वीपों के भारतीय नाम हैं—

यवद्वीप	जावा
सुवर्णद्वीप	सुमात्रा
मलयद्वीप	मलय प्रायद्वीप
कटाहद्वीप	केडा नामक प्रदेश जो मलयद्वीप के पश्चिम का भाग है।
वारुषक	सुमात्रा के पश्चिमी तट पर बरुस नामक स्थान
बलिद्वीप*	बाली
वारुणद्वीप	बोरनिओ
नारिकेलद्वीप	पूर्वी द्वीपसमूह में से कोई एक

---

*देखिए—मंजुश्रीमूलकल्प २।३२२—

कर्मरंगाख्यद्वीपेषु नाडिकेरसमुद्भवे।
द्वीपे वारुषके चैव नग्नवलिसमुद्भवे॥
यवद्वीपे वा सत्वेषु तदन्यद्वीपसमुद्भवाः।
वाचा रकारबहुला तु वाचा अस्फुटतां गता॥

नग्नद्वीप निकोबार है जिसका उल्लेख निक्कवंर नाम से राजेन्द्रदेव चोल के लेखों में है। कर्मरंग द्वीप—यह लिगार के स्थलडमरूमध्य के समीप मलय का ही एक भाग था। (देखिए, बागची, प्रिआर्यन ऐंड प्रिड्रैविडियन इन इंडिआ, पृ० १०३)।

गुप्त संस्कृति के सुवर्ण युग में भारतवासियों ने चार समुद्रों से घिरी हुई पृथ्वी के उस पार द्वीपान्तरों के साथ अपना संबंध स्थापित किया। महाकवि कालिदास ने रघुवश के छठे सर्ग में कई प्रकार से देश के इस महान् भौमिक विस्तार की ओर संकेत किया है। इंदुमती के स्वयंवर में एकत्र भारतीय राज-परम्परा का वर्णन करते हुए कवि ने राष्ट्रीय श्री का एक चित्र खींचा है। कहीं कवि को ऐसा प्रतीत होता है कि देश के पराक्रम ने महासागर के जलों का निश्शेष रूप से पान कर लिया है (निश्शेषपीतोज्झितसिन्धुराजः)। कहीं भासित होता है कि रत्नों से भरे हुए महार्णव के मेखला-दाम से अलंकृत पृथिवी राष्ट्रीय तेज की उपासना कर रही है। कहीं कवि को प्रतीत होता है कि द्वीपान्तरों से आने-वाली हवाएं लवंगलता के पुष्पों की सुगन्धि अपने साथ ला रही हैं (द्वीपान्तरा-नीतलवंगपुष्पैः)। कभी जान पड़ता है कि सागर की महोर्मियाँ अपनी गम्भीर ध्वनि से देशवासियों को सोते से जगा रही हैं। कवि की पैनी आँख पूर्वीय द्वीपसमूह का पर्यवेक्षण करती हुई अट्ठारह द्वीपों में अपनी संस्कृति और धर्म-विजय के चिह्नरूप जो यूप हैं उन्हें प्रतिष्ठापित देखती है। धर्मविजय से उत्पन्न देश की इस यशोमहिमा को बड़े सुन्दर ढंग से कवि हमें बताता है—

आरूढमद्रीन् उदधीन् वितीर्ण भुजजंगमानां वसतिं प्रविष्टम्।

ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यशः परिच्छेत्तुमियत्तयालम्॥ (रघु० ६।७७)

वह यश पर्वतों पर चढ़कर उनको लाँघ गया। समुद्रों की सीमाओं को पाकर वह द्वीपान्तरों में फैल गया। पाताल भी उसके प्रमाण से अछूता न बचा। स्वर्ग तक ऊँचा उठ कर उस यश ने दिव्य आदर्शों का स्पर्श किया। वह यश कैसा था और कहां तक था, इसे कौन जान सकता है? इतिहास के स्वर्णयुग में भारतीय संस्कृति का जो यश चारों ओर विस्तृत हुआ उसकी व्याख्या महाकवि के उदात्त शब्दों से अधिक सुन्दर और क्या हो सकती है? इस यश की गूँज देश में और विदेश में ऊँची उठने लगी। शताब्दियां और युग उसकी प्रतिध्वनि से भर गए। गुप्तकाल से लेकर लगभग दसवीं शताब्दी तक यह उज्ज्वल यश लोक के कानों में और कंठ में बढ़ता ही गया।

काव्य में और साहित्य में द्वीपान्तर संबंध के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

मलय द्वीप के एक अवान्तर भाग कर्मरंग प्रदेश से आनेवाले चमड़े से बनी हुई ढालों का उल्लेख बाणभट्ट ने हर्षचरित में किया है (निर्णयसागर सं० पृ० २०७, २७०)। 'तिलकमंजरी' के लेखक धनपाल ने मधुर कल्पना करते हुए लिखा है कि राजा मेघवाहन की मदिरावती नाम की रानी ने जब गर्भ धारण किया तो उसके हृदय में यह दोहद अभिलाषा उत्पन्न हुई कि द्वीपान्तरों में जो देवायतन हैं उनमें होनेवाले सांध्य नृत्य को देखा जाय। इसी प्रकार सम्राट् के प्रेक्षागार में जो अभिनय होते थे उन्हें देखने के लिये अष्टादश द्वीपों के भूपतियों को निमंत्रण जाता था। ये कथा-लेखक की कल्पनाएँ हैं, परन्तु इनके पीछे जो लोकभावना थी उसको भारत और समुद्रपार में देशों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध से बल मिलता था। इस दृष्टि से भारतीय कथा-साहित्य की छानबीन होनी चाहिए। तारों भरी रात में जब नाविक अपने पोतों पर सागर की यात्रा करते थे तब उनका समय कथा-कहानियों द्वारा बीतता था। सब प्रकार का कहानी साहित्य उस काल में (पांचवीं शती से आठवीं-नवीं शती तक) दिनदूना रात चौगुना बढ़ा। समुद्र पार की यात्राओं के वृत्तान्त भी कहानी बनकर उस लोकसाहित्य में घुल मिल गए। उसी में पूर्वी द्वीपपुंज के कुछ नामों ने भी साहित्य में घर कर लिया। 'एक राजा था' की तरह कहानियों का आरम्भ इन्हीं नामों से होता था। इनमें सुवर्णद्वीप और कटाह द्वीप के नाम विख्यात हैं। सुवर्ण द्वीप सुमात्रा में था जहाँ श्रीविजय के प्रतापी शैलेन्द्र सम्राटों का साम्राज्य कई शताब्दियों तक फूला-फला। वहाँ के शैलेन्द्रराज श्री बालपुत्र देव ने नालंदा के अन्तरराष्ट्रीय विद्यापीठ के लिये, जिसे चातुर्दिश आर्य भिक्षुसंघ कहते थे, पाँच गाँव दान में दिए थे, जिनकी आय से धर्मग्रन्थों का लेखन, विहार की टूट-फूट की मरम्मत (खंडस्फुटितसमाधानार्थम्), भिक्षुओं के लिये वस्त्र, भोजन, औषधि आदि और बुद्ध भगवान् की पूजा के लिये फुटकर सामग्री का प्रबन्ध होता था। नवीं शताब्दी का यह ताम्रपट्ट नालंदा की खुदाई में सुरक्षित मिल गया है। कथासरित्सागर के अलंकारवती लम्बक की एक कहानी में समुद्र शूर नामक महावणिक् के जहाज़ में माल लादकर सुवर्णद्वीप की यात्रा करने का बड़ा रोचक वृत्तान्त है जिसमें समुद्रयात्रा और नौविद्या के अच्छे पारिभाषिक शब्द पाए जाते हैं। इसी में

सुवर्णद्वीप या सुमात्रा के कलशपुर नामक नगर का भी उल्लेख है। ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में सुवर्णद्वीप के आचार्य धर्मकीर्ति समस्त एशिया के महा प्रसिद्ध विद्वान् थे। दीपंकर श्रीज्ञान (अतिश) नामक महापंडित भी दस वर्ष तक (१०-११-२३) सुवर्ण द्वीप में रहकर उनके पास पढ़ते रहे।

(२)

इसी प्रकार की यात्राओं में कटाह द्वीप का नाम भी आता है। यह कटाह द्वीप मलय प्रायद्वीप का उत्तर-पश्चिम का भाग था जिसे आजकल केडा कहते हैं। चोल-वंशी राजाओं के लेखों में इसकी संज्ञा 'कडार' है। राजेन्द्र चोलदेव प्रथम ने (१०२५ ई०) अपने सामुद्रिक दिग्विजय के वर्णन में नक्कवार (=निकोबार), तक्कोल (क्रा के स्थलडमरूमध्य के कुछ दक्षिण तकोल स्थान), इलंगाशोक (मलय द्वीप में लंकाशुक स्थान) आदि के अतिरिक्त कडार द्वीप की विजय का भी वर्णन किया है।[1] 'कडार के शासक संग्राम विजयोत्तुंगवर्मन् को अनेक हाथियों से भरी हुई सेना के साथ पकड़ लिया और उनकी प्रभूत रत्नराशि को छीनकर नगर के विद्याधर तोरण नामक ऊँचे फाटक को भी ले लिया।' राजेन्द्र चोल के पिता श्रीराजराज चोल के संस्कृत शिलालेख में कडार का संस्कृत नाम कटाह ही दिया गया है और उसमें श्रीमार विजयोत्तुंग वर्मा को शैलेन्द्र वंश में उत्पन्न, श्रीविजय का अधिपति कहा गया है जिन्होंने अपना आधिपत्य कटाह द्वीप के ऊपर भी स्थापित कर लिया था। राजराज चोल का बड़ा ताम्रपट्ट इस समय लाइडन में सुरक्षित है (देखिए, एपि० इंडिका, भाग २२, पृष्ठ २४१-२, २५७।) इस प्रकार कटाह द्वीप नाम की प्रसिद्धि ११ वीं शताब्दी तक निरन्तर पाई जाती है।

अब हम उन कहानियों का उल्लेख करते हैं जिनमें कटाह द्वीप की समुद्र-यात्राओं का वर्णन है। कथासरित्सागर में सोमदेव ने लम्बक १० की तरंग ५ में एक अगुरुवाही मूर्ख सेठ की कहानी इस प्रकार दी है—

---

[1] दक्षिण भारत के शिलालेख (साउथ इन्डिया इंस्क्रिपशंस, भाग ३, पृ० ४६८-६९।)

किसी धनी सेठ का एक मूर्ख लड़का था। वह एक बार वाणिज्य के लिये कटाह द्वीप गया। उसने अपने सामान में बहुत सा अगुरु भी बेचने के लिये लादा। उसका और माल (अपरभांड) तो बिक गया पर अगुरु का कोई ग्राहक न मिला। वहाँ वाले अगुरु को जानते न थे। तब उस वणिक् पुत्र ने क्या देखा कि लोग आते हैं और लकड़हारों से कोयला खरीदकर ले जाते हैं। उसने भी अपने काले अगर की लकड़ी को जलाकर कोयले बना डाले और उन्हें बेंचकर मूल्य लेकर घर वापिस आया। जब वह अपनी बुद्धिमत्ता की डींग मारने लगा, तो लोग उसकी मूर्खता पर हंसने लगे।

क्षेमेंद्र-कृत बृहत्कथामंजरी के २य लंबक की देवस्मिता की कहानी में जो कटाक्ष द्वीप (श्लो० १८३) है वह कटाहद्वीप का ही रूपान्तर ज्ञात होता है। धनगुप्त नामक रत्न विक्रयी वणिक ने बर्बर देश से किसी धनिक की पुत्री देवस्मिता को प्राप्त किया था। ताम्रलिप्ता लौटकर उसके पुत्र ग्रहसेन से उसका विवाह हुआ। कालान्तर में ग्रहसेन भी कटाक्षद्वीप में व्यापार करने गया। चलते समय शिव और पार्वती से उसने दो ऐसे कमल फूल प्राप्त किए जो सदाचार का उल्लंघन करने पर मुरझा जाते। एक अपने साथ और दूसरा देवस्मिता के पास रख कर वह विदेश गया था। वहां चार वणिक पुत्रों के सामने उसने बात खोल दी। वे चारों देवस्मिता की परीक्षा के लिये ताम्रलिप्ता आए। देवस्मिता खरी उतरी। इस भय से कि कहीं ये मेरे पति को हानि न पहुँचावें वह स्वयं भी कटाक्ष द्वीप पहुँची और वहां राजसभा में सब रहस्य प्रकट करके अपने पति को प्राप्त किया।

(३)

कटाह द्वीप की समुद्रयात्रा की दो अन्य कहानियां जैन कथा-साहित्य में सुरक्षित हैं। हरिभद्रसूरि (आठवीं शताब्दी)-कृत समराइच्चकहा (समरादित्यकथा) नामक एक बहुत बड़ा कहानी ग्रन्थ प्राकृत भाषा में है। उसमें एक कहानी इस प्रकार है—

भारतवर्ष में ताम्रलिप्ती पुरी में रहनेवाले कुमारदेव सेठ के घर में एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम अरुणदेव था। उसी समय पाटलापथ नगर में

यशादित्य सेठ के घर में एक कन्या उत्पन्न हुई। उसका नाम देइनी था। जब वह बड़ी हुई तब उसका विवाह अरुणदेव के साथ कर दिया गया। विवाह के अनन्तर अरुणदेव व्यवहार के निमित्त यानपात्र (जहाज़) लादकर महा कटाहद्वीप को गया। मार्ग में कर्म की विचित्र गति से उसका जहाज़ डूब गया। तब वह समुद्र में कूदा और एक बहते हुए फलक के सहारे समुद्र के पार होकर किनारे पर आ लगा। कहानी के बहुत उतार-चढ़ाव के बाद वह पाटलिपुत्र में जा पहुँचा इत्यादि (समाराइच्चकहा पृष्ठ ५८५)। इसमें कटाहद्वीप से संबद्ध अंश इतना ही है।

इसी ग्रन्थ की दूसरी कहानी संक्षिप्त रूपमें यह है—

जम्बूद्वीप के भारत नामक वर्ष में एक 'सुसम्म' नगर था। उसमें वैश्रवण नाम का एक सार्थवाह रहता था जो सब स्थानों का प्रधान नगरसेठ था और दीन अनाथ कृपण जनों पर कृपा करनेवाला था। उसकी श्रीदेवी नाम की स्त्री के धन नामक पुत्र हुआ। उसका विवाह धनश्री नामक स्त्री से हुआ। उसी नगर में समृद्धिदत्त नामक दूसरा सार्थवाह-पुत्र था जिसने देशान्तर के व्यापार से बहुत सा धन कमाया। उसे वह दीन अनाथ दुःखितों को बांटा करता था। उसके विभव को देखकर धन का मन उदास हुआ। उसके सेवक नन्दकने इसका कारण पूछा तो उसने सब हाल कहा। नन्दक ने कहा—तुम्हारे पास भी तो पुण्य से प्राप्त हुआ बहुत धन है, तुम तो इससे भी विशेष प्रभावशाली हो। इस पर धन ने कहा—पुरखों के कमाए हुए धन से क्या? कहा है कि लोक में उसी की सच्ची बड़ाई है जो अपनी भुजाओं से पैदा किए हुए धन को दीन अनाथों में बांटता है। मैंने अपने आप तो कुछ कमाया ही नहीं। तू पिता से पूछ जिससे मैं दिसावर को जाऊँ और पुरखाओं के कर्म व्यापार से धन उत्पन्न करूँ। नन्दक ने बड़े सेठ जी से आज्ञा ले ली। धन बहुत खुश हुआ और तैयारी करके घोषणा करा दी—'धन नाम का सार्थवाह-पुत्र यहाँ से ताम्रलिप्ती नगरी को जायगा। जो उसके साथ चलना चाहे चले। जिसे जो पाथेय या सामान चाहिए वह उसे मिलेगा।'

इस प्रकार जब वे चलने को तय्यार हुए तब उसकी स्त्री धनश्री भी साथ

चलने का आग्रह करने लगी। धन ने उसको भी ले लिया। उसी समय उसकी माता भी आई और पुत्र को समझाने लगी—हे पुत्र परदेस बड़ा कठिन होता है। वहाँ वियोग तो मानी हुई बात है। मिलन कठिनाई से ही होता है। धनोपार्जन में भी कम क्लेश नहीं उठाना पड़ता। मन में विषाद का न होना ही धन कमाने का मूल है। यद्यपि तुम में सब गुण हैं फिर भी परदेश में क्षमा आदि गुणों का विशेष विचार रखना और बराबर अपना कुशल समाचार (प्रवृत्ति) देते रहना।'—धन ने माँ की बात सिरमाथे की और यात्रा के लिये निकला।

दो महीने बाद वह ताम्रलिप्ती पहुँचा। यहाँ के राजा से मिला जिसने उनका सम्मान किया। तब उसने अपना माल बेंचा पर जैसा चाहता था वैसा लाभ न हुआ। वह सोचने लगा कि बिना जोखिम उठाए लक्ष्मी से भेंट नहीं होती, मैं निश्चय समुद्र पार करूँगा। इस विचार को उसने अपने सेवक और स्त्री से कहा। उन्होंने उसकी रुचि का समर्थन किया। तब धन ने परदेस को जानेवाला माल (परतीरगामी भांड) खरीदा और जहाज ढूँढने लगा।

इस बीच धनश्री ने (जो मनमें पति की ओर से मैल रखती थी) सेवक से कहा। चलो दूसरी जगह चलें। तुम्हें समुद्र पार जाने से क्या ? नन्दक स्वामिभक्त था। उसने पीछे रहना स्वीकार न किया। इसी बीच में जहाज ठीक हो गया, और माल उसपर लाद दिया गया। शुभदिन विचार कर धन भी वेलातट पर आया। पहले दीन और अनाथों को उसने धन बांटा, फिर जल-निधि की पूजा की और जहाज (यानपात्र) का भी पूजन करके परिजन के साथ उसपर चढ़ा। लंगर उठा लिए गए (उक्खिता नंगरा, समरा० पृष्ठ २०२) और पाल खोलकर उन्हें हवा से भर दिया गया। कछुवे और करिमकरों से भरे हुए सागर में जहाज चलने लगा। शंखों से भरा हुआ समुद्र पाताल की तरह गहरा था। लहरों के ऊपर उछलते हुए जल-हस्ती ऐसे जान पड़ते थे मानो सागर में घुमड़ते हुए मेघरूपी हाथियों के प्रतिस्पर्धी गजेंद्र हों। कहीं वेलातट की लवली लताओं पर बैठे हुए गंधर्व-मिथुनों की शोभा दिखाई पड़ती थी। कहीं जल, हीरे, नीलम और मरकत के रंगों से रँगा हुआ जान पड़ता था। कहीं हवा पानी के छींटों को उड़ाती हुई किनारे के ताल-वनो में सरसर बह रही

थी और कहीं विद्रुम-लताओं से समुद्र सुहावना लग रहा था।

इस प्रकार कई दिन बीतने पर धनश्री ने अपने पति को पहले तैयार किया हुआ विषाक्त भोजन खिला दिया। धन के शरीर में महाव्याधि फूटनिकली। उसका पेट फूल आया, भुजाएँ सूख गईं, मुँह फूल गया, जाँघों में गाठेंपड़ गईं और हाथ-पैर फूट निकले। खाना-पीना कुछ अच्छा न लगता था। धन दुःखी होकर सोचने लगा—माता ने चलते समय कहा था कि मन में विषाद न आने देना। अब दूसरा किनारा भी पास आ गया है। मैं इस नंदक को अपने माल का स्वामी बना देता हूँ, न जाने कल क्या हो जाय? सोचकर उसने नंदक से कहा—"तुम इस रिक्थ के अधिष्ठाता बनो, तुम ही अब नायक हो। तट आने पर जैसा उचित हो उपाय करना। यदि मेरा रोग दूर हो जाय तो सुंदर है, अन्यथा धनश्री को बंधु-बांधवों के पास पहुँचा देना।" यह सुनकर नंदक बहुत दुःखी हुआ। किंतु धन के समझाने से उसकी आज्ञा मानने के लिये तैयार हो गया।

इतने में महा कटाह नाम के द्वीप में सब पहुँच गए। नंदक भेंट का सामान लेकर वहाँ के राजा के दर्शन को गया। राजा ने भी उसका सम्मान किया और ठहरने का स्थान दिया। उसने अपना सामान उतारा और वैद्यों को बुलाकर चिकित्सा प्रारंभ कराई। किंतु लाभ न हुआ। तब उसने अपना भांड बेच डाला, और बदले में वहाँ से मिलनेवाला प्रतिभांड ले लिया। वह राजा से भेंट करने गया और उससे सम्मानित होकर अपने देश के लिये रवाना हुआ।

कई पड़ाव बीतने पर धनश्री ने सोचा कि मेरा पति बच गया, अब क्या करूँ? एक पहर रात शेष रहने पर निवृत्त होने के लिये बैठे हुए सार्थवाह पुत्र को उसने पाताल के समान गंभीर समुद्र में धक्का दे दिया, और "हा आर्यपुत्र!" कहकर रोने लगी। नंदक को जब हाल मालूम हुआ तो उसने दुःखी होकर वोहित को रुकवाया और अच्छी तरह ढूंढ़ने के बाद फिर लंगर उठा लिए गए और जहाज स्वदेशाभिमुख चल पड़ा।

इधर जैसे ही सेठ समुद्र में गिरा उसके हाथ में पहले भग्न हुए वोहित का एक फलक लग गया और उसकी सहायता से वह समुद्र में तैरने लगा। नमकीन पानी के सेवन से उसका रोग भी चला गया और वह किनारे आ लगा।

समुद्र के इस पार जाकर उसने पुनर्जन्म समझा।

इस प्रकार कटाह-द्वीप के सामुद्रिक-व्यापार से संबंध रखने वाली इस कहानी के द्वारा हमें तत्कालीन समुद्र-यात्राओं का एक ज्वलंत चित्र प्राप्त होता है। कहानी-कार ने लोक की इस दृढ़ धारणा की चर्चा की है कि बिना समुद्र पार किए संपत्ति प्राप्त नहीं होती। सामुद्रिक-व्यापार यद्यपि उस समय जोखिम का काम था, फिर भी अदम्य उत्साह और साहस से भरे हुए श्रेष्ठी इस प्रकार के वाणिज्य में सफलता प्राप्त करना अपने जीवन का ध्येय समझते थे।

(४)

ऊपर के साहित्यिक वर्णनों से प्राचीन सामुद्रिक व्यापार के संबंध में हमें कुछ पारिभाषिक शब्द भी प्राप्त होते हैं। जहाज़ के लिये चार शब्दों का प्रयोग हुआ है, नौ, यानपात्र, प्रवहण और वोहित। जलनिधि, रत्नाकर, समुद्र सिंधुपति आदिक सागर की संज्ञाएं प्रसिद्ध ही हैं। भगवान कहकर भावपूर्वक समुद्र की पूजा की जाती थी। समुद्र पार करने के लिये 'समुद्र-तरण' और 'लंघन' शब्द आए हैं। व्यापार के लिये 'वणिज्या' और 'व्यवहार' शब्दों का प्रयोग हुआ है। माल के लिये 'भाण्ड' शब्द है। जो माल स्वदेश से बाहर जाता था उसके लिये 'परतीरगामी' इस सुंदर विशेषण का प्रयोग हुआ है। जहाज़ की बंदरगाह में प्रतीक्षा करने के लिये 'प्रवहण-गवेषण' शब्द है। जहाज़ की तैयारी के लिये प्रवहण-सँजोना यह महावरा प्रयुक्त होता था। जहाज़ पर सवार होने से पूर्व कुछ दान-दक्षिणा और पूजा-पाठ करने की प्रथा थी। समुद्र और यान-पात्र दोनों की विधि से पूजा कराई जाती थी। लंगर के लिये 'नंगर' शब्द का प्रयोग हुआ है। समरादित्यकथा से ज्ञात होता है कि ७५० ई० के लगभग यह शब्द हमारी भाषा में आ चुका था। लंगर उठाने के लिये 'उक्खित्ता नंगरा' और 'उच्चाइया नंगरा' महावरों का प्रयोग हुआ है, अर्थात् लंगर का उत्क्षेप (ऊपर फेंकना) और नंगर का स्वस्थान छुड़ाना। 'उच्चाइया' संस्कृत 'उच्याजिता' का प्राकृत रूप है। हिंदी की उचाना (—उठाना) धातु इसी से निकली जान पड़ती है। अपना माल बेचकर व्यापारी विदेश से जो माल लाते थे उसके लिये 'प्रतिभांड' शब्द था। माल लादकर जहाज़ को ठीक

करना इसके लिये 'सज्जित' शब्द का प्रयोग हुआ है। अपने देश या भारतवर्ष के लिये वैदेशिक व्यापारी 'निजदेश' या 'स्वदेश' का प्रयोग करते थे। परदेश में पहुँचते ही पहले उपहार लेकर व्यापारी वहाँ के राजा से भेंट करते थे। व्यापारियों के ठहरने के लिये विशेष आवास-स्थान होते थे। यात्राओं में जहाज़ों के टूटने और डूबने की घटनाएं भी हो जाती थीं। ऐसे यानपात्र को भिन्न और विपन्न कहा गया है। ऐसे समय यात्री अपनी रक्षा के लिये समुद्र में कूद पड़ते थे। कभी कभी लकड़ी के फलक और तैरते हुए जहाज़ के टुकड़ों के हाथ लग जाने से उनकी प्राण-रक्षा हो जाती थी। कहानियों में इस उपाय का बहुधा प्रयोग किया गया है। जहाज़ की गति के लिये 'यानपात्र का चपलभाव' महावरा आया है और जहाज़ रुकवाने के लिये 'धराविया' प्रयोग हुआ है। गुप्तोत्तर काल से लेकर मध्यकाल तक पूर्वी द्वीप समूह की यात्रा के लिये ताम्रलिप्ती का बंदरगाह प्रसिद्ध था, जिसकी पहचान मेदिनीपुर जिले के तामलुक नामक गाँव से की जाती है।

आर्यशूर कृत जातकमाला के अंतर्गत सुपारगजातक में भी एक बहुत साहसपूर्ण समुद्र-यात्रा का वर्णन है, जिसमें जहाज़ डूबते-डूबते बच गया था। वहाँ व्यापारियों के लिये सांयात्रिक शब्द आया है, और जहाज़ों को चलाने वाली पश्चिमी हवाओं का 'पाश्चात्यवायु' नाम से उल्लेख हुआ है। संभवतः यही वे मौसमी हवाएं थीं जिनका परिज्ञान प्रथम शताब्दी ई० के लगभग व्यापारियों को हुआ था। अनुकूल वायु और अतिकूल वायु भी परिभाषिक शब्द थे। कपड़े के पाल के लिये 'सितपट' शब्द का प्रयोग हुआ है। आत्मरक्षा के लिये परिकर बांधकर समुद्र में कूदना और गिरने के बाद बाहुविक्षेप या वारिव्यायाम करने का भी वर्णन आया है। वारिव्यायाम शब्द अपनी भाषा में इस अर्थ के लिये महाजनक जातक के मणि-मेखला संवाद में भी प्रयुक्त हुआ है।

भारतीय नौ प्रचार विद्या, कर्णधार कर्म और नाविक तन्त्र से संबंध रखनेवाले सैकड़ो शब्दों का प्रयोग धनपाल कृत 'तिलकमंजरी' (ग्यारहवीं शताब्दी) में आया है जिसका विस्तृत वर्णन किसी अन्य लेख में किया जायगा।

१३. बोधिसत्त्व

बोधिसत्त्व का आदर्श बौद्धधर्म का मथा हुआ मक्खन है। बोधिसत्त्व वह व्यक्ति है जो केवल अपने लिये निर्वाण या मोक्ष की इच्छा नहीं करता, किन्तु प्राणिमात्र को कल्याण के मार्ग पर लाना चाहता है, जो केवल अपने दुःख की निवृत्ति नहीं चाहता, किन्तु सबको दुःखों से छुड़ाना चाहता है। बोधिसत्त्व का ज्ञान उसे संसार से निवृत्त नहीं करता, किन्तु संसार के संघर्ष में सामने आकर उसे जीतने के लिये प्रेरित करता है। बोधिसत्व व्यक्ति के चित्त में बोधि या ज्ञान की मात्रा भरपूर रहती है, किन्तु ज्ञान की वह हिलोर उसे मानव समाज और प्राणि-मात्र के और भी निकट खींचती है; उसके चित्त का आनन्द उसे एकान्त-वासी नहीं बनाता। यह बहुत ही मनोहर लोकोपकारी आदर्श बौद्ध धर्म के उदय और प्रचार का महान् कारण बना। स्वयं भगवान् बुद्ध के जीवन में बोधिसत्व की चित्तवृत्ति थी। कहा जाता है कि जब उनको 'संबोधि' प्राप्त हो गई तो मार या कामदेव चकनाचूर हो गया, किन्तु चलते-चलाते उसने उन्हें एक चकमा और देना चाहा, और बुद्ध के मन में यह विचार उत्पन्न किया कि इस ज्ञान को अपने ही तक रखो, मनुष्यों को इसे बांटने से कोई लाभ नहीं। बुद्ध ने तुरन्त इस निर्बलता को ताड़ लिया और विचार को दृढ़ करते हुए संकल्प किया कि यह आर्य ज्ञान जो आज मुझे प्राप्त हुआ है मैं प्राणिमात्र को इसमें साझीदार बनाऊंगा। इसी उद्देश्य को लेकर बुद्ध ने आर्य सत्य चतुष्टय और अष्टांगिक मार्ग का उपदेश किया। पैंतीस वर्षों तक घूम-घूम कर वे इसे समझाते रहे और ऊंच-नीच, धनी-निर्धन सबको यह प्रसादी बांटते रहे।

किन्तु बुद्ध भगवान् के बाद एक समय ऐसा आया जब संघ में भिक्षु धर्म का बल बढ़ा और बुद्ध के धर्म का यह राजमार्ग केवल भिक्षुओं के आवागमन के योग्य ही जंचने लगा, औरों के लिये वह संकरा दिखाई दिया। इसकी प्रति-क्रिया होनी अवश्यम्भावी थी और अशोक के समय तीसरी बौद्ध परिषद् के

अधिवेशन में ही यह नया दृष्टिकोण प्रकट होने लगा था। पहिला दृष्टिकोण 'थेरवाद' कहलाया। यह थेरवाद बुड्ढों की भाषा थी। नया दृष्टिकोण रखने वाले उत्साही नवयुवक इस बुढ़भस से सहमत न हो सके। बुद्ध के धर्म को स्वयं हृदयंगम करके उन्होंने नये धर्म-मार्ग को ग्रहण किया। जो पहला तंग रास्ता था, उसे चौड़ा बनाया। जिस पर केवल भिक्षु चल सकते थे उस मार्ग को गृहस्थ और विरक्त सबके लिये सुलभ कर दिया गया, इसी कारण वह महायान अर्थात् बड़ा या चौड़ा रास्ता कहलाया। इसकी तुलना में जो भिक्षुओं का मार्ग था वह 'हीनयान' कहलाने लगा, जिसका अर्थ था घटा हुआ या तंग रास्ता। महायान का ही दूसरा नाम 'बोधिसत्व यान' हुआ, अर्थात् उन जीवों का मार्ग जिनके चित्त में बोधि या ज्ञान है। इसे ही 'श्रावक यान' भी कहने लगे, अर्थात् उन लोगों का रास्ता जो धर्म, नीति, अध्यात्म एवं उत्तम संस्कृति के अभिलाषी होकर उच्च जीवन की आकांक्षा रखते थे। गुप्तकालीन बौद्ध ग्रन्थों में इसे ही 'एक यान' भी कहा है। जिस संघ में पहले केवल भिक्षु थे, उसका दायरा गृहस्थों के लिये भी खुल गया और यह व्यापक संघ महायान की तरह 'महासंघ' कहलाया, इसका यह अर्थ नहीं कि गृहस्थ लोग चीवर पहन कर संघ में प्रविष्ट होने लगे, किन्तु वे अपने केन्द्र में गृहस्थ रहते हुए भी मोक्षमार्ग के अधिकारी बने। महाकवि अश्वघोष ने इसी की घोषणा करते हुए लिखा था—

प्राप्तो गृहस्थैरपि मोक्षमार्गः,

अर्थात् 'गृहस्थों ने भी मोक्ष का मार्ग पाया।'

विक्रम की प्रथम शताब्दी से लेकर चौथी पांचवीं शताब्दी या गुप्तकाल तक इस नये दृष्टिकोण का बहुत विकास और प्रचार हुआ। मथुरा, काशी, उज्जयिनी और तक्षशिला इस नये महायान धर्म के मुख्य प्रचार केन्द्र बने। सद्धर्मपुंडरीक में इस नये लोकधर्म का बड़े ही प्राणवन्त शब्दों में वर्णन किया गया है, मानो बुद्ध भगवान् अपने लोक कल्याणकारी ज्ञान का वरदान लिए खड़े हैं, और सद्गृहस्थों के युवक पुत्रों से कह रहे हैं—

चिन्तेथ कुलपुत्राहो सर्व सत्वानुकम्पया।
सुदुष्करमिदं स्थानमुत्सहन्ति विनायकाः॥ [११।१६]

'हे कुलपुत्रों, सब जीवों के प्रति अनुकम्पा का भाव हृदय में भर कर सोचो कि यह बड़ा कठिन कार्य है, जिसके लिये नेता भगवान् बुद्ध तुम्हें प्रेरित कर रहे हैं।'

'जो इस धर्म को प्रकाशित करने का व्यवसाय या दृढ़ निश्चय अपने मन में कर चुका हो उसका सिंहनाद मैं सुनना चाहता हूँ। यह सुदुष्कर कर्म जिसके लिये मैं कुलपुत्रों का आवाहन करता हूँ, धर्म का प्रकाशन है। इस कर्म को जो अपने मन में धारण करेगा उसे ही मैं गर्वीला शूर समझता हूँ।' 'तथागत के जितने अनुयायी हैं, उन सब में वह व्यक्ति जिसने आत्मसंयम के साथ इस सूत्र को मन में धारण कर लिया है, वही धर्म की धुरी धारण करनेवालों में सबसे अगुआ समझा जायगा।' 'हे कुलपुत्रों! मन में कभी खिन्न न होना और कभी थकान मत मानना। अखिन्न और अविश्रान्त भाव से इस सूत्र को आगे बढ़ाते रहना। एक बार जब कृत संकल्प हुए तब चित्त को पीछे मत लौटाना एवं श्रेष्ठ (अनुत्तर) सम्यक् ज्ञान की ओर आगे बढ़ते रहना।'

इस प्रकार के ओजस्वी स्वर समाज में गूंजने लगे और सहस्त्रों की संख्या में सद्गृहस्थों से नवयुवक इन आदर्शों से तन्मय होने के लिये निकल पड़े। बोधिसत्त्व आदर्श के अनुयायी मनुष्यों के मन में जो भाव थे, वे आधुनिकदृष्टि से भी नीतिधर्म की कसौटी पर खरे उतरते हैं। बोधिचर्यावतार ग्रन्थ में कहा है—

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्॥

'दूसरे प्राणियों को दुःख से छुड़ाने में जो आनन्द का समुद्र उमड़ता है वही सब कुछ है, केवल अपने लिये नीरस मोक्ष प्राप्त करने में क्या रक्खा है'।

शान्ति देव ने अपने शिक्षा समुच्चय में इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं—

आत्मभावस्य भोगानां त्र्यध्ववृत्तेः शुभस्यच।
उत्सर्गः सर्वसत्त्वेभ्यस्तद्रक्षा शुद्धिवर्धनम्॥

'सब प्राणियों के हित के लिये अपनी आत्मा का, अपने सब भोगों का

और यहां तक कि मन, कर्म, वचन के पुण्यों का भी उत्सर्ग कर देना चाहिए, एवं उस त्याग के लिये ही उनकी रक्षा शुद्धि और वृद्धि करनी चाहिए।'

शान्तिदेव का यह वाक्य मानों महायान धर्म का प्रेरक मूलमन्त्र है। आत्मा की रक्षा और वृद्धि, सब प्रकार के भोगों की रक्षा एवं वृद्धि, एवं मन कर्म और वाणी की अनेक शक्तियों की वृद्धि, यह सब किस लिये? इस प्रश्न का अडिग उत्तर यह है—'सब जीवों के कल्याणार्थ त्याग करने के लिये।'

गुप्तकाल के दूसरे मनीषी महाकवि कालिदास ने इन स्वरों में स्वर मिलाते हुए युगवाणी के रूप में लिखा है—

आपन्नार्ति प्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम्। मेघदूत [१।५३]

'उत्तम मनुष्यों की जितनी भी सम्पत्ति है उसका एक मात्र फल दुखियों का दुःख दूर करना है।'

बोधिसत्त्व आदर्श के मूल में व्यक्तिगत चरित्र को ऊंचा उठाने की भावना थी। इन गुणों को बौद्ध लोग 'पारमिता' कहते थे। इस प्रकार की छः पारमिताएँ कही जाती हैं—

षट् पारमिताः परिपूरयितव्याः।
कतमाः षट्, तद्यथा दान-पारमिता,
शील-पारमिता, क्षान्ति-पारमिता, वीर्य-
पारमिता, ध्यान-पारमिता, प्रज्ञा-पारमिता।

दान, शील, क्षान्ति या करुणा, वीर्य या पराक्रम, ध्यान या चित्त की अविचल स्थिति, प्रज्ञा या मन और बुद्धि की ब्राह्मी स्थिति, इस प्रकार के ये चरित्र गुण लोक में आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित हुए। जो व्यक्ति इन गुणों की सविशेष साधना करता है वह बोधिसत्त्व है। प्रत्येक व्यक्ति को बोधिसत्त्व बनने का अधिकार है। इनके अतिरिक्त और भी जितने चरित्र के गुण हैं वे सब पारमिताओं के अन्तर्गत आते हैं। पारमिता का सीधा सादा अर्थ है किसी प्रकार की पूर्णता। इन पारमिताओं के आदर्श से लोक मानस सच्चे रूप में उद्वेलित हुआ, इनकी व्याख्या के लिये सैकड़ों दृष्टान्तों की रचना हुई। मनुष्य के जीवन में सिवाय इन गुणों के और मूल्यवान् तत्त्व है ही क्या? जहां किसी भी प्रकार

का गुणोत्कर्ष हो वहीं बोधिचित्त (ज्ञान युक्त मन का) अंश समझना चाहिए। यह सीधी सादी धर्म की व्याख्या लोगों को बोधगम्य और रुचिकर प्रतीत हुई। बोधिसत्त्व व्यक्ति के मनोभाव, दृढ़ संकल्प, परहित वृत्ति, करुणा और त्याग को प्रकट करनेवाले अनेक दृष्टान्त बौद्ध ग्रन्थों में पाए जाते हैं। इन कथानकों को उस समय 'अवदान' कहते थे।

उत्तरापथ जनपद में उत्पलावती नाम की राजधानी थी। वह नगरी ऋद्ध स्फीत क्षेमयुक्त एवं बहुसंख्यक मनुष्यों से भरी हुई थी। किसी समय उत्पलावती नगरी में दुर्भिक्ष हुआ, जीना कठिन हो गया, भोजन दुर्लभ हो गया। उस समय वहां रूपावती नाम की एक स्त्री थी जो सब तरह से सुन्दर, दर्शनीय, प्रसन्न और घनी शोभावाली थी।

एक बार रूपावती अपने घर से निकल कर राजधानी में घूमने गई और किसी घर में प्रविष्ट हुई। उस घर में तभी एक स्त्री ने बच्चा जना था। भूख की तड़प से व्याकुल उस स्त्री ने निष्ठुर चित्त से अपने ही उस बालक को खाने की इच्छा की। उसे देखकर रूपावती ने कहा—

'बहिन ! यह क्या करने लगी हो ?"

उसने कहा—'बहिन ! बहुत भूखी हूँ, इसलिये अपने ही बच्चे के मांस से भूख मिटा लेना चाहती हूँ।'

रूपावती ने कहा—'बहिन ! तुम्हारे घर में क्या कुछ अन्न-पान या भोजन नहीं है ? लोक में पुत्र बड़ा दुर्लभ है।'

वह बोली,—'अरी बहिन ! मेरे घर में अन्न-पान कुछ भी खाने को नहीं है। संसार में जीवन दुर्लभ है।'

रूपावती ने कहा 'बहिन ! थोड़ी देर ठहरो, जब तक मैं अपने घर जाकर तुम्हारे लिये कुछ खाने को ले आती हूँ।'

वह बोली,—'अरी बहिन ! मेरी तो कोख भूख से सूख कर कंडा हुई जाती है, मेरे लिये धरती फट रही है, मेरा हृदय धू-धू कर रहा है। जैसे ही तुम इस घर से बाहर पैर रक्खोगी, मेरी जान निकल जायगी।'

तब रूपावती के मन में आया कि यदि मैं इसके बच्चे को लेकर जाऊँ

तो यह भूख से तड़प कर जान दे देगी, और यदि बच्चे को छोड़ जाऊं तो यह निश्चय उसे खा लेगी। क्या करूं कि इन दोनों की जान बचे ? तब उसके मन में यह विचार आया कि इस संसार में अनेक प्रकार के दुःख हैं। अनेक बार अनेक योनियों में मैंने भी उनका अनुभव किया होगा। यदि मैं आज अपने आत्मतेज, बल और उत्साह का सहारा लेकर इस स्त्री को अपने रक्त और मांस से तृप्त करके इसके बच्चे को बचा सकती तो कितना अच्छा होता। यह सोच कर रूपावती ने उससे पूछा—'बहिन ! तेरे घर में कोई शस्त्र भी है।'

उस स्त्री ने कहा—'है'।

'जहां हो उसे बताओ।'

उसने वह दिखा दिया। तब रूपावती ने उस तीखी कटारी से अपने दोनों स्तन काटकर उस स्त्री को अपने रक्त मांस से तृप्त किया और उसे खिला कर कहने लगी—

'हे बहिन ! अब यह समझो कि मैंने इस बच्चे को अपने रक्त मांस से मोल ले लिया है। मैं इसे तुम्हारे पास धरोहर सौंपती हूँ। जब मैं तुम्हारे लिए भोजन लेने घर जाऊं तब इस बच्चे को मत खा लेना।

वह बोली—'आज आज के लिए ऐसा ही सही।'

तब रूपावती अपने घर गई। उसके शरीर से रक्त बराबर बह रहा था। उसके पति ने रूपावती की यह दशा देख कर उससे पूछा—'हे रूपावती ! किसने तुम्हारा यह बुरा हाल किया है ?' उसने सब सच्चा हाल कह सुनाया और बोली—'हे आर्य पुत्र ! उस स्त्री के लिये जल्दी भोजन ले जाओ।'

तब उसके पति ने कहा—'हे आर्य पुत्री ! उस स्त्री के लिये भोजन तुम्हीं ले जाओगी। मैं केवल सत्य की शपथ करता हूँ—

"हे आर्य दुहिते ! तेरे जिस सत्य बचन से यह इस प्रकार का आश्चर्यमय अभूतपूर्व धर्म हुआ है, वह न कभी देखा गया, न सुना गया। उस सत्य की महिमा से तेरे दोनों स्तन पुनः वैसे ही हो जाएँ।"

जैसे ही उसने सत्य की इस शपथ का उच्चारण किया उसी क्षण रूपावती के दोनों स्तन पहले जैसे हो गए।

रूपावती के इस अद्भुत त्याग और दान महिमा को देख कर इन्द्र का आसन भी डोल गया। उसने सोचा कि कहीं इसने मेरा आसन लेने के लिये तो ऐसा नहीं किया? लाओ इसके मन की थाह लूं।

इन्द्र ब्राह्मण का वेश रख कर उत्पलावती नगरी में भिक्षा मांगते हुए रूपावती के घर आया और द्वार पर खड़े होकर भिक्षा के लिये अलख जगाया। तब रूपावती भिक्षा लेकर आई। इन्द्र ने उससे पूछा—'रूपावती! क्या यह सत्य है कि तुमने बच्चे के लिये अपने दोनों स्तन दे दिये थे?'

वह बोली—'आर्य ब्राह्मण! सत्य है।'

इन्द्र ने कहा—'रूपावती! इस प्रकार अपने स्तनों को देते हुये क्या तुम्हारे मन में कोई दूसरा विचार तो नहीं आया था।?'

उसने कहा—'नहीं मेरे चित्त की कुछ भी दूसरी स्थिति नहीं हुई। हे ब्राह्मण! जिस सत्य के द्वारा मैंने अपने दोनों स्तन उस बच्चे की जान बचाने के लिये दे दिये थे, वह मेरा सत्य न राज्य के लिये, न भोगों के लिये, न इन्द्रपद के लिये और न चक्रवर्ती राजाओं के साम्राज्य के लिये था। वह सत्य पालन इस बात को छोड़ कर और किसी भी उद्देश्य से न था कि मैं उत्तम सम्बोधि प्राप्त करके जो अविनीत हैं उन्हें विनीत बनाऊं, जो अमुक्त हैं उन्हें मुक्त करूं, जो बिना आशा के हैं उन्हें दिलासा दूं, और जो दुःखी हैं उनके दुःख की ज्वाला बुझाऊं (दिव्यावदान पृष्ठ ४७०-७३)।'

नारी रूपावती उस युग की प्रतिनिधि है। धर्म के सच्चे कार्यकर्त्ता का जो त्याग होता है, वह राज्य के अधिकार के लिये नहीं, अपने सुख के लिये नहीं, स्वर्ग के लिये नहीं और इन्द्र का ऊंचा पद पाने के लिये भी नहीं होता। उसके त्याग का केवल एक ही ध्येय होता है, और वह यह कि जो बन्धन में पड़े हैं उनके बन्धन कट जाएं, जिनके हृदय में आशा की कोई रेखा नहीं है उन्हें आशा की किरण प्राप्त हो, और जो निर्वाण के मार्ग से दूर हैं उनके दुःखों की तपन बुझाई जा सके।

यह जीवन कर्म क्षेत्र है, इसमें न जाने कितनों को अपना सुख, कितनों

को अपना धन, कितनों को अपना शरीर, यहां तक कि अपना सिर भी देना पड़ता है, परन्तु शीर्ष दान करते समय भी वही बोधिसत्त्वों का आदर्श सम्मुख होना चाहिए जैसा स्त्री रूपावती के सम्मुख था। जो ध्येय रूपावती के सामने था उसकी थोड़ी प्राप्ति से भी जीवन सफल हो जाता है।

दिव्यावदान में एक दूसरी कहानी चन्द्रप्रभ बोधिसत्त्व की है जहां उसने इसी प्रकार परहित में अपना शीर्षदान कर दिया था। चन्द्रप्रभ के चित्त में भी अपार करुणा, त्याग और दान की प्रवृत्ति थी। उसे महाकारुणिक, मैत्रात्मक, सत्ववत्सल, ज्ञानकुशल, दिव्यचक्षु एवं अनेक गुणों से युक्त कहा गया है। लेकिन व्यक्ति चरित्र के गुणों में कितना भी महान् हो, संसार अनित्य है और इसकी अनित्यता अपना दुःख-सुख का बल लेकर व्यक्ति पर आक्रमण कर देती है। इसी स्थिति में बोधिसत्त्व के गुणों की परीक्षा होती है। जिसके मन में बोधि या प्रज्ञा है वह दुःखों से विचलित नहीं होता। दुःख के साथ संघर्ष करते हुए उसके चरित्र की पारमिताएं और अधिक चमकती हैं। बौद्ध आचार्य इन पारमिताओं को केन्द्र में रखकर इनके चारों ओर अनेक सुन्दर कथानकों का तानाबाना बुन गए हैं। संस्कृत बौद्ध साहित्य उनसे भरा पड़ा है। उनकी छाप और भी भारतीय साहित्य पर पड़ी। गुप्त युग में महाकारुणिक भगवान् बुद्ध का अपना शरीर भूखी व्याघ्री की प्राण रक्षा के लिये देने की सुन्दर कथा को लोग बड़े चाव से कहते और सुनते थे। यह आख्यान अत्यन्त लोकप्रिय था। इसके द्रावक स्थलों को सुन कर विहारों में एकत्र श्रोताओं के मन पिघल जाते थे। आर्यशूर ने चौंतीस जातक कथाओं का एक संग्रह संस्कृत में जातकमाला के नाम से गुप्त युग की जनता के लिये तैयार किया था। उसमें पहला स्थान उसने व्याघ्री-जातक को दिया है। महाकवि कालिदास ने अपने युग की इस लोक-भावना का आदर करते हुए, व्याघ्रीजातक के समकक्ष एक नवीन कथानक की सृष्टि की और रघुवंश में उसे दिलीप के चरित्र के रूप में प्रस्तुत किया। जिस प्रकार बुद्ध ने व्याघ्री के सामने अपना शरीर डाल दिया था वैसे ही दिलीप ने गौ की रक्षा रूपी अपने कर्तव्य का निर्वाह करने के लिये भूखे सिंह के सामने मांस-पिंड की तरह अपने शरीर को डाल दिया था—

स न्यस्तशस्त्रः हरये स्वदेहं
उपानयत्पिंडमिवामिषस्य ।

दिलीप की भावना उसी बोधिचित्त से प्रेरित थी जिसकी महिमा का वर्णन बौद्ध-कथानकों में मिलता है। वस्तुतः धर्म-भेद के बिना यह आदर्श उस समय समस्त समाज को मान्य था।

अनेक बोधिसत्त्वों के रूप में मानों भगवान् बुद्ध की अपार गुण सम्पत्ति प्रकट हो रही थी। अतएव समाज में बोधिसत्त्वों की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा और पूजा मान्य हुई। मथुरा की शिल्पकला में सर्व प्रथम बोधिसत्त्व प्रतिमाओं के दर्शन होते हैं। बोधिवृक्ष के नीचे सिंहासन पर पद्मासन में बैठे हुए बोधिसत्त्व की एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति मथुरा से मिली है। दो चामरग्राही उन पर चंवर ढाल रहे हैं। बोधिसत्त्व के मस्तक के चारों ओर सादा तेजचक्र या प्रभामंडल है। बोधिसत्व का दाहिना हाथ अभयमुद्रा में उठा हुआ है। भारतीय कला की यह विशिष्ट मुद्रा बहुत दिन तक बड़ी अर्थवती हुई और हिन्दू मूर्तियों में भी चालू रही जैसा कि नटराज शिव की मूर्तियों में देखा जाता है। बोधिसत्त्व के मस्तक पर केश-चूड़ा से ढका हुआ उष्णीष है और भ्रूमध्य में ललाट-बिन्दु है। हथेली और तलुवों में चक्र और त्रिरत्न के चिह्न हैं। बांये कन्धे पर उत्तरासंग पड़ा है। कटि में धोती पहने हैं। बोधिसत्त्व की मुखमुद्रा में मंद मुस्कान भरी है और यही इसकी प्रभावोत्पादक विशेषता है। तत्कालीन बोधिसत्त्व आदर्श का प्रतिबिम्ब इस मुद्रा में पाया जाता है। मूर्ति की चौकी पर तीन पंक्तियों का एक लेख है जिससे ज्ञात होता है कि एक स्त्री ने शाक्यविहार में इस बोधिसत्त्व प्रतिमा की स्थापना की थी। लेख के अन्त में सार्वजनिक कल्याणवाची शब्द तत्कालीन भाषा में हैं—

सर्व सत्वनां हितसुखाये ।

मथुरा की बनी हुई बोधिसत्त्व की एक विशाल खड़ी प्रतिमा सारनाथ में मिली है जिसे सम्राट् कनिष्क के राज्यकाल के तीसरे वर्ष में मथुरा के त्रिपिटकाचार्य भिक्षु बल ने स्थापित किया था। इसी मूर्ति के साथ उतनी ही ऊंची एक

पत्थर की लाट मिली थी और एक विशाल छत्र भी पाया गया था जो उस लाट के सहारे बोधिसत्त्व के ऊपर लगा हुआ था। बड़े डील-डौल की यह कद्दावर मूर्ति प्राचीन यक्षमूर्तियों की शैली में बनी है जिसके बाह्य आकार से ही बोधिसत्त्व के उदार व्यक्तित्व और अपार संकल्प-शक्ति का आभास पाया जाता है। बोधिसत्त्व के मुख पर उसी प्रकार की मुस्कान भी है।

बोधिसत्त्व की भावना का जो विकास अपने सर्वोत्तम रूप में गुप्तकाल में हुआ, उसकी प्रतिनिधि अजन्ता की पहली गुफ़ा में बनी हुई बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर की चित्रगत प्रतिकृति है। यह चित्र एशिया की कला की सर्वश्रेष्ठ कृति है। दिव्यावदान में जिस प्रकार का उदात्त वर्णन भद्रशिला (तक्षशिला का दूसरा नाम) के परम कारुणिक बोधिसत्त्व राजा चन्द्रप्रभ का पाया जाता है, उस प्रकार के महाव्यक्तित्व की छाप इस चित्र में है। बोधिसत्त्व दाहिने हाथ में नीलोत्पल लिए हुए संसार की अनित्यता पर विचार कर रहे हैं। अजन्ता की कला-साधना के पीछे जो धार्मिक मनोभावों का समुद्र था उसका मथा हुआ अमृत इस अवलोकितेश्वर चित्र में निहित है।

बौद्ध धर्म के व्यापक प्रचार के साथ बोधिसत्त्व की कुछ सुन्दर मूर्तियां उड़ीसा में बनाई गईं। पूर्व मध्यकाल में उड़ीसा में बौद्ध धर्म खूब फला-फूला। आठवीं शती में वहां के राजा शुभकरदेव ने सुप्रसिद्ध गंडव्यूह ग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रति अपने हस्ताक्षर के साथ थाङ्वंशी चीनी सम्राट् को उपहार में भेजी थी। उड़ीसा के ललितगिरि स्थान से आठवीं शती की अत्यन्त सुन्दर बोधिसत्त्व मूर्ति प्राप्त हुई है। बोधिसत्त्व का दाहिना हाथ वरद मुद्रा में और बायां सनाल कमल लिए हुए है। कमल के ऊपर एक छोटा वज्र अंकित है, जिसके कारण यह वज्रधर अवलोकितेश्वर की मूर्ति है। बौद्धों की परिभाषा में वज्र उस मानसी स्थिति, प्रज्ञा और ज्ञान का सूचक था जिस पर बाह्य परिस्थितियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जो सर्वथा अभेद्य और अकाट्य है। वज्र की ही दूसरी संज्ञा शून्य थी—वह शून्य जो अनेक आकाशों को अपने में पचा लेता है जिस प्रकार द्वन्द्वों से ऊपर उठे हुए बोधिचित्त में अनेक चित्त-संस्कार विलीन हो जाते हैं।

कला की दृष्टि से यह मूर्ति अत्यन्त सुन्दर है। उसके खड़े होने की मुद्रा नितान्त स्वाभाविक है। बोधिसत्त्व की अंगयष्टि और ध्यानलीन मुखाकृति दोनों में ही शिल्पी को अपूर्व सफलता मिली है। परम करुणा, सत्ववत्सलता आदि जो गुण बोधिसत्त्व के कहे जाते हैं उन सबको शिल्पी ने इस प्रतिमा में व्यक्त किया है।

आठवीं-नवीं शताब्दी के बाद भी बोधिसत्त्व की उदात्त कल्पना जनता के मन में रही। इसका आभास महोबा से प्राप्त हुई एक सुन्दर बोधिसत्त्व मूर्ति में मिलता है जो सिंहनाद अवलोकितेश्वर की है। यह मूर्ति ग्यारहवीं शती की है। इसमें योगिराज शिव और कारुणिक बोधिसत्त्व के आदर्शों का समन्वय है। जिस धार्मिक और दार्शनिक विचारधारा का परिपाक नाथ-सम्प्रदाय के रूप में हुआ है उसकी पूरी अभिव्यक्ति इस प्रतिमा में पाई जाती है। एक ओर शिव का त्रिशूल और दूसरी ओर बोधिसत्त्व का लहराता हुआ पद्म है। बोधिसत्त्व के सिरे पर जटाजूट और दाहिने हाथ में अक्षमाला है। नीचे दहाड़ते हुए सिंह का वाहन है। बोधिसत्त्व के गम्भीर स्वर की तुलना सिंह के नाद से की गई थी। जिस प्रकार सिंह की दहाड़ वन में और सब स्वरों के ऊपर है उसी प्रकार बोधिसत्त्व का कंठघोष सबके ऊपर था। उनकी वाणी जम्बूद्वीप के आरपार नेपाल, तिब्बत, मध्य एशिया, चीन, जापान, बर्मा, सिंहल, जावा, सुमात्रा, स्याम, कम्बुज आदि देशों में फैल गई थी।

बोधिसत्त्व आदर्शों की यह संध्यावेला थी। आचार में और जीवन में बोधिसत्त्वों के गुणों का अभाव होता जा रहा था। बोधिसत्त्व आदर्श की स्पष्ट निश्चित और सरल भाषा का स्थान सिद्धों की संध्या-भाषा ले रही थी। कहीं-कहीं साहित्य में उन आदर्शों के टिमटिमाते दीपक मिलते हैं। उदाहरण के लिये महाकवि सोमदेव ने कथासरित्सागर में एक कहानी दी है (शशांकवती लम्बक, २७ वीं तरंग) जिसमें एक राजा ब्रह्म राक्षस से अपने आपको बचाने के लिये एक ब्राह्मण कुमार को मोल लेकर देना चाहता है। तब वह महासत्त्व बालक ब्रह्मराक्षस के सामने बोधिसत्त्वों की भाषा में निम्नलिखित उद्‌गार प्रकट

करता है—'इस स्वदेह दान से जो पुण्य मुझे मिला हो, उससे मुझे स्वर्ग नहीं चाहिए और न मोक्ष चाहिए, किन्तु जन्म-जन्म में यह मेरी देह पराये हित में लगती रहे।'

तत्क्षणं स महासत्त्वो बालो हृष्यन्न चिन्तयत्।
स्वदेहदानेनानेन सुकृतं यन्मयार्जितम्॥
तेन मा भून्मम स्वर्गो मोक्षो वा निरुपक्रियः।
भूयात्तु मे परार्थाय देहो जन्मनि जन्मनि॥

---

१४. देश का नामकरण

भारत

वायु पुराण के अनुसार हमारे देश का नाम भारतवर्ष है, और इसमें बसनेवाली जनता का नाम भारती प्रजा है। भारतवर्ष का भौगोलिक विस्तार समुद्र के उत्तर और हिमवान् के दक्षिण में कहा गया है—

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमवद्दक्षिणं च यत्।
वर्षं यद्भारतं नाम यत्रेयं भारती प्रजा ॥

(वायु० ४५।७६)

इसी पुराण के एक अन्य श्लोक में कुमारिका अंतरीप से लेकर हिमालय में गंगा के प्रभव-स्थान तक फैला हुआ भूप्रदेश भारतवर्ष में सम्मिलित माना गया है— आयतो ह्याकुमारिक्यादागंगाप्रभवाच्च वै।४५।८१।

पूर्व के महोदधि* और पश्चिम के रत्नाकर* नामक दो समुद्रों का जहाँ संगम है उसके समीप ही कुमारी अंतरीप है, जहाँ तपश्चर्या में निरत कुमारी पार्वती गंगा के प्रभवस्थान हिमाचल के देवदारु वृक्षों की वेदिका में समाधिस्थ भगवान् शंकर के ध्यान में अहर्निश लीन रहती हैं। देश के उत्तर-दक्षिण के दो बिंदुओं में संतत चारिणी विद्युत्-शक्ति की एक अत्यंत रमणीय कल्पना शिव और पार्वती के इस रूपक के द्वारा की गई है। देश की भूमि केवल पार्थिव परमाणुओं की राशि तो है नहीं, उसमें एक चेतन प्राणधारा जो कुंडलिनी की तरह सजग है, ओतप्रोत है। इसका अर्थ यह है कि उत्तर से दक्षिण तक देश के किसी भाग में होनेवाली घटना राष्ट्र के समस्त चैतन्य का स्पर्श करती है।

***आधुनिक बंगाल की खाड़ी का पुराना नाम महोदधि और अरब सागर का पुराना नाम रत्नाकर है।**

दक्षिण-में फैले हुए समुद्रों की अपार जलराशि के ऊपर कुमारिका अधिष्ठात्री देवी की तरह भारतवर्ष के साथ उन समुद्रों के संबंध को विज्ञापित करती है।

उत्तर में गंगा का उद्गम भारत की स्वाभाविक उत्तरी सीमा है। हिमालय में गंगा के उद्गम और धाराओं की खोज तथा नामकरण प्राचीन भारतीय भूगोल-वेत्ताओं के विलक्षण विक्रम का प्रमाण है। गंगा, अलकनंदा, भागीरथी, मंदाकिनी और जाह्नवी यद्यपि लोक-साहित्य में पर्यायवाची समझी जाती हैं, तथापि ये नाम हिमालय में गंगा की जलद्रोणी को सींचनेवाली पृथक् पृथक् धाराओं के हैं। इनमें से जाह्नवी गंगा को सबसे उपरली धारा है। वह हिमालय के भी उस पार जंस्कर पर्वत-शृंखला से आई है और उसका उद्गम टिहरी रियासत का सबसे ऊपरी छोर है। वर्तमान भारत की उत्तरी सीमाएँ ठीक वहीं तक विस्तीर्ण हैं। इसलिये कह सकते हैं कि जहाँ तक गंगा है वहाँ तक उत्तर में भारतवर्ष है।

पुराणों ने निरुक्तशास्त्र की दृष्टि से भी देश के नाम की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। मत्स्य और वायु पुराण के अनुसार—

भरणाच्च प्रजानां वै मनुर्भरत उच्यते।

निरुक्तवचनाच्चैव वर्षं तद्भारतं स्मृतम्॥ (वायु० ४५।७६)

'प्रजाओं का भरण-पोषण करने के कारण मनु की एक संज्ञा भरत कही गई है। इस शब्द-व्युत्पत्ति को ध्यान में रखते हुए यह देश भारतवर्ष कहलाता है।' इसका अभिप्राय यह है कि मनु प्रजापति ने सबसे पहले धर्म और न्याय की व्यवस्था स्थापित की। उस व्यवस्था के द्वारा प्रजाओं के भरण-पोषण का सिलसिला शुरू हुआ। इस भरणात्मक गुण के कारण मनु भरत कहे गए, और जिस भूखंड में मनु की संतति ने निवास किया और मनु की पद्धति प्रचलित हुई उसका नाम भारतवर्ष पड़ा। इस व्याख्या की यह विशेषता है कि इसमें देश के नामकरण को त्रैकालिक दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न है। अथर्ववेद के पृथिवी-सूक्त में भी कहा गया है कि यह मातृभूमि मनु की संतति के बे रोक-टोक असंबाध) बसने का स्थान है।

किंतु भरत और भारत इन दो शब्दों का और भी प्राचीनतर मूल ऋग्वेद

में है। ऋग्वेद-काल में भरत आर्यों की एक प्रतापी शाखा या जन की संज्ञा थी, जो सरस्वती और दृषद्वती नदियों के बीच में बसे थे। भरतों के द्वारा समिद्ध होने के कारण अग्नि की एक संज्ञा भारत प्रसिद्ध हुई और ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी को भारती कहा गया। भरतों के द्वारा विकसित ज्ञान-प्रधान संस्कृति के लिये भारती, यह ठीक ही नाम था। 'भारत अग्नि' और 'भारती देवी' देश के जिस भाग में फैलती गईं देश का वह भूभाग भारत नाम का अधिकारी होता गया। क्रमशः भारत नाम का संबंध सारे देश के साथ रूढ़ हो गया। भारत अग्नि और भारती देवी के आधार पर भारतवर्ष नाम की व्याख्या भूमि पर क्रमशः जन-प्रतिष्ठा और संस्कृति के विस्तार की सूचक है, और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से बहुत ही सुंदर है।

ब्राह्मण-युग में प्राचीन भरत जन का अंतर्भाव कुरु-पंचाल के क्षत्रियों में होने लगा था। केवल एक जनपद के रूप में भरत नाम चालू रहा। प्राच्य भरत संज्ञा एक जनपद के लिये पाणिनि की अष्टाध्यायी में (२।४।६६; ४।२। ११३; ८।३।७५) भी उपलब्ध होती है। ब्राह्मण-युग में भारत नाम की उत्पत्ति का आधार दौष्यंति भरत को कहा गया है। इन्होंने अठहत्तर अश्वमेध यज्ञ यमुना तट पर और पचपन गंगा के तट पर किए। भरत के बढ़ते हुए प्रताप की महिमा को बताने के लिये यह भी कहा गया है कि सारी पृथिवी जीतकर भरतने इंद्र के लिये सहस्रों अश्वों को मेध्य किया—

परः सहस्रानिन्द्रायाश्वान्मेध्यान् य आहरत् ;
विजित्य पृथिवीं सर्वाम् ॥ (शतपथ १३।५।३।१३)

इस गाथा में 'विजित्य पृथिवीं सर्वाम्' शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। दिगंतव्यापी भरत के प्रताप को प्रकट करनेवाली दूसरी गाथा यह है—

महदद्य भरतस्य न पूर्वे नापरे जनाः ।
दिवं मर्त्य इव बाहुभ्यां नोदापुः पञ्चमानवाः ॥ (श० ब्रा०)

अर्थात्, भरत के महत् या महत्त्व को न पहले के न बाद के जनों में कोई प्राप्त कर सका, जैसे पृथिवी पर खड़े हुए किसी व्यक्ति के लिये आकाश को छूना कठिन हो। सब पृथिवी को अपने विजित में लाने के कारण भरत का

महत्त्व पहले के और बाद के इतिहास में सबसे अधिक समझा गया। ज्ञात होता है कि भरत के इस विशाल चक्रवर्ती स्वरूप से भारत देश के नाम का संबंध भारती जनता को बहुत रोचक प्रतीत हुआ। कुरु-पंचालों के यशःप्रधान काव्य महाभारत इतिहास में भरतवंशोत्पन्न भारत और देशवाची भारत का संबंध बिल्कुल निश्चत हो चुका था; और उसमें 'वर्षं भारत भारतम्' की गूँज सर्वत्र सुनाई देने लगती है। 'वर्षं भारत भारतम्' महाभारतकाल का सबसे बढ़िया भौगोलिक सूत्र है जो आज भी हमारे काम का है।

मध्यदेश—आर्यावर्त

मनु के धर्मशास्त्र में और पतंजलि के महाभाष्य में मध्यदेश और आर्यावर्त इन दो नामों का भी प्रयोग पाया जाता है। भारत नाम का प्रयोग वहाँ नहीं है। मध्यदेश और आर्यावर्त नामों की परंपरा लौकिक संस्कृत और काव्य-साहित्य में बराबर आगे चलती रही। पर इन दोनों नामों का प्रयोग समस्त देश के लिये न होकर उत्तरी भारत, विशेषतः गंगा-यमुना की अंतर्वेदी की विस्तृत सीमाओं के लिये ही प्रसिद्ध रहा। मनु में मध्यदेश के लिये बड़ी श्रद्धा का भाव प्रकट किया गया है। मध्यदेश मानव-चरित्र के लिये पृथिवी का आदर्श और उसका हृदय था। गुप्त-काल के सुवर्णयुग में भी मध्यदेश न केवल भारत-वर्ष में, बल्कि चतुर्दिगंत में भी प्रसिद्ध हो गया था। नेपाल और तिब्बत में अंतर्वेदो के निवासी गौरव के साथ 'मध्यदेशीय' या मधेसिया कहे जाने लगे।

सिंधु-हिंदु

देश के नामकरण की एक दूसरी धारा ऋग्वेदीय 'सिंधु' शब्द है। ऋग्वेद में सिंधु शब्द उस महान् नद की संज्ञा के लिये प्रयुक्त हुआ है जो उत्तर-पश्चिमी भारत के भूगोल की सब से बड़ी विशेषता है। सिंधु के इस पार का पंचनदीय प्रदेश तो भारतवर्ष की सीमा के अंतर्गत है ही, सिंधु के उस पार का वह काँठा भी जहाँ का पानी ढलकर सिंध में आता है और जिसमें कुभा (काबुल नदी), सुवास्तु (स्वात पंजकोरा), गोमती (गोमल), क्रुमु (कुर्रम) आदि नदियाँ हैं—सदा भारतीय भौगोलिक विस्तार का एक अंग माना जाता था।

अफगानिस्तान (आश्वकायन, गंधार), बदख्शाँ और पामीर (कंबोज) का प्राचीन भूगोल एक प्रकार से बिलकुल भारतीय संस्कृति की देन है और भारतवर्ष का जो सबसे पुराना प्राक्-पाणिनि-काल का साहित्य है, उसके साथ उस भूगोल का घनिष्ठ संबंध है। विक्रम की लगभग दसवीं शताब्दी तक सिंधु के उस पार के देशों से भारतवर्ष की हिंदू-संस्कृति का संबंध अटूट बना रहा। उस समय सिंधु के तट पर उद्भांडपुर नामक राजधानी (आधुनिक ओहिंद) में हिंदू धर्म के अनुयायी शाही राजाओं का आधिपत्य था।

सिंधु नाम से हिंदू शब्द की कल्पना का संबंध मुस्लिमकाल से समझना भ्रम है। मुसलमानी धर्म के जन्म से भी बारह सौ वर्ष पहले ईरानी सम्राट् दारा (प्राचीन रूप दारयवहु, संस्कृति धारयद्वसु) के शिलालेखों में विक्रम से छठी शताब्दी पूर्व में भारतीय प्रदेशों के लिये हिंदू शब्द प्रयुक्त हुआ था। प्राचीन शूषा (आधुनिक सूसा) के राजमहल से मिले हुए शिलालेख में लिखा है—

पिरुष् ह्य इदा कर्त हचा कुष् आ उता हचा हिन्दउव् उता हचा हरउवतिया अवरिय् (पंक्ति ४३-४४)।

अर्थात् (इस राजप्रासाद के लिये) हाथीदाँत जो यहाँ बनाया गया, वह कुष देश से, और हिंदू से, और हरह्वैती से लाया गया।

इसमें हिंदउव् हिंदु शब्द की सप्तमी का एकवचन संस्कृत सिन्धौ के बराबर है। उस समय भारतवर्ष का हिंदु नाम ईरान आदि विदेशों में प्रसिद्ध था।

दारा के अन्य लेखों में 'हिंदुष्' अर्थात् हिंदु (सं० सिंधु) और 'हिंदुविय' अर्थात् हिंदु देश का निवासी (सं० सिंधुव्यः) ये शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। पाणिनि के भूगोल के अनुसार सिंधु एक जनपद-विशेष का नाम भी था, जो आधुनिक पंजाब का सिंध-सागर दोआब है। यह स्मरण रखना चाहिए कि जिसे अब सिंध कहते हैं उसका प्राचीन नाम सौवीर था। प्राचीन सिंधु जनपद का नाम सिंधु नदी के तट पर दूर तक फैले हुए होने के कारण ही पड़ा था। इस लिये यद्यपि एक जनपद-विशेष के लिये भी सिंधु शब्द रूढ़ हो गया था, फिर भी भारत देश के लिये उसके रूपांतर हिंदू का प्रयोग उस समय विदेशों में होता था। दारा के लेखों में वह जनपद-विशेष के लिये न होकर भारत

देश के लिये ही प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि हाथीदाँत का व्यापार जिसके कारण हिंदु शब्द का उल्लेख हुआ है, सिंध-सागर दोआब के भूप्रदेश की अपेक्षा देश के पूर्वी भागों से ही अधिक होता था।

सिंधु-हिंदू समीकरण के आधार से ही प्राचीन यूनानी लेखकों ने इस देश को इंडोस् (Indos) कहा। अंत्य सकार प्रथमा के एकवचन का चिह्न है जैसा सं० सिंधुस् और ईरानी हिंदुष् में भी पाया जाता है। इसी परंपरा से भारतवर्ष के हिंदुस्तान, इंडिया, अब ये नाम प्रचलित हुए हैं।

इन नामों के विषय में एक बात ध्यान देने की है कि स्वयं भारतवासियों ने अपने देश के नामकरण में भरत शब्द से प्रचलित परंपरा को अपनाया, किंतु विदेशी लेखकों ने सिंधु शब्दवाले नामों को ग्रहण किया। चीनी लोगों ने भी सिंधु नाम की परंपरा का व्यवहार किया। चीनी सेनापति पन्-योङ् ने वि० १८२ (१२५ ई०) में चीनी सम्राट् को पश्चिमी देशों का वर्णन करते हुए लिखा है कि थि-एन्-चु देश (देवों का देश) शिन्-तु नाम से भी प्रसिद्ध है। शिन्-तु सिंधु का ही चीनी रूप है*। चीनी साहित्य में इसी को 'इन्-तु-को' भी कहा है जिसमें इन्-तु, शिन्-तु (सिंधु) का रूपांतर है और 'को' का अर्थ देश है†।

---

*फारेन नोटिसेज् ऑफ सदर्न इंडिया, लेखक श्री नीलकंठ शास्त्री पृष्ठ १०।

†'इन्-तु-को' नाम की सूचना मुझे श्री शांति भिक्षुजी, चीनभवन, शांति-निकेतन, से प्राप्त हुई जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

१५. धर्म का वास्तविक अर्थ

भारतीय शब्दावली में धर्म एक ऐसा शब्द है, जिससे हमको पग-पग पर काम पड़ता है। ऋग्वेद से लेकर आज तक इस शब्द की ४००० वर्ष लम्बी आयु है। इतने दीर्घ काल में इस शब्द के पेटे में इतना गहरा और विस्तृत अर्थ भर गया है कि आज यदि धर्म शब्द के सब अर्थों को इकट्ठा किया जाय, तो एक बुझौवल-सी जान पड़ती है। इस शब्द में अमृत भी है, जिससे आदमी जी उठता है, और इसमें ऐसा विष भी है कि यदि उसका पलड़ा भारी पड़ जाय, तो समाज के शरीर को मूर्च्छित भी कर सकता है। लेकिन अच्छी वस्तुओं का भला-बुरा प्रयोग तो मनुष्य की अपनी बुद्धि और कुबुद्धि पर निर्भर करता है। धर्म शब्द की आड़ में न केवल इस देश में, पर बाहर भी मनुष्य ने क्या नहीं किया। मनुष्य के मन में जो ऊँची भावनाएँ हैं, उन्हीं को प्रकट करने का साधन धर्म था; लेकिन मनुष्य ने स्वयं ही इस पवित्र शब्द को अपने नारकीय जीवन का साधन भी बना डाला। मनुष्य की करतूतों से ऊपर उठकर हमें धर्म के वास्तविक अर्थ और स्वरूप का विचार करना चाहिए।

भारतीय साहित्य में सबसे पहले ऋग्वेद में यह शब्द मिलता है। वहां और उसके बाद के वैदिक साहित्य में धर्म शब्द का अर्थ ऊंचे धरातल पर है। वह प्रकृति के या ईश्वर के नियमों के लिये प्रयुक्त होता है। ऋग्वेद का धर्म शब्द छोटे बालक की तरह अस्तित्व में आने के लिए अपने हाथ-पैर फैलाता हुआ जान पड़ता है। ऋग्वेद का असली शब्द तो ऋत है, जो सृष्टि के अखंड देश-काल-व्यापी नियमों के लिए प्रयुक्त होता है। वे नियम सबसे ऊपर हैं और ब्रह्माण्ड में जो-कुछ भी है, ऋत के अधीन है। ब्रह्माण्ड की यह अखंड एकता आज विज्ञान से प्रत्यक्ष है। प्रकाश और रश्मियों के जो नियम पृथ्वी पर हैं, वे ही सूर्य में हैं, और उन्हीं के अनुशासन में वे दूर-दूर के लोक हैं, जहाँ से प्रकाश को पृथ्वी तक पहुँचने में ही पाँच अरब वर्ष लग जाते हैं। इस विस्तृत

ब्रह्माण्ड को बाँधकर चलाने वाले जो नियम हैं, उनका वेद में नाम ऋत था। अंगरेज़ी में उसीके लिए Right शब्द है। लेकिन शब्दों का भी युग बदलता है। शीघ्र ही धर्म शब्द की महिमा बढ़ने लगी। धर्म शब्द संस्कृत की धृ धातु से बना है, जिसका अर्थ है धारण करना या सँभालना। जो धारण करे, जो टेक बनकर किसी दूसरी वस्तुको रोके, वह धर्म हुआ। धर्म शब्द का यह अर्थ आसानी से समझ में आता है। साधारण समझ के आदमी को भी यह अर्थ धर्म शब्द में सरलता से पिरोया हुआ दिखाई पड़ता है। अतएव ऋत शब्द की जगह सृष्टि के अखंड नियमों के लिए धर्म शब्द का प्रयोग बढ़ा।

अथर्ववेद में पृथ्वी सूक्त के नाम से एक सुन्दर सूक्त है। उसमें मातृ-भूमि की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है और यह भी बतलाया गया है कि किन-किन नियमों के द्वारा मातृभूमि की रक्षा और वृद्धि होती है। उसमें पृथ्वी को 'धर्मणा धृता' अर्थात् धर्म से धारण की हुई कहा गया है। अवश्य ही धर्म शब्द का यहाँ वही ऊँचा अर्थ लिया गया है, जिसका सम्बन्ध धृ धातु से है। लेकिन उसी युग में धार्मिक विश्वासों और मान्यताओं के लिए भी धर्म शब्द प्रयोग में आने लगा था। पृथ्वी पर रहने वाले अनेक भाँति के जनका वर्णन करते हुए इसी सूक्त में यह भी कहा है कि वे नाना धर्मों के मानने वाले हैं, जो कि हमारे देश की एक पुरानी सचाई है। वस्तुतः साम्प्रदायिक मत के लिए धर्म शब्द का प्रयोग यहीं से आरम्भ होता है। गृह्य सूत्रों में धर्म शब्द रीति-रिवाजों के लिये भी इस्तेमाल किया गया है। इस तरह के रीति-रिवाज सामया-चारिक धर्म अर्थात् पुराने समय से आए हुए सामाजिक आचार या शिष्टाचार कहे गए हैं। इस तरह के रीति-नियम समाज और राज्य दोनों के लिये मानने लायक होते हैं, और वे ही पंचायतों या अदालतों में कानून का रूप ग्रहण कर लेते हैं। धर्म सूत्रों में इस तरह के सामाजिक नियमों का संग्रह धर्म शब्द के अन्तर्गत किया गया है। इस दृष्टि से आईन या क़ानून के लिए भारतवर्ष का पुराना शब्द धर्म है, और इस अर्थ में धर्म-जैसे छोटे और सुन्दर शब्द का प्रयोग बहुत दिनों तक इस देश में चालू रहा। अदालत के लिये धर्मासन और न्याय करने वाले अधिकारी के लिए धर्मस्थ शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होते थे।

इस तरह के रीति-रिवाज, जो सामाजिक या राजकीय क़ानून की हैसियत रखते हैं, बहुत तरह के हो सकते हैं, जिन्हें देश-धर्म, कुल-धर्म कहा गया है। पेशेवर लोगों के संगठन को उस समय श्रेणी और पूग भी कहते थे और उनके व्यवहार श्रेणी-धर्म या पूग-धर्म कहलाते थे। मनु और याज्ञवल्क्य के धर्म-शास्त्रों में एवं कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजा को हिदायत दी गई है कि वह इस तरह के अलग-अलग धर्मों या रिवाज में आने वाले अमल दस्तूरों को मान्यता दे। धर्म शब्द का यह अर्थ लगभग क़ानून-जैसा ही है। मनु आदि का शास्त्र भी इसीलिए धर्म शास्त्र कहलाता है। उसमें एक तरह से समाज में प्रचलित व्यावहारिक और धार्मिक नियमों का संग्रह था। इस तरह के संग्रह के लिए अंगरेजी का उपयुक्त शब्द 'कोड' है। दूसरे देशों क पुरानी सभ्यताओं में भी इस तरह के बहुत-से संग्रह मिलते हैं, जिनमें कुछ धार्मिक, कुछ सामाजिक, कुछ व्यक्तिगत आचार और कुछ क़ानूनी नियमों के संग्रह पाए जाते हैं। इस तरह का सबसे पुराना संग्रह बेबिलोनिया के सम्राट हम्मूरबिका कोड है। रोमन क़ानूनों का संग्रह, जो 'जुस्टीनियन कोड' के नाम से मशहूर है, इसी तरह का है। भारत वर्ष में मनु का धर्म शास्त्र वैसा ही ग्रन्थ है, जिसमें धर्म शब्द कई तरह के नियमों के लिए लागू हुआ है।

लेकिन इन अर्थों से ऊपर धर्म शब्द का वह ऊँचा अर्थ है जिसके अनुसार धर्म शब्द व्यक्तिगत जीवन के लिये, सामाजिक जीवन धारण करने वाले नियमों के लिये और सारे संसार के नियमों को धारण करने वाले नियमों के लिये प्रयुक्त हुआ। वस्तुतः लोगों को साफ़ दिखाई पड़ता था कि मनुष्य, समाज और सृष्टि तीनों की नींव या जड़में एक ही सत्य पिरोया हुआ है, जिसे उन्होंने धर्म कहा। जीवन के जो नीति-सम्बन्धी नैतिक नियम हैं, वे इसी धर्म शब्द के अन्तर्गत आते हैं। मनुने इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर सत्य, संयम अक्रोध आदि गुणों को धर्म के दस लक्षणों में माना है। धर्म शब्द के इस नीतिमूलक उच्च अर्थ की दो परम्पराएँ साफ़ तौर से दिखाई पड़ती हैं। एक तो भगवान बुद्ध ने धर्म शब्द का यह ऊँचा अर्थ प्रचलित किया। अपने जागे हुए चोखे मन की शक्ति से सारे जीवन का विश्लेषण करते हुए भगवान बुद्ध ने यही निश्चय

किया कि धम्म या धर्म ही अन्तिम बुनियाद है, जिसपर सृष्टि और मानव-जीवन का ठाठ रुका हुआ है। नीति-सम्बन्धी गुण भी बुद्ध के धर्म शब्द के अन्तर्गत ग्राह्य थे। 'धम्मं सरणं गच्छामि'—इस तरह की दीक्षा का जब समाज में प्रचार हुआ, तब धम्म शब्द का वही ऊँचा अर्थ इष्ट था। किसी छोटे सम्प्रदाय या मत के लिए धर्म शब्द का प्रयोग बुद्ध या उनके विचारशील शिष्यों को मान्य नहीं था। धर्म शब्द के अर्थ की यह धारा थी, जिसने कितनी ही शताब्दियों तक लोगों को उच्च भावों से प्रेरित किया। यह ठीक है कि बौद्ध धर्म के दायरे में भी हठवादी या कट्टरपंथी लोग रहे होंगे, जिन्होंने अपने छोटे-से मत को ही सच्चा समझा और उसके लिए आपस में झगड़ा किया; पर ऐसे लोगों की दवा लुकमान के पास भी नहीं होती। क्षुद्र-हृदय के लोग सब जगह रस में विष घोल सकते हैं। उनके लड़ाई-झगड़े ने अशोक को भी तंग कर दिया था।

धर्म शब्द की ऊँचे धारणात्मक अर्थ वाली दूसरी धारा वाल्मीकि और विशेष कर वेदव्यास के ग्रंथों में मिलती है। वेदव्यास ने धर्म शब्द की जो व्याख्या की है, वह सोने के हरूफों में लिखने-योग्य है :

नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः।
यत् स्यात् धारणसंयुक्तं स धर्म इत्युदाहृतः ॥

—अर्थात् उस महान् धर्म को प्रणाम है, जो सब मनुष्यों को धारण करता है। सबको धारण करने वाले जो नियम हैं, वे धर्म हैं।

व्यास ने अपनी 'महाभारत-संहिता' को बड़ी विलक्षणता से धर्मशास्त्र का रूप दे डाला है। व्यासजी के मन में धर्म का जो ऊँचा स्थान था, उसके अनुसार न केवल अर्थ, बल्कि काम भी धर्म पर आश्रित है, और राज्य या स्टेट भी धर्ममूलक है :

त्रिवर्गोयं धर्ममूलम् नरेन्द्र
राज्यं चेदम् धर्ममूलम् वदन्ति।

एक तरफ व्यासजी कहते हैं कि राज्य की जड़ धर्म पर है और दूसरी तरफ उन्होंने कहा है कि लोगों का सारा जीवन राज्य के आश्रित है। 'सर्वेलोका राज-धर्मे प्रविष्टाः' (शान्तिपर्व ६३, २३)। राज्य धर्म पर और धर्म राज्य पर

आश्रित है। देखने में ये दोनों बातें एक-दूसरे को काटती हैं; पर सचाई यह है कि राज्य और धर्म दोनों का मेल ही अपने नये राष्ट्रीय दृष्टिकोण में हमको मान्य है। एक तरफ धर्म सत्य और नीति के रूप में राज्य को धारण करता है। सत्य नहीं, तो राज्य कुछ नहीं। भारतवर्ष सत्य या धर्ममूलक राज्य का निर्माण कर रहा है। आज संसार में भारत की वाणी की जो शान है, वह इसी कारण कि उसने धारणात्मक धर्म या सत्य की बुनियाद पर राज्य का ठाठ खड़ा किया है; लेकिन इस धर्म में सम्प्रदाय वाले धर्म को या मत-मतान्तरों के दृष्टिकोणों को स्थान नहीं है। व्यास ने धर्म का विशद और टिकाऊ दृष्टिकोण बहुत प्रकार से समझाया है। धर्म की इसी बुद्धिमूलक व्याख्या के कारण व्यास का महाभारत आज भी देश की राष्ट्रीय संहिता कहा जा सकता है। उसका मतवाद से कोई पचड़ा नहीं है। जीवन के मूल आधार सत्य या दूसरे शब्दों में धर्म का आग्रह ही व्यास की चमकीली आँखों में भरा हुआ अर्थ है। यह हमारी मूर्खता होगी, अगर हम अपने कट्टर पंथी पोंगापन के कारण व्यास के इस चमकते हुए हीरे के मूल्य को न आँक सकें। महाभारत के अन्त में व्यास जी ने भुजा उठाकर कहा था कि धर्म नित्य है, धर्म से ही अर्थ और काम मिलते हैं। व्यास जी की भुजा उसी तरह उठी हुई है; पर आज के दिन लोगों ने धन और काम के पीछे धर्म या सत्य को धता बात दिया है।

धर्म के सम्बन्ध में व्यास का जो दृष्टिकोण था, वही दृष्टिकोण वाल्मीकि का भी था। चरित्र को ही वाल्मीकि धर्म मानते हैं। चरित्रवान आदर्श व्यक्ति की कल्पना वाल्मीकि के राम हैं। वाल्मीकि के लिये चरित्र और धर्म पर्यायवाची हैं। वे कहते हैं कि धर्म को साक्षात् देखना चाहो, तो राम को देखो। राम-शरीरधारी धर्म हैं। 'रामो विग्रहवान् धर्मः'। राम धर्म-वृक्ष के बीज हैं। दूसरे आदमी उस वृक्ष के फूल और फल हैं। इस एक वाक्य में हमारी धर्म मूलक राष्ट्रीयता की कितनी सुन्दर व्याख्या मिलती है। गांधीजी धर्म या सत्य-वृक्ष के बीज हैं और सब नेता एवं कार्यकर्त्ता उस वृक्ष के पत्ते, फूल और फल हैं। गांधीजी के धर्म-वृक्ष से जब तक हमारा सम्बन्ध जुड़ा है, तभी तक हमारे जीवन में रस और तेज है। नहीं तो हमें मुरझाए हुए समझो। सत्य के वृक्ष का रस

सारी प्रजाओं में फैलता है और अपने वितान से राष्ट्र को छा लेता है। गांधीजी के धर्म-वृक्ष की छाया में आज हम सब बैठे हैं। पर इस महान् धर्म-वृक्ष की छाया में मत-मतान्तर के भेद नहीं हैं। गांधीजी की यही बड़ी देन थी कि उन्होंने राष्ट्रीयता का सम्बन्ध सत्य और धर्म से जोड़ दिया। गीता के शब्दों में गांधीजी द्वारा सत्य की स्थापना धर्म-संस्थापन कहा जा सकता है। धर्म का यही वास्तविक अर्थ देश के लम्बे इतिहास के भीतर से हमें प्राप्त होता है।

यह हर्षकी बात है कि अपने उस प्राचीन बुद्धि-योग की रक्षा करते हुए राष्ट्र ने धर्म के उस सनातन अर्थ को अपने नये जीवन के लिए स्वीकार कर लिया है। मत-मतान्तर व्यक्तियों के लिये हैं, लेकिन धर्म राष्ट्र के लिये है। धर्म या सत्य से ही भूमि और आकाश टिके हैं। देश के इस अनुभव पर हमारी नई राष्ट्रीयता ने मानो फिरसे छाप लगा दी है। भारतीय दृष्टि से धर्म का सच्चा प्रयोजन पारस्परिक मेल-जोल या समवाय है। आपस के मतभेद धर्म को इष्ट नहीं हैं। ईश्वर के प्रति किसी प्रकार का विश्वास रखो अथवा न रखो, इसके कारण मनुष्य के साथ विग्रह करने का कारण नहीं। बार-बार यहाँ के सत्य-द्रष्टाओं ने इस तत्त्व को समझाया है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'—एक तत्त्व की व्याख्या ज्ञानी लोग बहुत प्रकार से करते हैं। मतों या सम्प्रदायों के अनेक मार्ग ज्ञान की पर्वत की एक ही ऊँची चोटी तक ले जाते हैं। आकाश से बरसे हुए जल जैसे समुद्र में मिल जाते हैं, वैसे ही अनेक मतों के विश्वास और भक्तिभाव एक ईश्वर में मिलते हैं। भारतीय इतिहास की सबसे बड़ी देन इसी अनुभव में है :

रुचीनां वैचित्र्या दृजुकुटिल नाना पथ जुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

मनुष्यों की रुचियाँ अलग-अलग हैं। इसीलिये उनके चलने के टेढ़े-मेढ़े रास्ते भी अनेक हैं। लेकिन वे सब ईश्वर में जा मिलते हैं, जैसे सब नदियाँ समुद्र में लीन हो जाती हैं।

१६. विवाह संस्कार

भारतीय विवाह-प्रणाली देखने में बहुत भारी-भरकम और जटिल है; पर उसके भीतर छिपी हुई संस्कार की पद्धति अत्यन्त सरल और चुस्त है। विवाह-संस्कार का मुख्य काम मंडप में होता है। गृह्य सूत्रों को देखने से मंडप में होने वाले कृत्य का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। हममें से प्रायः सबको अनेक बार इस विधि को देखने का अवसर मिलता है, अतएव विवाह-संस्कार की मुख्य विधि का संक्षिप्त परिचय यहां रुचिकर होगा।

विवाह-संस्कार में कुछ ऐसी बातें हैं, जिनका सम्बन्ध समाज से है, कुछ का सम्बन्ध परिवार से है और कुछ का वर-कन्या से है। स्त्री-पुरुष का मिलन प्रकृति का आवश्यक विधान है। विवाह का संस्कार समाज में न बना होता, तो भी स्त्री और पुरुष परस्पर के आकर्षण से एक दूसरे से मिलते ही। यह मिलना ही विवाह-संस्कार के भीतर बीज मन्त्र की तरह छिपा बैठा है। उसी बीज को लेकर उस पर कई प्रकार का खोल चढ़ाया गया है और जीवन की अत्यन्त अनिवार्य भौतिक घटना ने संस्कार के रूप में पारिवारिक और सामाजिक चोला पहन लिया है। यह काम बड़ी कलात्मक रीति से किया गया जान पड़ता है। बाजा-गाजा, ढोल-ढपंखा ये सामाजिक उत्सव के साथ हैं। विवाह का असली कार्य वर के मंडप में पधारने से शुरू होता है।

प्रत्येक शुभ कार्य में पहला नियम मंगलाचरण है। कुछ वैदिक मन्त्रों और श्लोकों से संक्षेप में या विस्तार से मंगलाचरण करने के बाद दूसरा कृत्य कलश-स्थापना है। जल से पूरित आम्रादि पल्लवों से युक्त पूर्ण कलश भारतीय कला और संस्कृति का पुराना चिह्न है। मंत्रों में कलश या पूर्ण घट को ऋत-सदन अर्थात् सृष्टि के अखंड सत्य का आधान कहा गया है। पूर्ण कलश सृष्टि का और भरे-पूरे व्यक्ति का सुन्दर प्रतीक है। विश्व का जो पूर्ण रूप है, उसकी

प्रतीक-स्थापना अवसर के अनुकूल ही समझनी चाहिए। यह विवाह की पूर्वांग विधि हुई।

अब वरार्चन शुरू होता है। यह कन्या पक्ष की तरफ से मंडप में आए हुए प्रधान अतिथि अर्थात् वर का उचित सत्कार है। आसन, पैर धोने का पानी (पाद्य), कुल्ला करने का जल (आचमनीय), खाने के लिये थोड़ा मधुपर्क (शहद-घी मिला हुआ दही)—यही प्राचीन काल में सामान्य आतिथ्य-सत्कार था, जिसका अनुकरण आज भी विवाह में किया जाता है।

इसके अनन्तर अग्नि प्रणयन, यानी मंडप की वेदिका में अग्नि लाकर रखना है। अग्नि भारतीय सभ्यता का प्रतिनिधि था। विवाह अग्नि-साक्षिक कर्म है। अग्नि के सान्निध्य या साक्षित्व में विवाह संस्कार सम्पन्न होता है। अग्नि देवों का वाहन है। मनकी जितनी प्रक्रिया होती है, उसे भारतीय परिभाषा में देव-कार्य कहा जाता है। शारीरिक मिलन के अतिरिक्त विवाह में जो मानसिक भावनाएँ या बन्धन डाले जाते हैं, वे देव-कार्य के अंग है। उन्हें अग्नि-साक्षिक बनाने का यही तात्पर्य था।

इसके बाद का कर्म परस्पर समंजन है। वर-वधू मंडप में बैठे हैं। उन्हें एक-दूसरे के सम्मुख होकर आनेवाले सम्बन्ध के लिये मानसिक अनुमति देनी आवश्यक है। इसी का नाम हृदय-समंजन या मैत्रीकरण है। दो ऐसे हृदयों को जो अलग या एक दूसरे से तटस्थ थे, मिलानेवाला भाव विवाह का मूल है। विश्व की समस्त प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दैवी शक्तियाँ दो हृदयों को मिलने में सहायता दें, यही कामना इन मन्त्रों में की जाती है।

समंजन के द्वारा वर-वधू के मनोभाव एक-दूसरे के प्रति अनुकूलता प्राप्त करते हैं। तब विवाह की सबसे महत्वपूर्ण विधि आती है—अर्थात् कन्यादान। कन्यादान-विधि का संकल्प, जिसमें दोनों पक्ष अपनी-अपनी ओर का अंश तीन बार पढ़ते हैं, कानूनी ढंग का चुस्त भाषा में रचा हुआ प्रतिज्ञा-पत्र है। कन्या का तीन पुश्तों के सहित गोत्र-नाम-समेत वंशगत परिचय, उसे लेनेवाले वर का तीन पुश्तों के सहित गोत्र-नाम-समेत वंशगत परिचय, देने के समय और स्थान

का उल्लेख, दानकर्ता का नाम और अन्त में दान के संकल्प का उच्चारण। साहित्यिक दृष्टि से भी यह कानूनी भाषा बड़ी प्रभावोत्पादक लगती है।

अमुक नाम्नीं कन्याम्... अमुक नाम्ने वराय...

'अग्न्यादि साक्षितया सहधर्माचरणाय पत्नीत्वेन तुभ्यमहं संप्रददे।'

'एक साथ धर्म का आचरण करने के लिये'—यह वाक्य बड़ा सार्थक है और इस कृत्य को ऊँचा धरातल प्रदान करता है। कालिदास ने पार्वती का दान-संकल्प कराते समय सह-धर्माचरण का उल्लेख किया है।

(अनेन भर्त्रा सहधर्मचर्या कार्यात्वया मुक्तविचारयेति)

अतएव ये शब्द काफी पुराने जान पड़ते हैं।

कन्यादान का संकल्प पढ़ा जा चुका। वर ने दान ले लिया। पितृकुल का जो अधिकार कन्या पर था, वह समाप्त हो गया। कुछ क्षण के लिये मंडप में सन्नाटा छा जाता है। प्रतीत होता है, कोई बड़ी घटना हो गई है। लोक में कहते भी हैं कि तीन दान बड़े भारी हैं—गौ का, धरती का और कन्या का। जिसने इन्हें लिया, उसने सब कुछ ले लिया। ऐसे समय वर का ब्रह्मतेज जागता है। वह दान के बोझ से मनको दबने नहीं देता; परन्तु अपने-आपको भीतर समेट कर अत्यन्त तेजस्वी बनकर सामाजिक धरातल से नहीं, पारिवारिक धरातल से भी नहीं, वरन् प्रकृति के अनिवार्य विधान के ऊँचे धरातल पर चढ़कर उत्तर देता है—किसने दिया? किसने लिया?

कोऽदात्? कस्माऽदात्?

ये दो प्रश्न-चिह्न सृष्टि के अनादि-अनन्त प्रश्न-चिह्न हैं। इनका उत्तर भी तुरन्त वही देता है। कामने दिया। कामने लिया। काम देनेवाला है। काम लेनेवाला है। काम, तेरा भला हो

कामोऽदात् कामायादात्। कामोदाता, कामः प्रतिग्रहीता। कामैतत्ते स्वस्ति।

काम का भला होने से ही सृष्टि का खेल चल रहा है। कामदेवता का भला हम न कर सकें, तो सृष्टि का खेल रिट्ट-मिट्ट हो जाय। कीट-पतंग, पशु-पक्षी, मनुष्य-देवता, सकल भुवन काम का भला करने से ही अपने स्वस्तिभाव में ठहरा हुआ है। यह प्राणों का प्राणों से मेल है। वैज्ञानिक शब्दों में योषा-वृषा,

नर-नारी का मिलन जीवन की आवश्यकता को पूरा करनेवाला मिलन है, जिस पर समाज ने बुद्धिपूर्वक संस्कार का आवरण चढ़ाकर उसे कलात्मक रूप प्रदान किया है। भारतीय विवाह-विधि में काम की यह स्तुति सृष्टि के खरे सत्य की स्वीकृति है, जो सारे संस्कार को प्राणवन्त, साभिप्राय और सत्यात्मक बनाती है। जीवन की समिधाओं के ऊँचे ढेर में यह छिपी हुई चिनगारी है, जो उनको तेज में बदल देती है।

काम-स्तुति के बाद एक बड़ी मजेदार चीज़ संस्कार-मन्त्रों में आज तक पड़ी रह गई है। यह है प्रतिग्रह-स्थान से निष्क्रमण का मन्त्र। जैसे ही वरने कन्यादान स्वीकार किया, वह उसका हाथ पकड़ कर वहाँ से चल देता है। 'दिशाओं में जैसे वायु घूमता है, ऐसे जो तेरा मन दूर-दूर फिरता है वह मेरे साथ मिल जाय, हे अमुक देवि !' यह कहकर वर वहाँ से चल देता है। यह क्या बात हुई ? वस्तुतः यह सामाजिक पुरातत्व का अवशिष्ट चिह्न है। जब नर-नारी का आकर्षण केवल प्राण और जीवन की पुकार थी और माता-पिता के द्वारा कन्यादान की सामाजिक प्रथा का आवरण उसे प्राप्त नहीं हुआ था, तब समाज के बन्धनों से अलग वर और कन्या 'काम देनेवाला काम लेनेवाला' इस प्राकृतिक विधान को मानकर काम विवाह में एक दूसरे के साथ निकल जाते थे। उस अवस्था का स्मारक यह मन्त्र आज भी विवाह-पद्धति में अपने बीज-स्थान से चिपका हुआ पड़ा रह गया है। इसके बाद की एक क्रिया दृढ़-पुरुष-स्थापन है—अर्थात् एक तगड़ा आदमी डंडा लेकर मंडप की चौकसी करने लगता है। सम्भवतः वर-कन्या की निष्क्रमण-प्रथा का प्रतीकार करने के लिये ही दृढ़ पुरुष की नियुक्ति हुई।

इसके अनन्तर विवाह की पद्धति यज्ञ की सामान्य पद्धति के अनुसार चलती है। यह इस पद्धति पर चढ़ा हुआ तीसरा खोल है, जो उसे यज्ञ की चालू और सर्वमान्य विधि के साथ जोड़ता था। वर-वधू एक-दूसरे को अच्छी तरह देख-भाल (समीक्षण) लेते हैं। तब विवाह-होम शुरू होता है, जिसमें कई तरह की आहुतियाँ हैं। ब्रह्मा और आचार्य का चुनाव, कुशकंडिका यानी होम के सामान की तैयारी, और तब आहुतियाँ डालना। इसमें दो प्रकार की

आहुतियाँ मार्क की हैं। एक तो वरुण का सृष्टि में व्याप्त जो अखण्ड नियमन है, जिसे ऋत कहते थे, उस ऋत के लिये आहुति, क्योंकि सृष्टि के नियमों का ही एक रूप विवाह है। ऋत का पालन, विवाह का यथाविधि निबाहना है, कामोपभोग विवाह का प्रेरक नहीं है। दूसरे, राष्ट्र में शान्ति होने से ही गृहस्था-श्रम चलता है, इसलिये राष्ट्रभृद् होम के कुछ मन्त्रों में राष्ट्रीय व्यवस्था का आवाहन है। वैदिक परिभाषा में इसका नाम था ब्रह्म और क्षत्र—अर्थात् राष्ट्र की विचार-शक्ति और दण्ड-शक्ति दोनों कुशल से रहें, तभी गृहस्थाश्रम की इकाई फूलती-फलती है।

होम के बाद भी कुछ विधियाँ आती हैं, जो लोकाचार से उत्पन्न जान पड़ती हैं। उनमें भी काफ़ी रोचकता है। क्रमशः वे इस प्रकार है :—

अन्तःपट—वर-वधू के बीच में चुपचाप एक कपड़ा तानकर हटा देना। दोनों के बीच जीवन में जब कभी तनाव, खटपट या एक-दूसरे को ठीक न समझने के कारण दोनों में व्यवधान या कुछ अन्तर हो, तो उसका सन्धि-प्रस्ताव (ट्रूस-एग्रीमेंट) यही अन्तःपट है! इसकी शक्ति 'तूष्णीं भाव' या चुप रह जाने में हैं। या तो बीचके परदे को दूर करो और एक-दूसरे को गहराई तक समझो या चुप रह कर जीवन की शान्ति को भंग न होने दो, यही बुद्धि की चातुरी है।

लाजाहोम—धान की खीलें सामाजिक आचार-शुद्धि का चिह्न मानी जाती थीं। लाजा बोती हुई नारी कहती है—'मेरा पति आयुष्मान हो, मेरे कुटुम्ब के लोग बढ़ें और हम में परस्पर और समाज के साथ प्रीति-भाव की बढ़ती हो।' इसका पुराना नाम 'संवनन' था।

पाणिग्रहण—वर के द्वारा कन्या को ग्रहण करने की स्थूल प्रक्रिया पाणि-ग्रहण है। प्राचीन आर्य-जातियों में सर्वत्र यह प्रथा प्रचलित थी। स्वत्व को स्थानान्तरित करते समय किसी स्थूल चिह्न का आश्रय लिया जाता था। भूमि को ढेला हाथ में लेकर, गौ या पशु को पूँछ पकड़ कर, मनुष्य का हाथ पकड़ कर स्वत्व बदला जाता था। पाणिग्रहण के मन्त्रों का भावार्थ अन्य मन्त्रों से सुन्दर है—"मैं यह हूँ, तू वह है। तू यह है, मैं वह हूँ। मैं साम हूँ, तू ऋचा है। मैं आकाश हूँ, तू पृथ्वी है।" तात्पर्य यह कि दोनों का अस्तित्व अभिन्न है, दोनों

एक ही कोष के दो ढक्कन हैं। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। वृत्त का व्यास पति है, उस वृत्त के भीतर भरा हुआ जीवन-रस पत्नी है। वैदिक परिभाषा में व्यास की संज्ञा ऋक् और परिधि की साम है। व्यास से परिधि तिगुनी होती है, इसी से तीन ऋचाओं के ठाठ पर चढ़ा कर साम गाया जाता है। पुरुष का जीवन व्यास है। उस के ठाठ पर तिगुना होकर पत्नी का जीवन उसे घेरे रहता है। ऋचा न हो, तो साम गान बन ही नहीं सकता। साम न हो, तो ऋचा नीरस रह जाती है, संगीत उसमें नहीं उत्पन्न होता।

अश्मारोहण—'पत्थर की तरह तू स्थिर हो', यही भाव इस विधि का है। वधू अपने व्रत और केन्द्र की स्थिर चट्टान पर जब खड़ी होती है, तभी उसके जीवन की सुगन्धि फैलती है।

गाथागान—इसे हम प्राचीन भारत का नारी-यशोगीत कह सकते हैं। वधू-रूपी स्त्री-जाति की प्रशंसा में वर बीस श्लोकों का गान करता है। असल में सोम और सूर्या के आदर्श विवाह में इस तरह नारी की यशोगाथा गाई गई थी। वे मन्त्र भी वेद में सुरक्षित हैं और शुद्ध कविता की दृष्टि से बहुत ही सरस हैं। इसी प्रकार की ये सारस्वत गाथाएँ हैं। 'जिसने पहले सब को अपने भीतर भरा, जिसमें यह सारा जगत् था, उस स्त्री का जो उत्तम यश है, उसका गान आज गाता हूँ।' इत्यादि।

अग्नि-प्रदक्षिणा—अग्नि के चारों ओर वर-वधू एक साथ चार बार परिक्रमा करते हैं। यह लोक-प्रथा लाजाहोम के साथ ही पूरी की जाती है।

सप्तपदी—पति-पत्नी का एक-दूसरे के साथ सात पैर रख कर चलना और सात प्रतिज्ञाएँ करना। सप्तपदी की प्रथा वैदिक है। सात पद जिसके साथ हम जीवन में चल लिए या सात वाक्य जिसके साथ पूरे कर चुके, उसका हमारा सखित्व या एक-दूसरे को समझना पूरा हो जाता है, उस पर पक्केपन की मुहर लग जाती है। 'त्वं मे सप्तपदः सखा'—यह मैत्री-सम्बन्ध का प्राचीन मान्य रूप था। इस प्रथा में सब से महत्वपूर्ण बात यह है कि पति-पत्नी का सम्बन्ध अगर मित्रता का सम्बन्ध नहीं बना, तो वह अधूरा है। संसार में भाई-भाई, पिता-पुत्र, पति-पत्नी आदि के जितने सम्बन्ध हैं, उन सब में श्रेष्ठ, सरस, स्वाभाविक, शत-

प्रतिशत सम्बन्ध मित्र-मित्र का है। जिस सम्बन्ध में मित्र-मित्र का सम्बन्ध जुड़ जाता है, वही सरस और पूर्ण बन जाता है। अज ने इन्दुमती के लिये कहा था—तू मेरे लिये गृहिणी, मंत्री, सखी और ललित-कलाओं की शिक्षा में शिष्या थी। तू मेरे जीवन में क्या नहीं थी ?'

ध्रुव-दर्शन—यह भी विवाह-सम्बन्ध में नित्यता, स्थिरता या ध्रुवभाव भरने के लाक्षणिक प्रयोग का सूचक है। पति भार्या को समझाता है—'तू ध्रुव है, मैं तुझे ध्रुव देखता हूं। तू मेरे साथ ध्रुव बन, दोनों साथ-साथ सैकड़ों वर्ष जीवें।'

हृदयालम्भन—यह अन्तिम प्रथा मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखती है। पत्नी के हृदय पर हाथ रख कर पति शिव-संकल्प के द्वारा शंसन (सजेशन) करता है—'अपने व्रत में तेरा हृदय रखता हूँ, तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल हो। एकाग्र मन से मेरी बात सुन और मेरे साथ संयुक्त हो।'

सुमंगली—यह अन्तिम विधि विवाह को आशीर्वाद के साथ समाप्त करती है—'यह वधू सुमंगली है। आओ, इसे देखो और सौभाग्य का आशीर्वाद देकर कृपया अपने स्थानों को पधारो।'

१७. वैदिक दर्शन

वैदिक युग में विचारों के गरुड़ ज्ञान के आकाश में बहुत ऊँचे उड़े। वह ज्ञान का सद्यः प्रभात था, उसकी उषःकालीन रश्मियों से स्फूर्ति पाकर मन के वैनतेयने प्रचण्ड शक्ति के साथ अपने पंख फड़फड़ाए। पृथिवी और द्यु-लोक के अनन्त अन्तराल में ज्ञान-सुपर्ण ने अपने लिये जितना प्रदेश नापा वही संस्कृति के विस्तार का भूगोल निश्चित हुआ। पृथिवी सूक्त के ऋषि ने प्रार्थना की है कि पृथिवी हमारे लिए 'उरु लोक' की कल्पना करे। यह 'उरु लोक' या महान् विस्तार ज्ञान के आकाश में हर एक को अपने लिये बनाना पड़ता है। वामन-पुरुष विराट् विचारों से त्रिविक्रम बनकर तीनों लोकों को अपने चरणों से नाप लेता है।

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेषु अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा—जिसके तीन विस्तृत चरण-न्यासों में त्रिभुवन समाया हुआ है—इस दृष्टिकोण के अनुभव से ऋचाओं के विद्वान् गायक विश्वास के साथ ज्ञान के नये प्रदेश जीतने निकले; उनका प्रातिभ चक्षु खुला, वैदिक भाषा में वह फूलकर बाहर की ओर आया और अश्वमेध के अश्व की तरह उस चक्षु ने स्वच्छन्द विचरण किया, उरुक्रम गति से द्यावा-पृथिवी, समस्त लोक और दिशाओं का उसने चक्कर लगाया—

परि द्यावा पृथिवी सद्य इत्वः
परि लोकान् परिदिशः परिस्वः—

जिससे ज्ञान का अश्वमेध पूर्ण हुआ।

वैदिक दर्शन में जो महिमा या वरिष्ठ-भाव है वह अन्यत्र दुर्लभ है। ऋग्वेद में एक सुन्दर शब्द का प्रयोग हुआ है—'महयाय्य,' जिसका अर्थ है वह कार्य जो बड़ाई के योग्य हो। हम कह सकते हैं कि संस्कृति की पौ फटने के समय उसकी

प्रथम व्युष्टि या प्रभात में ऋषियों ने ज्ञानाग्नि का जो समिन्धन किया वह एक महयाय्य कर्म था, जिसके उचित मूल्य आंकने और प्रशंसा करने का अनुकूल समय अब उपस्थित हुआ है।

दूरंगम विचरण के योग्य बनने के लिए मन को सर्वप्रथम अपना ही संस्कार करने की आवश्यकता होती है। ध्यान की प्रक्रिया से मन का यन्त्र बलवान् बनाया जाता है, ध्यान ही समाधि है। 'युंजतेमन उत युञ्जते धियः' का सत्य सृष्टि का सत्य है। धी-युंजन के द्वारा मनुष्य जड़-जगत् से अपने आपको ऊपर उठाता है। 'धीमहि' वैदिक दर्शन का नियामक सूत्र है। 'धी-युंजन' और 'धी-प्रचेतन' इन दो चक्रों से वैदिक-दर्शन का रथ गतिमान् हुआ। विश्व की विचार-शक्ति के नियन्ता ने मनुष्य को 'धी' प्रदान की है और वह उस धी या बुद्धि को प्रेरित करता है। हमें उचित है कि उस 'धी' को हम उसी नियन्ता की महिमा का चिन्तन करने और समझने के लिए प्रयुक्त करें, यही 'धी-युंजन' का पवित्रतम कर्तव्य है। 'धी-प्रचेतन' देवों का कार्य है और 'धी-युंजन' मानुषी कर्म है।

मन ही 'कल्प वृक्ष' है। इसका 'कल्प' शब्द चिन्तन या ध्यान का पर्याय-वाची है। ध्यानरूपी कल्पवृक्ष के नीचे ही भारतीय संस्कृति विकसित हुई है। कल्प या चिन्तन दो प्रकार का होता है—समाधि-युक्त या संकल्प और व्याधि-युक्त या विकल्प। सम्यक् दर्शन या संकल्प को वैदिक दर्शन और संस्कृति में प्रथम स्थान प्राप्त हुआ। प्रत्येक व्यक्ति के मस्तक पर विचार या चिन्तन की चिन्तामणि और वक्षस्थल पर दृढ़ संकल्प की कौस्तुभमणि सुशोभित हो यही शक्ति की पूर्णता है। वैदिक दर्शन का विचार करते समय पहले उस दर्शन के स्रष्टा हमारे सामने आते हैं, जिन्हें कवि और ऋषि कहा गया है। कवि क्रान्तदर्शी होते हैं, ऋषि भी साक्षात् दर्शन की सामर्थ्य से युक्त होते हैं। वैदिक दर्शन अथ से इति तक तत्त्व को साक्षात् करने का एक बलवान् प्रयत्न है। वह केवल बुद्धि का कुतूहल नहीं है। उसके क्षेत्र में प्राण सत्य को अधिकृत करने की सशक्त चेष्टा करता है, उस प्रयत्न में सफल होकर ही उसे शान्ति प्राप्त होती है। सत्य का जबतक अनुभव नहीं होता तब तक प्राण अपना संतुलन प्राप्त नहीं कर पाता।

इस दृष्टि से वैदिक दर्शन को स्वयं अपनी स्थिति और वृद्धि के लिये तपोमयी जीवन-प्रणाली का आविष्कार करना पड़ा। जब तक तप के द्वारा शक्ति ऊर्ध्वस्थित नहीं होती तब तक अमृत-सृष्टि असम्भव है। वैदिक वाङ्मय में अनेक स्थानों पर तप और तपोमय जीवन का निरूपण मिलता है। तप वैदिक संस्कृति का मेरुदण्ड है। वैदिक दर्शन के अनुसार स्वयं प्रजापति ने विश्व की रचना के लिये तप किया, उसके समिद्ध तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए जो सृष्टि के नियामक हैं। विश्व में जीवन की तीन कोटियां हैं—दैवी, मानुषी और आसुरी। दैवी सृष्टि तप पर आश्रित है, मध्य में स्थित मनुष्य तप के द्वारा ऊपर उठता है और तप के बिना नीचे आसुरी लोकों में गिरता है। इस प्रकार जीवन की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में वैदिक द्रष्टाओं ने तप के रहस्य का आविष्कार किया।

वैदिक दर्शन अत्यन्त विस्तृत ईक्षण का परिणाम है। ब्राह्मण ग्रन्थों ने मूलतत्व की अनन्तता से प्रभावित होकर स्वयं "अनन्ता वै वेदाः" कहकर अपने क्षेत्र का परिचय दिया है। इसको एक छोटे उपख्यान द्वारा स्पष्ट किया गया है—

'भरद्वाज ऋषि ने जन्मपर्यन्त तप किया। जब उनको दूसरा शरीर मिला तो फिर तप किया; इस शरीर के गिरने पर तीसरे शरीर में भी वे तप करने लगे। उनके तीन जन्म के तप को देखकर इन्द्र ने सामने प्रकट होकर पूछा—'भरद्वाज क्या कर रहे हो?' उत्तर मिला—'वेदाध्ययन के लिये तप कर रहा हूँ।' इन्द्र ने फिर प्रश्न किया—'तुम्हें यदि एक जन्म और मिले तो क्या करोगे।' भरद्वाज ने कहा—'इसी प्रकार तप करूँगा।' इस समय भरद्वाज के सामने तीन पर्वत प्रकट हुए। इन्द्र ने उनमें से एक-एक मुट्ठी भर कर फेंकते हुए कहा—

'भरद्वाज ये पर्वत देखते हो? वेद इन्हीं की तरह अनन्त हैं।'

अनन्तता के भाव ने वैदिक विचार-धारा को बहुत प्रभावित किया है। वैदिक विचारक शरीर के वामन भाव या सीमाभाव को सहन नहीं कर सकता, वह परिधिका असहिष्णु है, घेरा डालना उसे अच्छा नहीं लगता। कभी-कभी ऐसा मालूम होता है कि वह सब बन्धनों को तोड़ कर विराट् विश्व में मिल जाना चाहता है। उसका उद्‌गार है—

इष्णन्निषाण, अमुं म इषाण
सर्वं लोकं म इषाण—

'मेरे लिये यदि कुछ चाहते हो तो यह चाहो कि वह लोक मेरे वश में आ जाय और सारा विश्व ही मुझे मिल जाय।'

अनन्त को अनेक रूपों और प्रतीकों में प्रकट करने का प्रयत्न वैदिक दर्शन की विशेषता है। विष्णु का त्रिविक्रम रूप ग्रहण करना अनन्तता की ही व्याख्या है। वामन या परिमित तत्त्व विराट् भाव में फैलता है। यही त्रिविक्रम का तात्पर्य है। देश के अतिरिक्त काल भाव भी अनन्त है, चक्रवत् परिभ्रमण अनन्तता को ही कहने का एक प्रतीक है। विश्व का प्रवाह, संवत्सर या काल की गति, अहोरात्रि का परिवर्तन—ये सब चक्र-गति के उदाहरण हैं। सूर्य का रथ भी संततगामी एक चक्र पर घूमता है। काल की अनन्तता का वर्णन सहस्र देव-युगों की गणना पद्धति से जाना जा सकता है[1]। ऋग्वेद का सहस्रशीर्षा पुरुष अनन्त ब्रह्म का ही दूसरा पर्याय है। वेदों में अनन्त भाव के लिये सहस्र शब्द और सान्त के लिये शत शब्द आता है। सृष्टि के बाहर जो बच रहता है वह शेष है; शेष अनन्त है। जो सृष्टि में परिच्छिन्न है वह विष्णु है। विष्णु अनन्त (सहस्रशीर्षा) के आधार से स्थित है—इस कल्पना का मूल 'सहस्रशीर्षाः पुरुषः' सूक्त है। सहस्रशीर्षा पुरुष की दूसरी संज्ञा 'त्रिपाद्' या 'ऊर्ध्व' है। जो सृष्टि से ऊपर या बाहर रहता है वही उर्ध्व है। उसके एक पाद से ही जगत् निर्मित होता है—

१—पुराणों में इस महाकाल के प्रतीक लोमश ऋषि हैं। सहस्र देवयुग ब्रह्मा का एक दिन है। ब्रह्मा की ऐसी एक आयु का प्रमाण सौ वर्ष है। ब्रह्मा की जब एक आयु पूरी होती है तब लोमश अपना एक रोम उखाड़कर फेंक देते हैं। ब्रह्मा की आयु पर्यन्तकाल में लोमश का केवल एक रोआं जीर्ण होता है अर्थात् लोमश के एक-एक रोम में एक-एक ब्रह्मा की आयु बराबर दीर्घकाल की माप है। इस प्रकार काल की अनन्तता को मूर्तिमान् करनेवाले लोमश ऋषि हैं।

त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।

विराट् जगत् और विराट् में पुरुष की कल्पना यह वैदिक दर्शन का रोचक सूत्र है। प्रजापति ने अपने शरीर से ही यह सृष्टि-यज्ञ रचा है। इसे बनाकर वह स्वयं इसमें रम रहा है—

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ।

इसी कारण इस सृष्टि में सर्वत्र चैतन्य की सत्ता है और इसमें प्राणभाव और मन का अधिष्ठान है। विराट् और पुरुष को ही 'असौ' और 'अयं' कहा जाता है। जो 'असौ' है वही 'अयं' है। वैदिक दर्शन ब्रह्माण्ड और पिण्ड के साम्य को स्वीकार करता है। जो यज्ञ विराट् विश्व में हो रहा है वही एक पिण्ड में भी विद्यमान है। प्रत्येक केन्द्र पर उस विराट् यज्ञ की वेदी बनी हुई है. 'सर्वं सर्वत्र सर्वदा' सूत्र चैतन्य की सब काल और स्थानों में अव्याहत सत्ता प्रकट करता है। यज्ञ वैदिक दर्शन का प्रयोगात्मक विज्ञान है। वैध यज्ञ से विराट् यज्ञ की व्याख्या की जाती है। अधिदैव को अध्यात्म में देखना वैदिक कर्मकाण्ड की बड़ी विशेषता है। वैदिक मन्त्रों में अधिदैव औरअध्यात्म अर्थ साथ-साथ चलते हैं। इस दर्शन ने अपने लिए एक ऐसी परिपूर्ण भाषा का निर्माण किया जहाँ की परिभाषाएँ एक ही साथ कई क्षेत्रों में काम देती हैं। यह उस भाषा का तेज है, पर इससे अर्थ में अनास्था नहीं आती। जो उस दृष्टिकोण को देख सकता है उसे अर्थ-गति के कई प्रकार समानान्तर विकसित होते हुए स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। वैदिक भाषा की इस समानान्तर द्योतक शक्ति ने उस साहित्य को बड़ी समृद्धि प्रदान की है।

वैदिक दर्शन की एक विशेषता यह है कि वहाँ 'इदमित्थं' का अभिनिवेश नहीं पाया जाता। कवियों के हृदय तरंगित होते हैं, वे किसी प्रकार जड़ीभूत चिन्तन का मर्षण नहीं करते। पथराये हुए विचारों का उद्गिरण उनको प्रिय नहीं है। वे बराबर साक्षात् रूप में सत्य के साथ टक्कर लेने का प्रयत्न करते हैं। ऋग्वेद का कितना सुन्दर कथन है कि ज्ञान के अधिष्ठातृ देवता की जो पुत्रियाँ हैं वे न तो बिल्कुल वस्त्रों से ढकी हैं और न बिल्कुल नग्न हैं—

दिवो यह्वीरवसना अनग्नाः (ऋ० ३।१।६)

जो गुह्य सत्य है उसकी रश्मियां न तो एकदम चाक्षुष विषय की तरह प्रकट हैं और न वे इस तरह तिरोहित हैं कि कोई उन तक पहुँच ही न सके। मूल तत्त्व की इस विशेषता से अर्वाचीन विज्ञान को भी पाला पड़ा है और उसके चिन्तन की शैली 'दो-और-दो-चार' जैसे ध्रुव सत्य पर इस समय अविचल नहीं है। संशय और द्विविधा की छाया वैज्ञानिक विचारों पर पड़ चुकी है, परन्तु ऋग्वेद के उस आदि युग में साहसी मनस्वियों ने यहाँ तक कह डाला था कि मनुष्य की तो सामर्थ्य ही क्या इस सृष्टि का जो अध्यक्ष है वह भी स्वयं इसके मर्म और इसके तत्त्व को निश्चय पूर्वक जानता है या नहीं यह कहना कठिन है—

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् स अंग वेद यदि वा न वेद।

'वह जानता है', पर क्या सचमुच वह भी जनता है? (स अंग वेद यदि वा न वेद) इस प्रकार 'यदि वा' की ध्वनि में जो सच्चाई और साहस निहित है वही वैदिक-दर्शन का आकर्षक सौन्दर्य है। मेधावी मैटरलिंक ने नासदीय सूक्त के प्रभावशाली उद्गारों के सम्बन्ध में अपनी पुस्तक 'महान् रहस्य' (ग्रेट सीक्रेट) में लिखा है—

'क्या मानवी साहित्य में ऐसे शब्द मिल सकते हैं जो नासदीय सूक्त के इन शब्दों से अधिक उदात्त, इनसे अधिक विषादपूर्ण, इनसे अधिक तेजस्वी, इनसे अधिक श्रद्धामय और साथ ही इनसे अधिक डरावने हों? जीवन-प्रवाह के प्रारम्भ में ही इस देश में इस प्रकार पूर्ण रीति से मनुष्य ने अपनी अज्ञता को स्वीकार किया है। सहस्रों वर्षों से बढ़ने वाले हमारे गम्भीर संशय और सन्देहों की परिधि क्या कहीं इतनी विशाल बन सकी है, जितनी यहाँ है? अब तक जो कुछ इस दिशा में कहा जा सका है उस सब को फीका कर देने वाले हमारे ये उषःकालीन वाक्य हैं। और कहीं ऐसा न हो कि जटिल संप्रश्नों के पथ पर चलते हुए हम भविष्य में निराश हो बैठें, इसलिए नासदीप सूक्त के ऋषि ने संशयवाद के मार्ग में निर्भयतापूर्वक उससे भी कहीं अधिक कह डाला है जितना हम भविष्य में कभी कह पायेंगे। वह इस प्रश्न के पूछने में भी नहीं हिचकि-

चाता कि ब्रह्म को भी इस सृष्टि का या अपने किये का ज्ञान है अथवा नहीं।' सृष्टि की जो बड़ी पहेली है, जिसे वैदिक भाषा में महान् संप्रश्न कहा गया है, उस संप्रश्न के साथ सींग पकड़कर टक्कर लेने का प्रयत्न करते हुए वैदिक मनीषियों को कहना पड़ा—

'न सत् था, न असत् था। न कहीं अन्तरिक्ष था न उससे परे व्योम। कौन कहाँ गतिमान् था, किस की किस को शरण थी ? जल और गम्भीर सागर उस समय क्या थे ?

'न उस समय मृत्यु थी, न अमृत। रात दिन का विवेक कहाँ था ? केवल वही एक वायु के बिना अपनी शक्ति से प्राणन क्रिया कर रहा था। उससे अतिरिक्त कुछ न था।

'सर्वप्रथम उसमें काम उत्पन्न हुआ जो मनका अग्रिम रेत है। ज्ञान से भरपूर विप्रोंने अपने ही अन्तस्तल में खोजते हुए सत् के बन्धुओं को असत् में पाया।

'कौन जानता है ? कौन कह सकता है ? कहाँ से यह सृष्टि उत्पन्न हुई। देवता भी इसके जन्म के बाद हुए, तो फिर कौन जाने यह कहाँ से विकसितहुई ?

'यह सृष्टि कहाँ से फैली ? यह जन्मी भी है या नहीं ? परम व्योम में इसका जो अध्यक्ष है वही इसे जानता है, पर वह भी जानता है या नहीं ?'

इस सूक्त में हृदय की जो जिज्ञासा और प्रबल मनीषा है वह समस्त भारतीय दर्शन की जिज्ञासा को मानो एक ही केन्द्र बिन्दु पर प्रकट कर रही है। सृष्टि के गरिष्ठ प्रश्न के समाधान की असफलता को इस प्रकार साहस के साथ स्वीकार करके सत्य के जिज्ञासुओं ने विश्व-दर्शन के तोरण पर विचार-स्वतंत्रता के अंक लिखकर उसका महान् उपकार किया है।

वैदिक सम्प्रश्न का ही दूसरा पक्ष—

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति—(ऋ० १।१६४।४६)

अनुभव है। इदमित्थं ज्ञान की असंभवता के कारण 'बहुधा' पर आश्रित इस सूत्र का आविष्कार वैदिक तत्त्व-ज्ञान में किया गया। ऋग्वेदमें तथा अन्य

संहिताओं में भी इस विचार को बार-बार दोहराया गया है। एक ही तत्त्व अनेक प्रकार से प्रकाशित हो रहा है—

एकमेवाग्निः बहुधा समिद्धः (ऋ० ८।५८।२)

कवि लोग एकही आत्म-सुपर्ण की अनेक रूप से कल्पना करते हैं—

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति
(ऋ० १०।११४।५)।

इस महान् प्रकृति को भिन्न दृष्टि कोणों से देखते हुए मनुष्य पृथक्-पृथक् इसकी बहुत प्रकार से मीमांसा करते हैं—

पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्यां पृथङ्नरो बहुधा मीमांस्यमानाः।
(ऋ० ४।१।३)

चित्तवान् ज्ञानियों की सृष्टि विषयक बहुविध मीमांसा ही अनेक छन्दों के द्वारा प्रकट की गई है। 'बहुधा' के चक्षुओं को अपने प्रांगण में स्थान देकर दर्शन-शास्त्र ने अपने क्षेत्र को बहुत ही विशाल बना लिया। वेद का यह दृष्टिकोण समस्त भारतीय दर्शन के लिये अमृत की तरह कल्याणकारी सिद्ध हुआ। समस्त जाति की विचार-धारा में इसने सहिष्णुता की छाप लगा दी। सहिष्णुता विश्व का सबसे ऊँचा धर्म है। सहिष्णु राष्ट्र के लिये ही संसार का भविष्य सुरक्षित है। जिनकी पताकाओं पर 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' की उदार घोषणा है, वे ही अरण्य में उगने वाले वृक्षों की तरह स्वयं पनप सकते हैं एवं औरों को जीवित रहने का अवकाश प्रदान कर सकते हैं।

असत् और सत्, अमृत और मृत्यु, देव और असुर इस प्रकार के द्वन्द्व वैदिक दर्शन की मानो खूटियाँ हैं, जिनपर विचारों के छींके टँगे हुए हैं। सृष्टि का द्वन्द्व और भी अनेक शब्दों में प्रकट हुआ है। अहो-रात्र, द्यावा-पृथिवी, शुक्ल-कृष्ण इसी द्वन्द्व के रूपान्तर हैं। ऋत और सत्य, आभू और अभ्व, नाम और रूप में दर्शन का यही द्वन्द्व है। इस प्रकार द्वन्द्व के द्वारा विचार के संतुलन के संभालने की पद्धति वेद काल से ही भारतीय दर्शन में प्रारम्भ हुई। इन भिन्न-भिन्न ख्यातियों में से किसी एक पर विशेष बल देने

के कारण अनेक दार्शनिक मतवादों का जन्म हुआ, किन्तु विवेचना की मूल पद्धतिका श्रेय वैदिक दर्शन को ही है।

इन बहुधा मीमांसाओं का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष है। चिन्तन की बहुविधता ज्ञान को अनेक टुकड़ों में बांटकर चूर-चूर न करदे, इसलिए ज्ञान के ब्राह्ममुहूर्त में इस रक्षा-सूत्रका आविर्भाव हुआ कि ब्रह्मतत्त्व केवल एक और अद्वितीय है (एकमेवाद्वितीयम्)। एकत्व के प्रतिपादन और बहुत्व के निराकरण में साहित्यिक शैली का आश्रय लेते हुए कहा है—

यह देव एक और केवल एक है।
उसमें दूसरा तीसरा चौथा नहीं है।
पांचवां छठा सातवां भी नहीं कहा जाता।
आठवां नवां दसवां भी नहीं कह सकते।[1]

ब्रह्म की एकता से प्रभावित ऋषि की वाणी का तेज यहाँ तक बढ़ा कि अन्त में केवल 'एक, एक, एक' यही शब्द उसके मुख से निकलने लगे।

स एष एकः, एक वृद्, एक एव।

वैदिक दर्शन में विश्व के रोम-रोम में ओत-प्रोत और संचालक उसके नियमों पर विशेष बल दिया गया है। यह नियम दुर्धर्ष और अखण्ड माने गए हैं। इनका पारिभाषिक नाम ऋत है। ऋत, बृहत् और उग्र कहा गया है। ब्रह्माण्ड में दूर से दूर और निकट से निकट के सब पदार्थ ऋत के अधीन हैं। हमारी पृथिवी से कोटानुकोटि प्रकाश वर्षों की दूरी पर स्थित ब्रह्म-हृदय नक्षत्र और इस क्षुद्र पृथिवी को एकता के सूत्र में बाँधने वाला ऋत है। राम-चरित-मानस का एक सुन्दर उपाख्यान ऋत की अखण्ड व्यापकता को बताता है—

---

[1] **य एत देवमेकवृतं वेद।**
न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।
न पंचमो षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। (अथर्व १३।१।१५–१८)

'राम से बचने के लिए गरुड़ जी अनेक ब्रह्माण्डों का चक्कर काटते हैं, पर सब जगह राम की भुजा उनका पीछा करती है।'

यह समस्त लोकों में एक अखण्ड नियम की व्याप्ति को ही इंगित करता है। वैदिक मत यह है कि ब्रह्म ने अपने मन की शक्ति से ऋत के तंतुका वितान या मापन किया है—

ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः। (अथर्व १३।४।६)

ऋतका तन्तु वरुण की माया से सर्वत्र वितत है। धीर अपनी प्रज्ञा के बल से इस तक पहुँचते हैं। ऋत के ध्यान से पाप भाव नष्ट होते हैं। ऋत के गान से बहरे कान खुल जाते हैं। पृथिवी और आकाश के बीच का भारी अन्तराल ऋत से भरा हुआ है। ऋत की नींव अत्यन्त दृढ़ है।

ऋतस्य दृळ्हा धरुणानि सन्ति। (ऋ० ४।२३।६)।

ऋतको जानना, ऋत की रक्षा करना और ऋत के अनुसार ऋजु भाव से जीवन व्यतीत करना, यह ज्ञानका ऊँचा आदर्श है। ऋतज्ञ ऋतस्पति ये वैदिक आदर्श के अनुसार अत्यंत सम्मानित समझे गए हैं। ऋत 'ऋ=गतौ' धातु से बना है। विश्व के सत्य के अनुसार जो गति है वही ऋत है। पृथिवी और सूर्य, ग्रह और नक्षत्र प्रत्येक के लिए ऋत नियम है। ऋत के मार्ग पर चलते हुए वे न डरते हैं और न लड़खड़ाते हैं—

न बिभीतो न रिष्यतः

ऋत के साथ गतिभाव का विशेष सम्बन्ध है। वैदिक भाषा और विचार-पद्धति दोनों में गति-संचरण, विक्रमण का भाव साधारण रूप से पाया जाता है। गत्यर्थक धातुओं की विशेष संख्या उस युग की निजी विशेषता है। सम्भवतः उषःकालीन प्राण के युग में ऐसा होना स्वाभाविक ही है। तत्त्व के साथ साक्षात् टक्कर लेने का प्रयत्न प्राणवान् दर्शन की विशेषता होती है। कहीं 'सेतूँस्तर, सेतूँस्तर, सेतूँस्तर' के साम-गान में जीवन की प्रगति के लिए पराक्रमशील भाव व्यक्त किए गए हैं। 'तरत्स मंदी धावति' के गान में जीवन का वेग प्रकट हो रहा है। आनन्द से भरा हुआ हृदय मानो तैरता हुआ आगे दौड़ रहा है। कहीं इस पार से उस पार कूद कर तत्त्व तक पहुँच जाने की स्कन्दमयी प्रवृत्ति

है। कहीं कालरूपी अश्व पर आरोहण कर के उच्चतम जीवन की ओर बढ़ जाने का भाव है और कहीं लोक और परलोक के सभी ऋण-बन्धनों से उऋण होकर पितृयान और देवयान के लम्बे मार्गों को इसी जीवन में पार कर लेने का संकल्प है। वैदिक जीवन शक्तिमत्ता के आदर्श की उपासना करता है। शाक्वरी मन्त्र यह कहते हैं कि जितना हम जीवन में कर सकते हैं वही सब कुछ है। केवल विचार जीवन के लिये पर्याप्त नहीं हैं; उन विचारों के अनुसार कर्म कर सकना सफलता की कसौटी है। विचारों से कतरा कर निकल जाने वाले उनसे कभी उऋण नहीं हो सकते। विचारों के साथ जूझने वाले ही उनके साथ न्याय कर सकते हैं। इस प्रकार का दृष्टिकोण वैदिक दर्शन के बहुत निकट है। वैदिक जीवन इसी प्रकार के कर्मण्य और जुझाऊ भावों से अनुप्राणित हुआ था।

वैदिक युग ने समस्त भारतीय दर्शन के लिये विकास का मार्ग निर्धारित कर दिया। उस दर्शन के निर्माता बहुत ही सच्चे अर्थों में हमारी संस्कृति का मार्ग बनाने वाले ऋषि थे, जिन्हें वैदिक भाषा में 'पथिकृत्' कहा गया। ज्ञान के पूर्वकालीन पथिकृतों को प्रणाम करना विश्व-सामान्य धर्म है—

इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥

(ऋ० १०।१४।१५)।

पूर्वकाल के पूर्वज ऋषियों को प्रणाम हो, जिन्होंने ज्ञान के अरण्य में नयी पगडण्डियों का निर्माण किया।

वैदिक दर्शन और अन्य दर्शनों में साहित्यिक शैली की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। बाद के युग में दर्शनिक विचारों को काट-छांट कर कर्म और व्यवस्था के साथ सजाया गया है। वह एक वाटिका की तरह है। उसके तैयार करने में बड़ा परिश्रम करना पड़ा होगा। वाटिका में क्यारियाँ अलग-अलग विभक्त, और उनके पौधों का चुनाव भी अलग-अलग रहता है; किन्तु वैदिक दर्शन कवियों की रचना है, उनकी कविता का ओजायमान प्रवाह वर्षा-कालीन झंझावातों के साथ आए हुए पर्जन्यों की तरह बरसता है और उनसे हर एक दिशा में बहिया सी आई जान पड़ती है।

अन्य दर्शन बुद्धि के लिये और वैदिक दर्शन हृदय के लिये है। बुद्धि जल के भीतर पैठे बिना प्रवाह की मीमांसा कर सकती है, अथवा मधु का स्वाद चखे बिना वह मधु की ऊहापोह करने की अभ्यस्त है। परन्तु हृदय तरंगित जल में तैरना और मधु का स्वाद चखना चाहता है। अन्य दर्शनों की पद्धति मनुष्य के चैतन्य के एक अंश का स्पर्श करती है, वैदिक दर्शन उसके समग्र रूप के साथ तन्मय होने का निमन्त्रण देता है। भविष्य निश्चय रूप से वैदिक दर्शन के हाथ है, क्योंकि उसका सन्देश कविता के द्वारा कहा गया है। बुद्धि से थके हुए मानव की भावी भाषा कविता ही होगी।

---

१६. कल्पवृक्ष

[*प्राचीन मनोविज्ञान का निरूपण*]

भारतीय उपाख्यानों में कल्पवृक्ष की कथा अत्यन्त रमणीय है। कल्पवृक्ष स्वर्ग का वह सनातन महावृक्ष कहा जाता है जिसकी छत्रछाया में हम जो कुछ चाहें वही पा सकते हैं। कल्पवृक्ष के नीचे खड़े होकर हम जिस वस्तु की अभिलाषा करते हैं वही हमें तुरन्त प्राप्त हो जाती है। कल्पवृक्ष की वरद शक्ति अमोघ है। स्वर्ग और पृथ्वी के बीच में ऐसा कोई भी दुर्लभ पदार्थ नहीं है जो कल्पवृक्ष के नीचे संकल्पमात्र में हमें तत्कानल न मिल जाय। मनुष्य का मन अभिलाषाओं की उर्वरा भूमि है। कभी हम धन-धान्य चाहते हैं, कभी सुवर्ण की अपरिमित राशि, कभी पृथ्वी का राज्य चाहते हैं और कभी इन्द्र का ऐश्वर्य, कभी सुन्दर स्त्री की कामना हमारे मन में आती है, कभी स्वस्थ और बलिष्ठ पुत्र-पौत्रों को, कभी हम दीर्घ आयुष्य या चिरजीवन की अभिलाषा करते हैं, कभी ज्ञान और विद्या के अमित भंडार के अधिपति होने के लिये लालायित होते हैं। पृथ्वी पर सांस लेने वाला कोई व्यक्ति ही ऐसा होगा जो इस प्रकार की बहुमुखी कामनाओं से बचा हो। परन्तु कल्पना कीजिए यदि हम किसी प्रकार कुछ समय के लिये भी कल्पवृक्ष के नीचे पहुँचने का सौभाग्य प्राप्त कर सकें, तो क्या इन सब पदार्थों की प्राप्ति में एक क्षण का भी व्यवधान हो? अवश्य ही कल्पवृक्ष समस्त ऋद्धि-सिद्धियों का कोई अपूर्व आश्रय-स्थान होगा, जिसके भंडार में पार्थिव मनुष्यों की अभिलाषा पूर्ति के साधनों की समष्टि है।

यह कल्पवृक्ष क्या है? भारतीय उपाख्यानों की इस काव्यमयी कल्पना का क्या रहस्य है? जगतीतल के प्राणी को स्वर्ग के इस अनुपम वृक्ष का परिचय कहाँ प्राप्त हो सकता है? मर्त्यलोक का व्यक्ति स्वर्गलोक की इस वनस्पति के साथ परिचय प्राप्त कर भी ले तो उससे मनुष्य का कौन सा कल्याण सिद्ध हो सकता

है ? एवं मनुष्य के नित्यप्रति के जीवन को सुखमय और शान्तिमय बनाने के लिये कल्पवृक्ष का अमोघ वरदान किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है ? इन प्रश्नों का ठीक ठीक उत्तर समझ लेने पर हम कल्पवृक्ष के रहस्य को भली प्रकार जान सकेंगे। इसके लिए समुद्र-मंथन की कथा का रहस्य जानना आवश्यक है।

समुद्र मथन

महाभारत आदिपर्व में देव और असुरों के द्वारा समुद्र के मंथन की कथा दी हुई है [अध्याय १७-१८]। अन्यत्र पुराणों में भी इसी को विस्तार से पल्लवित किया गया है। परन्तु महाभारत के वर्णन की शैली उस कथा के अध्यात्म भाव के अत्यन्त सन्निकट है। देव और असुरों ने यह प्रस्ताव किया कि कलश रूपी उदधि (कलशोदधि) को मथना चाहिए क्योंकि उसके मथने पर अमृत उत्पन्न होगा। पहले सर्वौषधि 'सर्वरत्नों' को प्राप्त करके तब हम अमृत को प्राप्त करेंगे। देवों ने कहा कि अमृत जल में से प्राप्त होगा, अमृत के लिये जल मथेंगे। उन्होंने समुद्र का उपस्थान किया, अर्थात् समुद्र के पास गए। समुद्र ने कहा—मुझ को भी अमृत का अंश देना स्वीकार करो तो मन्दर भ्रमण के विपुल मर्दन को सह सकता हूँ। विष्णु की प्रेरणा से अनन्त ने मन्दर उखाड़ लिया। तब समुद्र ('अकूपार') के किनारे कूर्मराज से कहा गया, 'आप इस मन्दर गिरि के अधिष्ठान बनें'। कूर्म की पृष्ठ पर मन्दर रख कर, वासुकि सर्प की नेती (मथने की रस्सी जिसे संस्कृत में नेत्रसूत्र कहते हैं) बना कर इन्द्र ने मंथन आरम्भ किया। मुख की ओर असुर और पीछे की ओर देव हुए। अर्थात् एक सिरे पर देवों ने और दूसरे सिरे पर असुरों ने वासुकि नाग को पकड़ कर मंथन आरम्भ किया। संघर्ष से अग्नि निकलने लगी, उसे इन्द्र ने मेघ वारि से शान्त किया।

तब घर्षण करने से महाद्रुमों का दूध और औषधियों का रस समुद्र जल में टपक कर मिलने लगा। उन अमृतवीर्य रसों के दुग्ध से देवों को अमृतत्व मिलने लगा। उसी जल में सुवर्ण का रस भी मिश्रित हुआ। इस प्रकार अनेक रसोत्तमों से मिश्रित समुद्र का जल दुग्ध बन गया। और उस दूध से मथित

होकर घृत बना। तब सब को श्रमित देख कर विष्णु ने बल दिया और प्रोत्साहित किया कि मन्दर पर्वत के परिभ्रमण से 'कलश' को क्षुभित करो।

तब उस कलश में से सोम प्रकट हुआ। तदनन्तर उस घृत से श्री उत्पन्न हुई। तत्पश्चात् सुरा देवी और मन के समान वेगवान् (मनोजव) सतमुख उच्चैःश्रवा अश्व उत्पन्न हुआ। ये चारों आदित्य मार्ग का अनुसरण करके जहाँ देवगण थे वहाँ चले गए। मरीचियों से प्रकाशित दिव्यमणि कौस्तुभ नारायण विष्णु के वक्षःस्थल पर विराजमान हुई। इसके बाद श्वेत कमण्डलु को धारण किये हुए भगवान् धन्वन्तरि प्रकट हुए। उस कमण्डलु में अमृत था। पारिजात, कल्पवृक्ष, चार श्वेत दाँतों वाला ऐरावत हाथी और कालकूट विष प्रकट हुए। उसे ब्रह्मा के कहने से शिव ने कण्ठ में धारण करके नीलकण्ठ पदवी प्राप्त की। उसी समुद्र मंथन से कामधेनु गाय, पाँचजन्य शंख, विष्णु-धनुष और रम्भादि देवांगनाएँ उत्पन्न हुईं। देवों ने जय पाकर मन्दर पर्वत का यथोचित सत्कार करके उसे अपने स्थान में प्रतिष्ठित कर दिया और आनन्दित हुए।

समुद्र मंथन का यह उपाख्यान आध्यात्मिक पक्ष में मनुष्य की दैवी और आसुरी वृत्तियों के संघर्ष का विवेचन करता है। मनुष्य का मन उसकी सर्वश्रेष्ठ निधि है, मननात्मक अंश ही मनुष्य में दैवी अंश है। शरीर का भाग पार्थिव और मन का भाग स्वर्गीय है। अथवा यों कहें कि शरीर मृत्यु और मन अमृत है। शरीर का सम्बन्ध नश्वर है, मन कल्पान्तस्थायी। जिस किसी क्षेत्र में देखें मन की शक्ति शरीर की अपेक्षा बहुत विशिष्ट पाई जाती है। ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है कि मनुष्य के भीतर जो मन है यही प्रजापति ने अपना अलौकिक स्वरूप मनुष्य के अन्दर सन्निविष्ट कर दिया है :—

अपूर्वा प्रजापतेस्तनूविशेषः तन्मनः। ऐ० ४।२४

पुरुष के शरीर में मन ही देवों और असुरों के संघर्ष का स्थल है। वैदिक परिभाषा में मनुष्य का शरीर घट या कलश कहा जाता है। मनुष्य का एक नाम समुद्र है :—

पुरुषो वै समुद्रः।

जैमिनीय उप० ब्रा० ३।३।४।५

इसी समुद्र का मंथन जीवन में सब के लिये आवश्यक कर्तव्य है। उसीसे अनेक दिव्य रत्नों का उद्भव होता है। इस मंथन से जो अमृत या जीवन का प्राण भाग उत्पन्न होता है, उसका अंश देवों को मिलना चाहिए। असुर यदि जीवन तत्व पर अधिकार पा लेते हैं, तो मनुष्य मृत्यु के मुख में जाने लगता है।

इस शरीर में शक्ति का मुख्य स्थान केन्द्रीय नाड़ीजाल (Central Nervous System) है। इसके दो भाग हैं, एक मस्तिष्क और दूसरा मेरुदण्ड सम्बन्धी नाड़ी-संस्थान, जिसे भारतीय परिभाषा में 'सुषुम्णा' कहा गया है। मस्तिष्क या सिर के वैदिक परिभाषा में अनेक नाम हैं।

वैदिक मनः शास्त्र के पंडितों ने उन अनेक संज्ञाओं के द्वारा मन की अपरिमित शक्तियों को ही प्रकट किया है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार शिर ही समस्त प्राणों का उद्भव स्थान है :—

शिरो वै प्राणानां योनिः। श० ७।५।१।२२

पंच प्राण ही पचेन्द्रियों का संचालन करते हैं। इनका नियंत्रण शिर से ही होता है। शतपथ ब्राह्मण में अन्यत्र निरुक्त शास्त्र की दृष्टि से कहा है :—

यच्छ्रियं समुदौहंस्तस्माच्छिरः तस्मिन्नेतस्मिन्प्राणा
आश्रयन्त, तस्माद् उ एव एतत् शिरः। श० ६।१।१।४

अर्थात् देवों ने श्री का दोहन किया। श्री-दोहन के कारण ही शिर को यह नाम मिला। उस सिर में प्राण ने आश्रय लिया, आश्रय स्थान होने के कारण ही वह 'शिर' कहलाया। यहाँ ऋषि देखता है कि श्री, आश्रय और शिर इन तीनों में एक ही धातु 'श्रिञ् श्रयणे' के भिन्न भिन्न रूप हैं।

तात्पर्य यह है कि सिर या मस्तिष्क ही प्राणों का प्रभव स्थान है।

सिर की दूसरी संज्ञा चमस है। उपनिषद् और वेदमंत्रों में एक चमस का वर्णन आता है जिसका मुँह नीचे को (अर्वाग् बिलः) और पेंदी ऊपर को (ऊर्ध्वबुध्नः) है। शतपथादि ब्राह्मणों के अनुसार यह सिर का ही वर्णन है :—

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः। इदं तच्छिरः।

श० १४।५।२।५

यदि हम ध्यानापूर्वक अपने शरीर का निरीक्षण करें तो हमें जान पड़ेगा कि मेरुदण्ड के ऊपरी भाग पर शिर रूपी कटोरा औंधा ढका हुआ है। मेरुदण्ड का ऊपरी छोर सुमेरु और नीचे का कुमेरु कहलाता है। सुमेरु और कुमेरु के बीच सर्वदा अहर्निश एक विद्युत की तरंग या प्राणधारा प्रवाहित होती रहती है, इसका स्वास्थ्य ही हमारे आयुष्य का हेतु है।

सिर की तीसरी संज्ञा कलश या द्रोण है, जिसमें सोमयाग में सोम रस भरा जाता है। इस द्रोण कलश में जो सोम होता है, उसमें से छोटे छोटे पात्रों में भर कर वह रस पिया जाता है। हमारे शरीर में भी रात दिन यह क्रिया चलती रहती है। मस्तिष्क में भरा हुआ रस ही सोम है। इसे अंग्रेजी में Cerebro-Spinal Fluid कहा जाता है। यह रस मस्तिष्क और मेरुदण्ड के समस्त नाड़ी संस्थान को सींचता रहता है। यह मस्तिष्क की वापियों (Ventricles) में उत्पन्न होता है, और मस्तिष्क और सुषुम्णा की सूक्ष्म-तम नाड़ियों का पोषण और परिमार्जन करता हुआ उसमें सर्वत्र ओत प्रोत रहता है। शरीर-यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाली परिभाषाओं में सोम रस ही मस्तिष्क और सुषुम्णा में व्याप्त रस है।

ऋग्वेद में सोम को इन्द्र का रस या इन्द्रिय-सम्बन्धी रस कहा गया है :—

सोम इन्द्रियो रसः। ऋ० ८।३।२०

यह सोम सब के मस्तिष्क में शान्ति और अमृत का देने वाला चन्द्र है। यही शिव के मस्तक पर रहता है। समुद्र मंथन में भी सोम उत्पन्न हुआ और आदित्य पथानुसारी होकर देवों के पास गया।

मस्तिष्क की एक संज्ञा स्वर्ग है। अथर्ववेद के एक मंत्र में कहा है :—

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
अस्यां हिरण्ययो कोषः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥
अथर्व १२।२।३१

अर्थात् आठ चक्र और नव (इन्द्रिय) द्वारों वाला यह शरीर देवों की पुरी अयोध्या है। इसमें एक हिरण्य का कोष है जो ज्योति से ढका हुआ स्वर्ग

है। यह मस्तिष्क ही स्वर्ग है जो ज्योति का लोक है और देवों का स्थान है। हिरण्य का एक पर्याय प्राण, वीर्य या सोम है। मस्तिष्क इन सब तत्वों का वास्तविक कोष है। वीर्य या रेत से मस्तिष्क का साक्षात् घनिष्ठ सम्बन्ध है। मस्तिष्क संकल्पों का स्थान है। और कामदेव को संकल्प योनि कहा जाता है। काम की सर्व प्रथम चेतना मन में ही स्फुरित होती है। अतएव उसकी 'मनोज' या 'मनसिज' संज्ञाएँ अन्वर्थ ही हैं। मन के निर्विकार रखने से काम जीता जाता है। मन को वश में करने की शास्त्र-विधि का नाम योग है। शिव सर्व प्रथम योगी हैं। अतएव वे ही मदन-दहन करने में सफल हुए।

हमारे शास्त्रों के अनुसार विचार ज्योति का लक्षण है। विचार ज्योति की किरण के समान है जो अन्धकार को चीरती हुई फैलती है, इसलिए बुद्धि को सूर्य और विचारों को ज्योति कहा गया है। विचारों का लोक मस्तिष्क है, वह ज्योति से आवृत स्वर्ग कहा गया है। शरीर की प्रकृति ने ऐसी रचना की है कि उसमें मस्तिष्क ही विचार कर सकता है। मस्तिष्क या शिर से नीचे शरीर का जो भाग है उसमें संकल्प-विकल्प की शक्ति नहीं है। अतएव आर्ष परिभाषा में सिर को ज्योति लोक या देव लोक और शेष शरीर को तमो लोक या असुरों का लोक कहते हैं। मनुष्य में ज्योति और तम, देव और असुर—दोनों का साथ साथ निवास है।

हम अपने विवेक से ज्योति को तम से अलग पहिचान लेते हैं, यही ज्योति या देवों की विजय है।

सुषुम्णा के भाग का नाम पृथिवी और मस्तिष्क का नाम स्वर्ग है। इन दोनों का जो सम्मिलन है, अर्थात् जहाँ सुषुम्णा (Spinal Chord) मस्तिष्क (Cerebrum) में प्रवेश करती है, उस स्थान को अन्तरिक्ष (Medulla Oblongata) कहा जाता है। हमारा समस्त इन्द्रिय व्यापार इन्हीं तीन चेतना के स्थानों के पारस्परिक सहयोग से सम्भव होता है।

समुद्र मंथन से जो रत्न उत्पन्न हुए उनका सम्बन्ध भी अध्यात्मपक्ष में मनुष्य के शरीर के आन्तरिक तत्वों से ही है। सोम या चन्द्र मस्तिष्क-गत सोम रस है, जो अमृत का स्रवण करता रहता है। आयु, प्राण, चेतना, ज्योति,

देवत्व, शान्ति आदि सात्विक तत्वों की संज्ञा ही अमृत है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इन परिभाषाओं को स्पष्ट स्वीकार करके अमृत के अभिप्राय को बताया गया है।

मनुष्य में प्राण-शक्ति का उद्रेक ही अमृत बल है। यह प्राण रेत की शुद्धता पर निर्भर है। रेत या वीर्य जल तत्व पर आश्रित है। ऐतरेय उपनिषद् में स्पष्ट कहा है कि जलों ने रेत बन कर इस शरीर में निवास किया :—

आपः रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्।

इसीलिए समुद्र मंथन में पुरुष रूपी समुद्र के जलतत्वों का मंथन किया जाता है। रेत की शुद्धि ही प्राण और आयु की चरम प्रतिष्ठा है।

रेत एक प्रकार की शक्ति है। उसके दो स्वरूप हैं, एक दैवी, दूसरा आसुरी। जल के भी दो नाम प्राचीन निरुक्तों में बहुत महत्त्व पूर्ण हैं एक अमृत, दूसरा विष। जल ही अमृत और जल ही विष है। जल से उत्पन्न सात्विक शक्ति अमृत है। उसी का तामसी रूप विष हो जाता है। अमृत को देवता और असुर सब चाहते हैं। पर दैवी विधान यही है कि केवल देव ही अमृत पी सकते हैं, असुर नहीं। परन्तु इससे पूर्व कि देवों को अमृत मिल सके, यह आवश्यक है कि कोई विष या कालकूट को अपने शरीर में पचा ले। शिव योगिराट् हैं वे ही विष अर्थात् रेत तत्व की तामसी वृत्तियों का दमन कर सकते हैं। शिव कौन हैं और क्यों उन्होंने विष को कण्ठ में ही स्थापित किया, इसका उत्तर योग-शास्त्र की दृष्टि से हम 'शिव का स्वरूप' नामक अपने पृथक् लेख में दे चुके हैं। यहाँ इतना ही स्मरण रखना चाहिए कि पुरुष रूपी समुद्र मंथन में रेत या जल के मंथन से मनुष्य के शरीर में ही विष और अमृत दोनों भिन्न तत्व उत्पन्न होते हैं।

वेद की प्राचीनतम परिभाषाओं में इन के ही नामान्तर सोम और सुरा हैं। रेत की सात्विक शक्ति सोम है, तामसी मादक या उच्छृंखल शक्ति सुरा है :—

प्रजापतेर्वा एते अन्धसी यत्सोमश्च सुराच।
ततः सत्यं श्रीर्ज्योतिः सोमः।
अनृतं पाप्मा तमः सुरा॥ श० ५।१।२।१०

अर्थात् प्रजापति के दो अन्न हैं—एक सोम, दूसरा सुरा। सत्य, श्री, ज्योति का नाम सोम है; अमृत, पाप, तम का नाम सुरा है।

अपने शरीर में ही हम देखते हैं सोम और सुरा दोनों विद्यमान हैं। अन्न जब पेट में पहुँचता है उसका अभिषव होकर जो शारीरिक शक्ति बनती है वह सुरा है। प्राकृतिक सुरा भी अभिषव से ही बनती है। उसी अभिषुत रस के अधिक सूक्ष्म होने से जो सूक्ष्म मनःशक्ति उत्पन्न होती है वह सोम है। सोम ही चन्द्रमा है। इसलिये चन्द्रमा को मन से उत्पन्न कहा जाता है :—

चन्द्रमा मनसो जातः।

अथवा यजुर्वेद में यह प्रश्न किया है कि कौन बार बार घटता बढ़ता रहता है और उत्तर में कहा है कि यह चन्द्रमा है जो बार बार उत्पन्न होता है। (यजु० २६।४५-४६) वहाँ भी अध्यात्म पक्ष में चन्द्रमा का अर्थ मन है, जो संकल्पों के द्वारा बराबर वृद्धि-क्षय को प्राप्त होता रहता है। अमृत-विष, एवं सोम-सुरा के द्वन्द्व मन की शक्तियों को लक्ष्य करके कहे गए हैं। अध्यात्म पक्ष में इनका अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

इससे पूर्व कि हम पारिजात या कल्पवृक्ष का अर्थ स्पष्ट करें अन्य रत्नों के सम्बन्ध में भी संक्षेप से विचार करना आवश्यक है। मन के समान वेगवान् अश्व कौन है, जिसके सात मुख हैं। वह अश्व देवों का वाहन है। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट कहा है कि मन ही देवों का वाहन अश्व है। इसी पर आरूढ़ होकर देव विचरण करते हैं :—

मनो वै देव वाहनं। मनो हीदं मनस्विनं भूयिष्ठं वनीवाह्यते।

शतपथ १।४।३।६[1]

इन्द्र का एक प्राचीन विशेषण वृद्धश्रवा है। उनका यह अश्व पुराणों में उच्चैःश्रवा कहा गया है।

---

[1] **ऋग्वेद में भी देव-वाहन अश्व का वर्णन है—**

वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः

तं हविष्मन्त ईडते। ऋ० ३।२७।१४.

प्रश्न यह है कि उसके सात मुख कौन से हैं ? सप्तशीर्षण्य प्राण ही मन रूपी अश्व के सात मुख हैं—दो आँख, दो नाक, दो कान और जिह्वा — ये सात ऋषि हैं जिनसे प्राणिमात्र काम लेते हैं। सप्तशीर्षण्य प्राण और सप्तर्षि ये परिभाषा वेद में सामान्य रूप से बार बार आती हैं और बृहदारण्यक उपनिषद् (२।२।४) में इन को स्पष्ट किया है।

प्राणों का अधिपति मन है। अतएव सप्तमुखी मन ही देवों का अश्व वाहन है, मन की सप्तमुखी इन्द्रिय वृत्तियों पर अधिकार प्राप्त कर लेने से अथवा इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाने से ही देव अपने अश्व के द्वारा नियम और अभिलषित स्थान पर पहुँच सकते हैं।

कठ उपनिषद् में तथा अन्य भारतीय साहित्य में इन्द्रियों की उपमा अश्व से दी गई है। शरीर रूपी देवरथ में इन्द्रियों के सदश्वों को जोड़ कर जो बुद्धि रूप सारथि की शक्ति से सफल जीवनयात्रा कर सकता है, वही विजयशील महारथी है, अन्यथा हम में से हर एक परास्त वृत्त होकर कहीं न कहीं अपनी अपनी यात्रा में भटकता रहता है। हमारे जीवन के लिए मनोजव उच्चैःश्रवा का महत्त्व सर्वतोऽधिक है।

मनुष्य में दृढ़ संकल्प-शक्ति ही दिव्य कौस्तुभ-मणि है जो हृदय का अलंकार है। जिस हृदय में कौस्तुभ नहीं वह श्री विहीन रहता है। संकल्प की वीर्यवती शक्ति ही मनुष्य को देव बना देती है। मन, बुद्धि, चित्त अहंकार इन चारों की समन्वित शक्ति चार दाँतों वाला दिव्य ऐरावत है जो इन्द्र का वाहन है। इन्द्र आत्मा की प्राचीन संज्ञा है। उसी के सम्पर्क से हमारी इन्द्रियाँ अपने कार्य्यों में प्रवृत्त रहती हैं। इन्द्र की शक्ति ही इन्द्रिय देवों के रूप में प्रकट हो रही है। शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि इन्द्र ही सब के भीतर बैठा हुआ मध्य प्राण है जो इतर इन्द्रिय प्राणों को समिद्ध करता रहता है (श० ६।१।१।२)[1]। वह

---

[1] **स योऽयं मध्ये प्राणः। एष एव इन्द्रः। तानेष प्राणान् मध्यत इन्द्रियेणैन्द्ध। यदैन्द्ध तस्मादिन्धः। इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षम्।**

इन्द्र-शक्ति संकल्प शक्ति के रूप में प्रकट होती है; वह विष्णु का सर्वोत्तम अलंकार है जिसका स्वरूप मानुषी नहीं, दैवी है। पुरुष ही विष्णु और पुरुष ही यज्ञ है। पाँच जन्य शंख और विष्णु का धनुष भी मन और प्राणों के व्यापार से ही सम्बन्ध रखते हैं। इन्द्रियों की एक संज्ञा पंचजन है। इन पंचजनों का संवादी स्वर (Harmony) पंचजन शंख की ध्वनि है। इन्द्रियों की उच्छृं-खलता उनकी विसंवादिता है। समस्त इन्द्रियों का मन के साथ संज्ञान सूत्र में बद्ध रहना ही पाँचजन्य शंख का दिव्य मधुर घोष है। वशीभूत इन्द्रियाँ काम-धेनु गौएँ हैं (गावः कामदुघः) जो अमृत के समान स्वादिष्ट दुग्ध देती हैं। यथाकाम दुग्ध प्राप्त करने के लिये इन्द्रियों को बस में करना आवश्यक है।

दैवी वृत्ति वाला मनुष्य दिलीप के समान कामधेनु की गौ सेवा करके उसका दुग्ध पीना चाहता है। वही यज्ञिय भोग है, असंयत व्यक्ति इन्द्रियों को निचोड़ कर उनका रक्त भी पी लेना चाहता है। कविवर नान्हालाल के शब्दों में 'भाव के भूखे देव होते हैं, रक्त के प्यासे असुर'। यही वश्य और अवश्य इन्द्रियों का अन्तर है। रम्भादि देवांगनाएँ भी पुरुष रूपी समुद्र के अभ्यन्तर में ही उपस्थित हैं। यास्क के अनुसार रम्भ मेरुदण्ड की संज्ञा है :—

रम्भः पिनाक मिति दण्डस्य। नि० ३।२१

'शिव का स्वरूप' लेख में हम बता चुके हैं कि पिनाक क्या है और मेरुदण्ड को किस कारण शिव का धनुष कहा गया है? मेरु एक पर्वत है। जिसमें पर्व हों वही पर्वत कहलाता है। मेरुदण्ड में तैंतीस पर्व या पोरियाँ (Verte-bra) हैं। इस पर्वत की शक्ति पार्वती या पर्वतराज पुत्री कही गयी हैं। रम्भ भी पिनाक या मेरुदण्ड की ही संज्ञा है। रम्भ की शक्ति रम्भा हुई। रम्भा की कल्पना एक अप्सरा के रूप में है। पार्वती योगीश्वर शिव को तप के द्वारा प्राप्त करती है। परन्तु रम्भा अप्सरा देवों का स्वच्छन्द वरण करती है (अद्भ्यः सरन्तीति अप्सरसः)। जलों से उत्पन्न होने के कारण वे अप्सरा कहलाती हैं। जल का शरीरवर्ती रूप रेत है। उसी की अनेक कामनाएँ या वृत्तियाँ अप्सराएँ हैं। रम्भा मेरुदण्ड की प्रमुख अप्सरा है। वह मेरु पर रहने वाले देवगण का

वरण करती है। दिव्य अध्यात्म भावों को प्रकट करने के लिये ही पुराणकारों ने इन रमणीय कल्पनाओं या परिभाषाओं की सृष्टि की है। ये परिभाषाएँ ही भारतीय-उपाख्यानों की वर्णमाला हैं। इनकी अनेक विध बारह खड़ी के द्वारा एतद्देशीय लेखक उन विलक्षण उपाख्यानों की सृष्टि करने में सफल हो सके, जिनकी विराट् कल्पना के आगे समस्त विश्व का गाथाशास्त्र हार मानता है। मन्दर, वासुकि, कूर्म ये भी उसी कल्पना के अंग हैं। मेरुदण्ड का ही एक भाग मन्दराचल है। वासुकि कुण्डलिनी है। प्राण ही वह कूर्म है जो मन्थन के समय पर्वत का अधिष्ठान बनता है। रेत और शिर को भी कूर्म कहते हैं। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है :—

रेतो वै कूर्मः। श० ७।२।१।१
शिरः कूर्मः। श० ७।५।१।३५
प्राणो वै कूर्मः प्राणो हीमाः सर्वाः प्रजाः करोति। श० ७।२।१।७

कल्पवृक्ष क्या है ?

समुद्र मन्थन से उत्पन्न चौदह रत्नों में कल्पवृक्ष की कल्पना सब से अधिक मनोहर है। कल्पवृक्ष वह वृक्ष है जिसकी छत्रछाया मनवाञ्छित संकल्पों की पूर्ति करती है। हम कह चुके हैं कि मनुष्य का मन संकल्प-विकल्पों का प्रभव स्थान है। चतुर्दश रत्नों में अधिकांश का सम्बन्ध मानसिक भावों से है। कल्पवृक्ष भी वस्तुतः मन का ही प्रतिनिधि है।

केन्द्रीय नाड़ीजाल पूर्व वा पश्चिम दोनों जगह एक वृक्ष के रूप में वर्णित है। पश्चिमी परिभाषा में इसका नाम Central Nervous System या Arbor-vitae (Tree of Life) है। हमारे यहाँ यह एक वनस्पति या वृक्ष है। अनेक नाड़ी-शाखा प्रशाखाएँ इस वृक्ष के अंग प्रत्यंग हैं। मनुष्य का स्वास्थ्य और जीवन इस नाड़ी संस्थान पर प्रतिष्ठित है। यह वनस्पति ही मनुष्य जीवन के केन्द्र में स्थापित यूप है। इसी से आयुष्य सम्बद्ध है।

इस वृक्ष की संज्ञा कल्पवृक्ष है। कल्प और कल्पना एक ही धातु से बने हैं।

कल्प दो प्रकार का होता है—एक संकल्प, दूसरा विकल्प। कल्प में 'सम्' और 'वि' उपसर्ग जोड़ने से ये दो शब्द बनते हैं। ये ही उपसर्ग समाधि और व्याधि में हैं। 'सम्' उपसर्ग जीवन की अन्तरमुखी गति को बताता है, 'वि' बहिर्मुखी को। संकल्प मनुष्य को समाधि की ओर ले जाता है, विकल्प व्याधि की ओर।

सम् + कल्प = समाधि
वि + कल्प = व्याधि

मन की शक्तियों का रहस्य संकल्प या समाधि है। नाना विकल्पों से मन व्याधि की ओर जाता है, उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है।

इस प्रकार का कल्पवृक्ष प्रकृति ने प्रत्येक प्राणी के भीतर लगाया है। मनन या विचार मनुष्य का स्वभाव ही है, विचार के क्षेत्र में मनुष्य चाहे जितनी ऊँची उड़ान भर सकता है। विचार साम्राज्य के विस्तार की इयत्ता आज तक कोई नहीं बाँध सका। कवि ने इसी भाव को लक्ष्य में रख कर कहा है :—

मनोरथानामगतिर्न विद्यते। कुमार सम्भव ५।६४

अर्थात् मन के रथ की गति कहीं नहीं रुकती। मनोरथों के जगत् में अप्राप्य कुछ नहीं है।

इसीलिए कहते हैं कि कल्पवृक्ष के नीचे संकल्प मात्र से जो चाहो सो प्राप्त कर लो। पर उपलब्धि की यह वास्तविकता कल्पवृक्ष के नीचे तक ही सीमित रहती है। कल्पवृक्ष की छाया से बाहर मन का राज्य समाप्त हो जाता है, और मनुष्य जहाँ का तहाँ हो रहता है। विचार मस्तिष्क में उत्पन्न होते हैं। मस्तिष्क की संज्ञा स्वर्ग है, जहाँ ज्योति लोक है। इसी कारण कल्पवृक्ष को स्वर्ग का वृक्ष कहा गया है। कल्पवृक्ष का नाम पारिजात है क्योंकि यह जन्म लेते ही प्राणी के साथ उत्पन्न होता है। वस्तुतः जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त मनुष्य का क्या विकास है? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि मानवी जीवन मन की अन्तर्निहित शक्तियों का क्रमिक उद्घाटन है। बालक और युवा में जो अन्तर है वह मन की अवस्था का भेद है। संसार के उत्कृष्ट मस्तिष्क वाले संकल्पवान्

प्राणी में और एक साधारण मनुष्य में भी जो भेद है वह मन की शक्तियों के भेद के कारण हैं। मन ही मनुष्य का दूसरे मनुष्य से भेदक है। जो मनुष्य अपने भीतर संकल्पवान् मन का भरण करते हैं वे ही राष्ट्र की निधि हैं। नाना प्रकार के दुर्बल विकल्पों से प्रताडित अस्थिरचित्त व्यक्तियों का समाज के लिये क्या मूल्य हो सकता है! अनेक आचार्यों के द्वारा विद्यालयों में शिक्षा के आयोजन इसीलिये हैं कि सच्चे अर्थों में संकल्पवान् मनःशक्ति से धनी मनुष्यों का निर्माण किया जाय।

प्राचीन काल के मनीषी शिक्षा शास्त्रियों ने मन की इस अपूर्व शक्ति के रहस्य को जान लिया था। जब हम 'तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु' सूक्त को पढ़कर देखते हैं और उसके अर्थों पर विचार करते हैं, तब हमें आश्चर्य होता है कि मन की जाग्रत् और सुषुप्त (conscious and subconscious) सभी प्रकार की शक्तियों को पहचानने में भारत के प्राचीन मनःवैज्ञानिकों को कितनी अधिक सफलता मिल चुकी थी। आइये, मनः सूक्त के रचयिता शिव संकल्प ऋषि के विचारों को ध्यानपूर्वक सुनें :—

१—दैवी-शक्ति से सम्पन्न जो मन जाग्रत् अवस्था में दूर तक जाता है, जो सोते समय भी उसी तरह जाता है, वह ज्योतियों की ज्योति दूरंगम मन शिव संकल्पों से युक्त हो।

२—जिसके द्वारा मनीषी जन यज्ञिय विधानों में कर्म करते हैं, सब प्रजाओं के भीतर जो अपूर्व शक्ति है, वह मेरा मन शिव संकल्पों से युक्त हो।

३—प्रज्ञान, चेतना और धृति जिसके रूप हैं, प्रजाओं के भीतर जो अमृत ज्योति है, वह मेरा मन शिव संकल्पों से युक्त हो।

४—जिस अमृत ज्योति के द्वारा भूत, भविष्य और वर्तमान सब परि-गृहीत रहता है, जिसके द्वारा सप्तहोता यज्ञ का विधान होता है, वह मेरा मन शिव संकल्पों से युक्त हो।

५—ऋक्, साम और यजु जिसमें इस तरह पिरोये हुए हैं जैसे रथ के पहिये की पुट्ठी में अरे लगे रहते हैं, जिसमें प्रजाओं के समस्त संकल्प ओत-प्रोत हैं, वह मेरा मन शिव संकल्पों से युक्त हो।

६—उत्तम सारथि जैसे लगाम के द्वारा घोड़ों को नियंत्रित करता है, ऐसे ही जो मनुष्यों को बारम्बार ले जाता रहता है, जो हृदय अर्थात् हमारे केन्द्र बिन्दु पर प्रतिष्ठित है, जो अजर और वेगशील है, वह मेरा मन शिव संकल्पों से युक्त हो।

(यजु० ३४।१।६)

क्या विश्व के साहित्य में ऐसे शब्द अन्यत्र मिल सकते हैं जो मन की महिमा का वर्णन करने में इनसे अधिक उदात्त और इनसे अधिक ओजस्वी हों?

अब तक मन की स्तुति में अन्यत्र जो कुछ कहा गया है, उस सब को फीका कर देने वाले हमारे ये उषःकालीन वाक्य हैं। अवश्य ही इस मनःसूक्त के ऋषि ने जिसका रचयिता भी संयोग से शिव संकल्प कहा जाता है, अपने आध्यात्मिक अनुभव की ऊँचाई से मन की प्रशंसा में उससे भी कहीं अधिक कह डाला है, जितना कि हम भविष्य में कभी कह पायेंगे। मन के लिये यह विशेषण कितने सार्थक हैं, जैसे ज्योतिषां ज्योति[1], अपूर्व यक्ष[2], दैव, दूरंगम, अमृतज्योति, प्रज्ञान, चेतना, धृति, अजर, जविष्ठ आदि। मन रूपी अपूर्व यक्ष (यज्ञिय यजनीय ज्योति) हम सब के भीतर बैठा हुआ है। जब तक हम युधिष्ठिर के समान इस अदृश्य यक्ष की शंकाओं का समाधान न कर लें, तब तक सांसारिक तृष्णाओं की तृप्ति नहीं कर सकते। इन्हीं मन्त्रों में मन की सारथि से उपमा देकर शरीर रूपी रथ में जुते हुए इन्द्रिय रूपी घोड़ों के उस साहित्यिक रूपक का सूत्रपात किया गया है, जिसका मनोहर वर्णन कई स्थानों में हमारे साहित्य में आया है।

महाभारत अश्वमेध पर्व (अ० ५१) में ब्रह्मरथ रूपी शरीर का वर्णन करते हुए लिखा है :—

महदश्वसमायुक्तं बुद्धिसंयमनं रथम्।
समारुह्य स भूतात्मा समन्तात्परिधावति॥

---

[1] The illuminator of all the perceptive senses.

[2] Peerless Spirit.

इन्द्रियग्रामसंयुक्तो मनः सारथिरेव च ।
बुद्धि संयमनो नित्यं महान् ब्रह्ममयो रथः ॥
एवं यो वेत्ति विद्वान्वै सदा ब्रह्ममयं रथम् ।
स धीरः सर्वभूतेषु न मोहमधिगच्छति ॥

ऊपर जिस मन रूपी कल्पवृक्ष का विवेचन किया गया है वह स्वर्गीय या दिव्य वनस्पति है। यजुर्वेद में मन का विशेषण 'दैव' कहा गया है। प्रश्न यह है कि इस स्वर्गीय वनस्पति का परिचय प्राप्त करके हम अपना क्या कल्याण कर सकते हैं ? कल्पवृक्ष, जैसा कि नाम से प्रगट है, कल्पना प्रधान है। कल्पना या संकल्प दो प्रकार का होता है। एक शिव, दूसरा अशिव। शिव संकल्प ही मानवी कल्याण के हेतु हो सकते हैं। पौराणिक उपाख्यानों में भी प्रसिद्ध है कि यदि हम कल्पवृक्ष के नीचे अमृत की कामना करें तो भी प्राप्त हो सकता है। पर यदि भय या दुर्बल संकल्प या मानसिक विकल्प के कारण मृत्यु की बात हमारे मन में आ गई तो वह भी तत्काल ही प्राप्त होती है। इसलिए कल्पवृक्ष के जगत् में मनुष्य का कल्याण केवल शिव संकल्पों से ही सिद्ध हो सकता है। यजुर्वेदीय शिवसंकल्प के मंत्रों को एक उपनिषद् समझा जाता है। उसमें सब से महत्त्व की बात मन को शिवात्मक संकल्पों से युक्त करने का भाव ही है।

शिव संकल्प

अर्वाचीन मनोविज्ञान शास्त्र के अनुसार मनुष्य का अन्तर्मन बाह्य मन की अपेक्षा सहस्रों गुना अधिक शक्तिशाली है। उसके यथार्थ स्वरूप, रहस्य और शक्तियों का अभी तक हमें पर्याप्त ज्ञान नहीं है। उसी अन्तर्मन को शिव संकल्पों की प्रेरणा से मनुष्य के लिये अत्यधिक कल्याणकारी बनाया जा सकता है। पश्चिमी विद्वान फ्रॉयड (**Freud**) के अन्वेषण अन्तर्मन से ही सम्बन्ध रखते हैं। उस अन्तर्मन पर प्रभाव डाल कर उसकी अन्तर्निहित शक्ति को परिष्कृत और स्फुट करना यह भी आधुनिक मनोविज्ञान का सुपरिचित सिद्धान्त है।

दीर्घ आयु, अमृत जीवन, स्वास्थ्य, उर्जित प्राणशक्ति, निर्विकार इन्द्रिय धारणा, निश्चलधृति, मनः शान्ति—ये सब उपयोगी भाव मानसिक संकल्पों से

प्राप्त किये जा सकते हैं। इस प्रकार के शिव संकल्पों को अंग्रेजी में auto-suggestion कहा जाता है। वस्तुतः मनुष्य अपने ही संकल्पों से रात दिन भरा रहता है। ऐसी दशा में उसका कल्याण इसी में है कि वह अपने संकल्पों को शिव और सत्य बनावे। सत्य संकल्प ही दृढ़ होते हैं। पूर्णतम मनुष्य की जो भारतीय कल्पना है उसमें उसे सत्यकाम और सत्यसंकल्प होना चाहिए! जीवन की सफलता या पूर्णता की यही कसौटी है कि हम किस मात्रा में अपने आपको सत्यकाम बना सके और जीवन में कितने सत्यसंकल्पों का लाभ हमें प्राप्त हुआ। संकल्प की एक वैदिक संज्ञा 'क्रतु' है। मनुष्य 'क्रतुमय' प्राणी है। क्रतु का सम्बन्ध कर्म से है। कर्म के द्वारा क्रतु या संकल्प की पूर्ति होती है। एक ओर क्रतु (Ideal) दूसरी ओर कर्म (Real)—इन्हीं दोनों के बीच में मनुष्य जीवन है। इसी दृष्टि से जीवन की अन्तिम प्रार्थना मनुष्य के लिये यह है :—

ओ३म् क्रतो स्मर, कृतँ स्मर
क्रतो स्मर, कृत स्मर।

अर्थात् संकल्प का स्मरण करो। फिर कर्म का स्मरण करो। कितना सोचा था, कितना कर पाया! कविवर ब्राउनिंग ने संकल्प और कर्म के इसी सम्बन्ध को व्यक्त करते हुए लिखा है :—

What hand and brain went ever paired?
What heart alike conceived and dared?
What act proved all its thought had been?
What will but felt the fleshly screen?

इसका अभिप्राय यही है कि किस जीवन में संकल्प और कर्म का मेल पूरा उतरा?

सत्य दृढ़ संकल्पों की साधना कल्पवृक्ष का सच्चा उपभोग है। यदि हम कल्पवृक्ष के नीचे स्वर्ग और पृथिवी के समस्त उपभोगों को पा लेना चाहते हैं तो हमें शिव संकल्पों का अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य के नित्यप्रति के जीवन

को सुखमय और शान्तिमय बनाने का यही उपाय है कि हमारा मन समाधिमान् हो, अर्थात् उसमें जितने संकल्प उठें वे शिव और कल्याणकारी हों।

अर्वाचीन मनः शास्त्री इस प्रकार के शिव संकल्पों (Auto-suggestions) को मानसिक चिकित्सा का अनिवार्य अंग मानते हैं। हमारे साहित्य में शिव संकल्पों के सैकड़ों सहस्रों वाक्य हैं, जिनके उचित 'आत्म निवेदन' या 'आत्म शंसन' से हम शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार का स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं।

मन में कुत्सित संकल्प का नाम है 'अघशंस' जो मन की व्याधि है। उत्तम संकल्पों को वैदिक परिभाषा में 'सुशंस' कहते हैं। शिव संकल्पात्मक वचनों का सुन्दर शंसन (Healthy suggestion) ही मानसिक स्वास्थ्य के लिये अभीष्ट है। सुशंस का फल अन्तर्मन (subconscious mind) का स्वास्थ्य या 'सौस्वप्न्य' है, अघशंस का फल 'दौःस्वप्न्य' है, दौःस्वप्न्य का भेषज (Healing) शिव संकल्पों के शंसन से प्राप्त होता है। इसीलिए सन्ध्या या अहोरात्र की ध्यान विधि में विविध-शिव संकल्पात्मक वचनों का सन्निवेश किया गया है।

यद्यपि वैदिक साहित्य में सहस्रों प्रकार के शिव संकल्प दिये हुए हैं, पर यहाँ उदाहरणार्थ कुछ वाक्यों का संकलन करके इस विषय का दिग्दर्शन मात्र किया जाता है :—

ओ३म् वाङ्म आस्येऽस्तु
नसोर्मे प्राणोऽस्तु
अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु
कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु
बाह्वोर्मे बलमस्तु
ऊर्वोर्मे ओजोऽस्तु
अरिष्टानि मेऽङ्गानि
तनूस्तन्वा सह मे सन्तु।

वाङ्म आसन्, नसोः प्राणः, चक्षुरक्ष्णोः, श्रोत्रं कर्णयोः, अपलिताः

केशाः, अशोणा दन्ताः, बहु बाह्वोर्बलम्, ऊर्वोरोजो, जंघयोर्जवः, पादयोः प्रतिष्ठा, अरिष्टानि मे सर्वात्मा निभृष्टः ॥ अथर्व० १६-६०

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि
आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि।
वर्चोदाअग्नेऽसि वर्चो मे देहि।
अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण।
अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि
तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥

यह व्रत ग्रहण का संकल्प है। व्रत के द्वारा हम अनृत भाव को छोड़ कर सत्य भाव का आश्रय लेते हैं। इसी प्रकार मेधा, श्रद्धा, अभय, आयु, अमृत, प्राण, प्रजा, यश आदि से सम्बन्ध रखने वाले सैकड़ों वाक्य हैं। कहीं कहा है 'यशो मा प्रतिपद्यताम्', कहीं 'अभयं कुरु' का संकल्प है, कहीं 'एवा मे प्राण मा बिभेः' (हे मेरे प्राण मत डरो) का गान है। एक जगह प्राण और अपान के द्वारा मृत्यु से रक्षा पाने का विधान है।

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा। अथर्व० १।२६।१

अन्यत्र शतायु होकर स्वस्थ जीवन की कामना है :—

पश्येम शरदः शतम्
जीवेम शरदः शतम्
शृणुयाम शरदः शतम्
प्रब्रवाम शरदः शतम्
अदीनाः स्याम शरदः शतम्
भूयश्च शरदः शतात्।

इसी प्रकार के उदात्त भावों की कुछ सूक्तियाँ निम्नलिखित हैं :—

अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनं
न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन। ऋ० १०।४८।५

(मैं इन्द्र हूँ, मेरा धन कौन जीत सकता है, मैं कभी मृत्यु के लिये नहीं बना)

शतं जीव शरदो वर्धमानः । अथर्व० २०।६६।६
स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज ।

(अपने क्षेत्र या शरीर में अनामय होकर विराजो)

यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्वी अन्नादो भूयासम् ।

शिव संकल्पात्मक मंत्रों का सब से अधिक संग्रह अथर्व वेद में है । वहाँ शिव संकल्पों के द्वारा मानसिक चिकित्सा को शास्त्रीय रूप ही दे दिया गया है । मन की अन्तर्निहित शक्तियों के परिचय से मनुष्य के कल्याण का साक्षात् सम्बन्ध है । ऊपर के विवेचन की दृष्टि से इस कल्पवृक्ष की आराधना जीवन की सफलता के लिये एक अनिवार्य साधना है । चाहे जीवन के किसी भी प्रदेश में हम हों, शिवसंकल्पों के द्वारा ही हम अपने रोगी मन का संस्कार करके पुनः संकल्प, जीवन और आयु का आवाहन कर सकते हैं :—

आ न एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥

फिर हमारा मन हमें प्राप्त हो, क्रतु, दक्ष और जीवन के लिये; अधिक दिन तक सूर्य को देखने के लिये ।

---

१६. विचारों का मधुमय उत्स-शब्द और अर्थ

शब्द है और शब्द के पीछे उसका सत्य-स्वरूप अर्थ है। केवल शब्द रटो, अल्प फल है। शब्द के साथ उसके अर्थ से टक्कर लेने का ऋजु प्रयत्न करो, महती सम्प्राप्ति है। उससे रस का अनुभव होगा। रस का स्वाद लेना योग है। रस योगियों का भाग है। योगी अर्थ के साथ जूझते हैं, पण्डित शब्दार्थ के साथ। इसीलिये पंडितों के भाग में तक्र ही आया। योगी रस पी रहे हैं, पण्डित छाछ पीकर रह गए। पण्डित के सामने शब्द आया—'सविता'। शब्द की बाहरी परिधि में घूम-घाम कर पण्डित ने सन्तोष माना। सविता कहाँ है ? क्या है ? इस अर्थ को जिसने बूझा वह योग की ओर बढ़ा। मन को अर्श के साथ बार-बार टकराओ। बिजली की परस्पर चटचटाती हुई ऋण-धन जिह्वाओं की तरह शब्द को अर्थ की सन्निधि में लाकर स्फुरित करो। वहीं अमृत स्वाद रस और आनन्द है।

शब्द ईंधन की तरह भारी है। अर्थ अग्नि के समान, फूल की तरह हल्का। शब्द पृथ्वी की ओर गिरता है, अर्थ आकाश की ओर उठ कर तैरता है। शब्द भूमि का सरीसृप है, अर्थ आकाश का व्योमचारी गरुड़ है। शब्द परिमित, अर्थ अपरिमित है। शब्द मूर्त, अर्थ अमूर्त है। शब्द निरुक्त, अर्थ अनिरुक्त है। शब्द कहने में आगया, अर्थ कथन से परे अनुभव या दर्शन चाहता है। शब्द जब अर्थ की ज्योति से चमकता है तब उसके सान्निध्य में अर्थ की धाराएं छूटती हैं। जन्म भर शब्द की सेवा की तो 'डुकृञ् करणे' ही हाथ रहा। एक मुहूर्त के लिये भी अर्थ का दर्शन मिल गया तो जन्म-जन्म के कल्मष भक् से उड़ गए।

शब्द के द्वार पर सुनसान है। अर्थ के आंगन में अमृतभावों की कल्लोल है, आनन्द का अमृतमय गद्गद भाव है। शब्द के नेत्र बाहर की ओर हैं, अर्थ की दृष्टि अन्तर की ओर होती है। अर्थ के पास पहुँच कर आनन्द

के आंसुओं की झड़ी लग जाती है। शब्द दशग्रीव रावण की तरह परिमित सिरवाला है, अर्थ सहस्र शीर्षा शेष की तरह अनन्त विस्तारी है। शब्द होकर भी नहीं रहता, अर्थ विश्व भुवन का अभिभव करता है। शब्द दो चार पग रेंगता है, अर्थ सुपर्ण की तरह दूरंगम है। शब्द कुम्भकर्ण की तरह महा निद्रालु है, अर्थ लक्ष्मण की तरह जागरणशील है। अर्थ का प्रजागर जिनके हाथ लग गया वे जगत् की रात में जागते रहते हैं।

शब्द जड़ाऊ आभरणों की भाँति है, अर्थ सहज लावण्य की तरह मोहक है। शब्द के पास बैठे हुए भी अपना पता बोल कर देना पड़ता है, अर्थ का सौरभ सौ कोस से अपनी ओर खींचता है। शब्द परकोटे खींच कर भेदभाव उत्पन्न करता है, अर्थ के उदार प्राङ्गण में स्थान की कमी नहीं। शब्द शरीर है, अर्थ प्राण है। शब्द रूपी शरीर की श्री अर्थ रूपी प्राण में है। अर्थ से विरहित शब्द 'अश्रील तनू' होता है। अश्रील ही अश्लील है। शब्द के पचड़े में विषय हमें अपनी ओर खींचते हैं, हम अश्लील रहते हैं। अर्थ का जीवन में जितना साक्षात् अवतार होता है उतना ही हम श्रीयुक्त होकर सुसंस्कृत और सम्भ्रान्त बनते हैं। अर्थ शब्द का सिर है, केवल शब्द कबन्ध है। शिर में श्री निवास करता है। शरीर में सौन्दर्य का प्रतीक शिर है। शब्द में आकर्षण का हेतु अर्थ है। अपने कर्म और संस्कारों से मनुष्य ने विश्व के पुष्कल सौन्दर्य में जो भाग पाया है, उस श्री का निवास शिर में रहता है। शब्द को भी कल्याण-साधन का जो वरदान मिला है उसका स्रोत अर्थ में है। शब्द कमल की भाँति उमँगते हुए सौन्दर्य से सुहावना लगता है, पर अर्थ उस पद्मनाल के भीतर का संचारी जीवन रस है। पद्मनाल के शतदलों पर जो श्री विहार करती है, उस इन्दिरा का निवास तो वस्तुतः वहाँ है जहाँ इन्दीवर के गुह्य सप्तस्रोतों में रस का अजस्र प्रवाह है। शब्द का माधुर्य अनन्त होता है पर काव्य के रस का मधुमय सोता तो उस अर्थ में है जिसके साथ शब्द हमारा परिचय करा देता है।

अर्थ कहाँ है? क्या अर्थ के साथ जीवन में हमारा कभी परिचय हो सका है? अर्थ अव्यक्त भाव है सही, पर है नितान्त सत्य। वह कहाँ नहीं है?

क्या अर्थ की सम्प्राप्ति के लिये हमारा हृदय आंदोलित होता है ? ब्रह्मचर्य, तप, इन शब्दों का मूर्तरूप क्या सहस्र बार भी हमने नहीं देखा है ? पर इन शब्दों के पीछे जो अर्थ है उसके साथ हमारा कितनी बार सम्पर्क हुआ है ? ब्रह्मचर्य किस स्थिति का नाम है ? क्या हमें एक बार भी उस आनन्द से गद्गद होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है ? अर्थ में जो मिठास, जो अमृत, जैसा स्वाद है, उसको चक्खे बिना शब्द के चाटने से भी क्या होगा ? शब्दों से भरा हुआ यह महान् आकाश है। सत्य, धर्म, तप, ब्रह्मचर्य, दीक्षा, ज्ञान, कर्म, प्राण, कैसे कैसे अनमोल शब्द इस गम्भीर प्रदेश में भरे हैं। विचित्र महिमा है कि हम जब चाहते हैं इन शब्दों का आवाहन कर लेते हैं। शब्दों के पीछे उनकी व्यञ्जना से समवेत अर्थ का महान् अर्णव है। शब्द और अर्थ में सरस्वती के दो बड़े फव्वारे हैं। शब्द वाक् है और अर्थ मन है। शब्द और अर्थ के बीच में जब प्राण का मेरुदण्ड जुड़ता है तभी जीवन में कर्म के द्वारा अर्थ की तहें खुलने लगती हैं। शब्द के अध्ययन का फल अर्थ का ज्ञान है। अध्ययन का व्रत लेकर भी जिसने अर्थ को नहीं जाना या जानने का सचाई से कभी प्रयत्न नहीं किया, या प्रयत्न करता हुआ भी जो अपने संकल्प को विजयी नहीं बना सका, उस अधीती के लिये शोक है। अर्थ का साक्षात्कार ज्ञान का सार और साहित्य का अन्तिम फल है। हे मनीषियो ! मन से इस अर्थ को पूछो और अमृत ज्ञानरूपी रस के दिव्य स्वाद को प्राप्त करो।

---

२०. कला

कलारूपों का निर्माण करती है। वे रूप हमारे जीवन में भरते हैं। जीवन रूपों का समुदाय है। वस्त्र, घर, बर्तन-भांड़े, घर के भीतर और बाहर की अनेक जीवनोपयोगी वस्तुएं रूप हैं। इनमें कला के द्वारा सुन्दरता भरना कला का लोकोपयोगी पक्ष है। सुन्दरता देवों का अपना लक्षण है। उस सौन्दर्य को मूर्त वस्तुओं में साक्षात् देखना और जीवन में अधिकाधिक उसे लाना यही मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति और आवश्यकता है।

कलात्मक रूपों का ही नाम संस्कृति है। कला के द्वारा जो रूप उत्पन्न होते हैं उससे संस्कृति का क्षेत्र भरता है और संस्कृति की काया पुष्ट होती है। कला कुतहल या विलास मात्र नहीं है। यह वर्तमान और भावी जीवन की आवश्यता है। हम बिना स्थूल रूपों के रह नहीं सकते। उन्हें सुरूप बनाना ही होगा, अन्यथा कुरूपता जीवन के सौन्दर्य को ग्रस लेगी। हमारे अलंकरण, वेषभूषा, शयनासन, वाहन यान, नौका, विमान, लिपि, ग्रन्थ, सभी का रूप सौन्दर्य में ढालने की आवश्यकता है। गुप्तों ने यही किया, मुगलों की संस्कृति इसी से बनी। आज भी जो संस्कृतिमय देश हैं उनमें सौन्दर्य विधान की यह प्रक्रिया जारी है। जीवन कला से शून्य कब रह सकता है? कला विलास के लिये नहीं होनी चाहिए। विलास कला का पतन है। कालिदास के सामने यही समस्या थी। उन्होंने गुप्तकालीन नर-नारियों के कला विषयक दृष्टि कोण को रखते हुए लिखा है—

न रूपं पापवृत्तये। (कुमार सम्भव)

अर्थात् हमें रूप तो चाहिए, किन्तु पाप की भावना नहीं। निष्पाप रूप ही जीवन की सुन्दरता है। पाप के संस्पर्श से रूप ढल जाता है। उसे कुरूपता हर लेती है। जिस समय गुप्तों के समान ही कभी यूनानियों का अभ्युदय था,

कला की उपासना बढ़ी चढ़ी थी, एथेन्स के मार्ग दर्शक पेरिक्लीस ने जनता को सावधान करते हुए सम्बोधन किया था

"हमें कला चाहिए, विलास नहीं; हम विज्ञान की उपासना करते हैं, लेकिन मानव का नाश नहीं चाहते।" प्राचीन संस्कृतियों ने अपने लिये आवश्यक कलाओं की उद्भावना और सृष्टि की। गुप्तकालीन मिट्टी के प्यालों पर भी कमलों के फुल्ले, शंख और पद्म की सजावट, रेखा उपरेखाओं के अलंकरण उन्हें विचित्र शोभा प्रदान करते हैं। अहिच्छत्रा की खुदाई में इस प्रकार की अनमोल सामाग्री मिली है। जातक कालीन कोशल देश में फूल-कांसे को थालियों को सुन्दरता प्रदान करने का यत्न किया गया। वहां गावों के भीतर आज तक कांसे के पात्रों में सौन्दर्य की यह परम्परा चली आती है। कांगड़ा के लोटे, बुन्देलखंड के चम्मू, गुजरात के रामण दीप और घरेलू झूले, पूजा के पंच-पात्र, बिच्छू, स्त्री, सिंह आदि आकृतियों के ताले, नर नारी मिलन के सरौते, पंजाब की फुलकारी, कच्छी वस्त्रों और घाघरों पर कांच के चंदों की टंकाई और कढ़ाई चँदेरी की साड़ियों के दिप दिप करते झलाबोर के चौड़े पल्ले, गुजराती पटोले, राजस्थानी बांधनू का काम, बंगाल में बलूचर की रेशमी साड़ियां, इस प्रकार की अनगिन्त वस्तुएँ युग-युग से कलाक्षेत्र में विकसित होकर मानवी जीवन को सुन्दरता प्रदान करती रही हैं। यह कार्य पूर्व युग के लिये ही नहीं था। फिर से हमें अपनी संस्कृति को कला के द्वारा संवारना है। प्राचीन उद्यान-क्रीड़ाएं नारी जीवन के उल्लास प्रकृति प्रेम और उन्मुक्त हृदय की प्रतिबिम्ब थीं। वनों में खिले अशोक वृक्षों के फूलों की अशोक पुष्पप्रचायिका क्रीड़ा मनुष्य क्या देवताओं के मन को भी आनंद से भर सकती है। प्राचीन शिल्प और चित्रों में अशोक पुष्प क्रीड़ा, शाल भंजिका क्रीड़ा, आदि नाना प्रकार की उद्यान क्रीड़ाएं और भांति-भांति की सलिल क्रीड़ाएं उस युग की संस्कृति की साक्षी हैं। फिर भी जीवन में वे स्थान पाना चाहती हैं। तभी हमारे पुष्पोद्यान की देवी नये मंगल से प्रसन्न होगी, एवं तभी हमारा और उपवनों का वास्तविक सम्बन्ध स्थापित हो सकेगा। उपवनों के खिले हुए पुष्प मानव को पास बुलाते हैं, उनकी भाषा का अर्थ समझना होगा। किसी समय पुष्पों में हमारी रुचि थी। प्रकृति

ने जिस शरीर में सौंदर्य भरा था, उसे पुष्पों से और भी सजाते थे। वासन्ती, माधवी, मल्लिका, यूथिका, चम्पा, आदि रूप और गन्ध से खिलखिलाते हुए कितने ही पुष्पों के साथ हमारे जीवन की मैत्री थी। क्या फिर वे सख्य सम्बन्ध नये न होंगे? आज तो हम अपने फूलों को जैसे भुला बैठे हैं। आज प्रमदवन और लता-मंडपों की स्मृति हमें नहीं है। विदेशी निर्गन्ध पुष्पों ने हमारे उद्यानों के हंसते बच्चों का स्वराज्य छीन लिया है। अपने स्वराज्योदय में हमें उनकी कुशल भी पूछनी होगी। इसी प्रकार नृत्य गीतों के नानारूपों का उद्धार करना होगा। सुनते हैं नये चीन ने स्वराज्य का उल्लास अपने 'याङ-को' नृत्य से प्राप्त किया जो अब वहां राष्ट्रीय नृत्य के पद पर आसीन है। हमें भी अपने राष्ट्रीय नृत्य को अपनाना होगा जिसमें भाग लेकर छोटे बड़े सब की स्नायुओं में एक बार स्फूर्ति भर सके। कला को विलास कहकर कौन उपेक्षा कर सकता है? ठीक रीति से उसकी उपासना की जाय, तो जीवन में चैतन्य भरने के लिये कला नारायण का रूप है। वह जीवन की प्राणवायु है। जीवन में कितना स्वास्थ्य है इसका प्रमाण लोक की कला से ही प्राप्त होता है।

---

२१. भारतीय कला का अनुशीलन

१. कला से रस का दोहन

कला श्री वा सौन्दर्य को प्रत्यक्ष करने का साधन है। प्रत्येक कलात्मक रचना में सौन्दर्य वा श्री का निवास रहता है। जिस सृष्टि में श्री नहीं वह रसहीन होती है। जहाँ रस नहीं, वहाँ प्राण भी नहीं रहता। जिस जगह रस, प्राण और श्री तीनों एकत्र रहते हैं वहीं कला रहती है।

कहा जाता है कि आनन्द के अनुभव के लिये विश्व-कर्ता ने सृष्टि की रचना की। वह स्वयं रस से तृप्त है, कहीं से किसी प्रकार रस से न्यून नहीं है—

रसेन तृप्तः न कुतश्चनोनः।[1]

एक अखंड रस सृष्टि में सर्वत्र ओत-प्रोत है। उसके मधुर सरोवर शत-सहस्र-संख्या में चारों ओर भरे हुए हैं। उनसे रसानुभव के लिये प्राण सदा उत्सुक रहता है। प्राण को रस अत्यन्त प्रिय है। रस की दुर्धर्ष धाराएँ जब प्रकट होती हैं, प्राण तृप्त होता है।

रस के अनुभव के अनेक स्रोत हैं। रूप की शोभा, चरित्र, ज्ञान ये रस-ग्रहण के अनेक द्वार हैं। कला और साहित्य भी रसानुभव का एक अत्यन्त प्रिय द्वार है। जिस युग को कला की क्षीरधात्री प्राप्त होती है वह युग रस से धन्य हो जाता है। कला के अंक में पोषित समाज को सृष्टि-सम्बन्धी श्री, प्राण और रस का अपूर्व अनुभव प्राप्त होता है।

---

[1]—**अथर्व, १०।८।४४**

२. कला का भू-मापन

मन के सूने प्रदेश को भावों से, और लोक को मूर्त रूपों से भरना यही कलात्मक सृष्टि है। कल्पना के लोक में नए-नए भावों की सृष्टि करना राष्ट्रीय चिन्तन का उत्थान-पक्ष है। उसी जगत् में पुराणकारों ने बहुमुखी गाथाओं के भव्य प्रासाद खड़े किए। साहित्यकारों ने नवीन आदर्श और चरित्र के रूपक बाँधे और इतिहास में भी साहित्य का सत्य मूर्तिमान् हुआ। पुराण और साहित्य जब कल्पना के प्रदेश में भावों के नए ठाठ बनाते हैं और इतिहास का सत्य उनमें बसता है, तभी तीनों का वरदान पाकर कला समाज के जीवन को अनेक मूर्त रूपों से भर देती है। स्थापत्य, शिल्प, चित्र, नाट्य, संगीत इनके अनेक रूप—सुधर्मा सभा में देवों की तरह—प्रत्यक्ष दर्शन देने लगते हैं, और उनके समवाय से कला का भवन जगमगाने लगता है।

शिल्पी और चित्रकार, साहित्य, पुराण और इतिहास की प्रेरणाओं को अपने ढंग से ढालकर प्रस्तुत करने का आयोजन और प्रयत्न करते हैं। अमूर्त भाव किस प्रकार सफलता से व्यक्त किए जा सकते हैं? इस प्रश्न से कभी कभी शिल्पी को दीर्घ काल तक जूझना पड़ता है, तब कहीं जाकर कला की परिभाषाओं के वे सूत्र उसके हाथ आते हैं जिनके द्वारा कलाकार की भाषा राष्ट्र के गूढ़ चिन्तन को व्यक्त करने के योग्य बनती है। शिल्प की भाषा बड़ी अर्थवती होती है। यह सृष्टि देवशिल्प है। इसके शिल्पी को बोलकर कुछ भी कहना नहीं पड़ता, फिर भी उसकी शिल्प-लिपि के अक्षर सभी देश और काल में अपने अभिप्राय को व्यक्त करने में समर्थ होते हैं। मानुषी शिल्प से भी अभिप्राय-प्रकाशन का यह कार्य सिद्ध होता है। कला की भाषा का आविष्कार कलाविदों की उत्कृष्ट साधना का परिणाम होता है।

कला की उत्पत्ति-स्थिति-प्रचार के लिये तीन यत्न आवश्यक हैं—

(१) सर्वप्रथम अमूर्त भावों की सृष्टि।

(२) अमूर्त भावों को मूर्त रूप प्रदान करना।

(३) लोक में कला की अभिज्ञता और रसानुभव की क्षमता की उत्पत्ति और प्रचार करना।

३. कला का मूर्त रूप

उदयाचल से उठकर सूर्य जब अपना दूसरा पैर उठाता है तब उसका पूरा तेज आकाश को छा लेता है। कला का वैभव भी उसके दूसरे चरण अर्थात् भावों को मूर्त रूप देने में ही है। शिल्पी पहले अनगढ़ शिलाखंडों की धैर्य के साथ आराधना करता है; उसकी उस निष्ठा से वे पाषाण मानों द्रवित होकर श्री और सौन्दर्य के रूप में परिणत हो जाते हैं। उनमें कलाकार की भावना प्राण का संचार कर देती है। शिल्प के वे प्रतीक रसिकों और कलाविदों के लिये रस के अनुपम स्रोत बन जाते हैं। जो रसज्ञ हैं, सहृदय हैं उनके हृदय में ही कला रस-संचार का द्वार खोलती है और वे ही कला की वाणी का मर्म प्राप्त करते हैं। कला के आचार्य उसके बाह्य रूप को समझ सकते हैं, पर रसज्ञ के लिये कला अपना अंतरंग रूप प्रकट कर देती है।

भारतीय कला ने अपने अर्थों को व्यक्त करने के लिये अनेक मनोहर सूत्रों का निर्माण किया। त्रिमूर्ति के पीछे दार्शनिक चिन्तन का कितना रहस्यमय संकेत है? प्रणव से लेकर त्रैगुण्य तक के विराट् भावों की अभिव्यक्ति के लिये कला ने 'त्रिमूर्ति' यह छोटा सा इंगित बनाया और वह सबके लिये संतोषप्रद हुआ। त्रिमूर्ति की प्रतिमा मानों भारतीय दर्शन की प्रतिमा है। तत्त्वज्ञान के आँगन में खड़े होकर जब हम 'एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा' का उच्चारण करते हैं, तब कला में विरचित त्रिमूर्ति की प्रतिमा उस अनुभव को प्रत्यक्ष दिखाकर हमें अपूर्व संतोष प्रदान करती है। घाराघुरी के कैलाश मन्दिर में स्थापित त्रिमूर्ति की प्रतिमा भारतीय दर्शन की अमर प्रतिमा की भाँति हमारे सामुद्रिक देहलीद्वार पर प्रतिष्ठित है। दर्शन ही हमारे राष्ट्र की आत्मा है। अतएव इस भव्य त्रिमूर्ति के रूप में मानों राष्ट्र की अधिष्ठात्री देवी स्वयं मूर्तिमती होकर रत्नाकर के प्रवेशद्वार पर सबका स्वागत करती है।

इसी प्रकार शिव का ताण्डव भी कला का मँजा हुआ सूत्र है। दुर्धर्ष सृजन-शक्ति के स्पन्दन को एक केन्द्र पर लाकर उसकी कल्याणमयी कल्पना शिव का ताण्डव नृत्य है। जिस कलाकार ने सबसे पहले इस गम्भीर दार्शनिक भाव को कला की लिपि में व्यक्त किया उसकी ध्यान-शक्ति धन्य है।

शेषशायी विष्णु भारतीय कला की तीसरी अर्थपूर्ण परिभाषा है। सहस्र-शीर्षा पुरुष अनन्त है, उसके एक अंश से यह जगत् स्थित कहा जाता है। विष्णु उसका वह रूप है जो इस विश्व में व्याप्त हो गया है। इससे बचा हुआ जो शतकोटि अनन्त ब्रह्म है वही सहस्रशीर्षा पुरुष है, उसका ही नाम शेष है, क्योंकि विश्व के बाद जो शेष रहता है वह वही है। विश्व में व्याप्त विष्णु सदा उस अनन्त शेष के आधार से स्थित रहता है, इस दार्शनिक सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिये कलाकारों ने 'शेषशायी विष्णु' की प्रतिमा का निर्माण किया। विश्व की साम्यावस्था शेष की शय्या पर सोते हुए विष्णु का रूप है, वही विष्णु की योग निद्रा है। सृष्टि के लिये जो बहिर्मुख प्रेरणा है वही विष्णु की नाभि से बृंहणात्मक तत्त्व या ब्रह्मा का विकास है। ब्रह्मा के सम्मुख रज और तम रूपी मधु कैटभ नामक दानवों का द्वन्द्व, गुण-वैषम्य की प्रचंड अवस्था है। लक्ष्मी के द्वारा विष्णु के चरण-संवाहन का सौम्य दृश्य सृष्टि के साथ 'श्री' का संयोग है। इस प्रकार के अर्थशाली भावों का एक ही प्रतिमा के द्वारा प्रदर्शन कला में अभूतपूर्व है। शेषशायी विष्णु के कलामय सूत्र के पीछे अर्थों का जैसे पूरा महाभाष्य छिपा हुआ है। जिस स्वर्ण-युग में इन भावों का लोगों को ज्ञान था, एवं दर्शन, साहित्य और कला का आपस में रोचनात्मक सम्बन्ध था, उस युग के शिल्पियों ने देवगढ़ के दशावतार मन्दिर की रथिका में शेषशायी विष्णु के इस स्वरूप का अंकन किया[१] और उसी युग के महाकवि ने निम्नलिखित श्लोक में उसका साहित्यिक वर्णन किया—

नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान् पुरुषोऽधिशेते ॥[२]

---

[१] देवगढ़ के मन्दिर की दीवारों के बाहरी ओर तीन शिलापट्ट हैं। उत्तर की ओर गजेन्द्रमोक्ष, पूर्व की ओर शेषशायी विष्णु और दक्षिण की ओर बदरीवन में नर-नारायण की, तपश्चर्या अंकित है। संस्कृत में इन्हें 'रथिकायुक्त बिम्ब' कहा है।

[२] रघुवंश १३।६

भारतीय संस्कृति का जो साधना पक्ष है तप उसका प्राण है। तप का तात्पर्य है तत्त्व के साक्षात् दर्शन करने का सच्चा प्रयत्न। जो कही-सुनी बात हो उसका स्वयं अनुभव करना तप है। तप हमारी संस्कृति का मेरुदंड है। तप की शक्ति के बिना भारतीय संस्कृति में जो कुछ ज्ञान है वह फीका रह जाता है। तप से ही यहाँ का चिन्तन सशक्त और रसमय बना है।

तपःप्रधान जीवन का कलात्मक अंकन संस्कृति के अर्थों को प्रकाशित करने के लिये आवश्यक था। शिव, बुद्ध, तीर्थंकर, नर-नारायण, पार्वती, भगीरथ, अर्जुन आदि के जीवन में तप का ही सौन्दर्य है। लक्ष्य तक पहुँचने के लिये तप की साधना उनके स्वरूप का आकर्षण है। तप के उदात्त भाव को सफलता से अंकित करके भारतीय कला ने एक बड़े विस्तृत क्षेत्र को अपने अधिकार में कर लिया था।

मोहंजोदड़ो की योगस्थ मूर्ति इस भाव का सबसे प्राचीन अंकन है। इस एक मूर्ति से सिन्धु की सभ्यता को समझने में जितनी सहायता मिली है उतनी अन्य से नहीं। बुद्ध की तप-मूर्ति भारतीय संस्कृति के साथ साथ देश-विदेश में फैली और भारतीय धर्म की सबसे अधिक प्रभावशालिनी भाषा बनी। पद्मासन, ध्यान-मुद्रा, नासाग्र दृष्टि, ऊर्ध्व मेरुदंड इन अक्षरों के द्वारा निर्मित उसकी लिपि को कोरिया से सिंहल तक और जापान से बाह्लीक तक सर्वत्र लोगों ने समझा। तप की परिभाषा और अर्थ एक ही रहते हैं, चाहे वह बुद्ध के जीवन में हो या शिव के जीवन में। जहाँ तप का आरम्भ होता है वहाँ मतभेद समाप्त हो जाता है। अतएव ब्राह्मण, जैन-बौद्ध, आर्य धर्म के तीनों स्कन्धों ने तप के कलामय चित्रण की प्राप्ति से अपने आपको धन्य माना। कवियों ने साहित्य के द्वारा उसी अर्थ का समर्थन किया। कुमारसम्भव में शिव की समाधि और पार्वती की तपश्चर्या का जो वर्णन कालिदास ने किया है, वह उस युग की कला से अनुप्राणित है और कला के इष्ट अर्थों की व्याख्या करता है।

इस प्रकार, कमलों के वन में विराजमान देवी पद्मा-श्री, जिसे दिशाओं के अधिपति दिग्गज आवर्जित घटों से अभिषेक कराते हैं, सर्वभूतधात्री पृथिवी की मंगल-विधायिनी उर्वरा शक्ति का प्रतीक है। उसके कारण त्रिलोकी अवन्ध्य

होती है और जगती-तल पर जीवन का अविच्छिन्न प्रवाह चला करता है। पृथिवी के जलाशयों में पद्मवन फूलते हैं, उनकी श्री जब तक आकाश के मेघों से प्रतिवर्ष संयुक्त होती है तभी तक प्रजापति का चलाया हुआ चक्र सकुशल रहता है। इस विराट् यज्ञ-चक्र के गम्भीर भाव को व्यक्त करनेवाली पद्मा-श्री की कलात्मक वाणी को पाकर हमारा समाज संतुष्ट हुआ। साँची और भारहुत के तोरणों पर चिह्नों के द्वारा ही कला में जीवन के अर्थों को अभिव्यक्त करने का विधान किया गया था। उनमें पद्मा-श्री अथवा श्री-लक्ष्मी के अनेक चित्रणों का मंडन है। कला के ये अभिप्राय एक बार जन्म लेकर देश और काल में फूलते-फलते रहते हैं। इनके आयुष्मान् जीवन अथवा विकास का अध्ययन भारतीय कला के इतिहास का रोचक पक्ष है। ऐसे ही और भी अनेक परिभाषा-सूत्र भारतीय कला में हैं। कमल के पुष्प और पत्रों से लहलहाता हुआ पूर्ण घट जीवन के जल को धारण करने वाले मानवी शरीर का प्रतिरूपक ही है। जीवन-रूपी जल ही इस घट की शोभा है। जब तक उसमें जीवन या प्राण भरा रहता है तभी तक घट मांगलिक या पूज्य समझा जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राण की एक संज्ञा अर्क है, क्योंकि वही इस शरीर को अर्चनीय बनाता है। वस्तुतः मानव-शरीर-रूपी घट से अधिक मंगलात्मक इस विश्व में और कुछ नहीं है।

जीवन के स्वस्ति-भाव का द्योतक स्वस्तिक चिह्न है। यह विश्व स्वस्तिक का ही प्रकाश है। स्वस्तिक के विपर्यास या उलटने से विश्व का विघटन हो जाता है। वैदिक परिभाषा में देश और काल रूपी दो महान् यक्ष हैं। उनके बल इस विश्व में परस्पर टकराते हैं और अन्त में एक साथ मिलकर सृष्टि-प्रक्रिया के लिये परिभ्रमण करते हैं। जहाँ वे मिलते हैं वही स्वस्तिक का धारण-बिन्दु है। स्वस्तिक मानों हमारे ऋग्वेदीय ब्रह्म-विज्ञान का चिह्न है। स्वस्तिक का बिन्दु 'आभु' तत्त्व है जो अमूर्त ब्रह्म या सत् तत्त्व है। उसकी भुजाएँ 'अभ्व' या असत् हैं जो नाम-रूपात्मक हैं। इन्हीं की समष्टि की संज्ञा सदसत् है। सदसद्वाद ही वैदिक ब्रह्म-विज्ञान का उत्कृष्टतम रूप था।

प्राचीन त्रिक का प्रतीक त्रिरत्न बौद्ध और जैन दर्शनों में भी मान्य हुआ।

धर्म की अप्रतिहत शक्ति का सूचक धर्मचक्र था जो भारतीय कला में भेदभाव के बिना सर्वत्र पूज्य माना गया। ऋग्वेदीय विष्णु, जिसके त्रिविक्रम से यह सब परिच्छिन्न है, धर्मों का धारण करनेवाला कहा गया है—

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन्॥[1]

विष्णु जिन धर्मों की टेक है वे अखंड धर्म सर्वत्र व्यापक और सबके ऊपर हैं। वे सबके गोता और अनभिभवनीय हैं। इन धर्मों का चक्र कभी रुकता नहीं; ये सृष्टि की अडिग नींव हैं।

चक्र के उपमान द्वारा अनेक दार्शनिक भावों को वैदिक मनीषियों ने व्यक्त किया। धर्मचक्र के अक्षबिन्दु पर वह बल आश्रित है जो सृष्टि-प्रक्रिया में व्याप्त है। बुद्ध भगवान् ने भी अपनी समाधि में धर्म और कर्म के द्वन्द्व को मानव जीवन की पहेली का हल समझा और इन दो तत्त्वों को प्रकट करने के लिये धर्मचक्र का आश्रय लिया। चक्र का केन्द्र धर्म का बिन्दु है। उसकी परिधि कर्मों का जाल है।

इस प्रकार अनेक देवप्रतिमाओं और चिह्नों के द्वारा भारतीय कला ने अपनी परिभाषा का विकास किया। अनेक प्रकार के सौम्य और रौद्र भावों की अभिव्यक्ति के लिये शान्त और क्षुब्ध रूपों का आश्रय लिया गया। बुद्ध का जन्म, कृष्ण-यशोदा, त्रिशला-महावीर, शिव-पार्वती की—विवाह के अनन्तर—कल्याण भाव से सम्पन्न मूर्ति—ये सब रूप जीवन के सौम्य पक्ष की व्याख्या करते हैं। बाहरी भेद होते हुए भी इनका मौलिक भाव एक है। मनुष्य-समाज ने अपने पारिवारिक कल्याण की छाया को इन सुभग रूपों में देखने का प्रयत्न किया।

देवों का रुद्र रूप भी जीवन का कठोर सत्य है। अमृत के साथ मृत्यु भी मनुष्य के साथ संलग्न है। उसकी सत्ता को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिये अनेक प्रकार की संहार-मूर्तियों का निर्माण हुआ। गजासुर, त्रिपुरासुर,

---

[1] ऋ० १।२२।१८

अन्धकासुर, तारकासुर, महिषासुर इन असुरों का, और इनके अन्य एक सौ एक बन्धुओं का संहार सत्य की ही महती विजय को प्रख्यात करता है। कलाकार शिल्पी उसी अनुशासन को मानकर चले हैं और उन्होंने कल्पना को तरंगित करके विविध रौद्र रूपों की सृष्टि की है। जीवन के सत्य के साथ कला का मेल कराने के लिये उन्होंने सौम्य और कठोर दोनों ही भावों को अपनाना ठीक समझा। अविद्या और अन्धकार की सृष्टि तथा विद्या की सृष्टि, दोनों को ही प्रजापति से निर्मित माना गया है।

४. अलंकरण

भारतीय कला में सौन्दर्य-विधान के लिये अनेक अलंकरणों का प्रयाग हुआ है। देवों के मूर्त रूप कला के शरीर हैं, तो भाँति भाँति के अभिप्राय-अलंकरण उस शरीर के बाह्य मंडन हैं। इस सजावट के बिना कला सम्भ्रान्त नहीं बनती। पत्र और पुष्प के संभारों से कला का शरीर श्रीसम्पन्न बनाना आवश्यक है। लताओं और वृक्ष-वनस्पतियों ने कला के स्वरूप को अनेक प्रकार से सँवारने में सहायता दी है। पत्रलता या पत्रावली[1] के अनबन भाँति के कटावों ने गुप्त कला को शोभा प्रदान की। दिगम्बर शिलापट्टों को परिधान पहनाने के लिये कलाकार के पास पत्रलताओं का अचूक साधन था जिसका उपयोग उसने अनेक प्रकार से किया है। अशोक-वृक्षों पर पड़े हुए झूले या उनके नीचे अशोक-दोहद के दृश्य वनस्पति-जगत् के साथ मानवी परिचय और सौहार्द भाव के उदाहरण हैं। जीवन में जैसा प्रकृति का सान्निध्य था उसी की छाया कला में पाई जाती है। आम, बरगद, खजूर, कदली, कदम्ब, अशोक, पीपल, उदुम्बर के महावृक्ष जिस प्रकार प्रकृति में हमारे जीवन के साथ घुले-मिले हैं वैसे ही कला में भी उन्होंने प्रवेश पाया। पुष्पों और वृक्षों के साथ शालभंजिका आदि अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ प्राचीन नारी-जीवन का अभिराम विनोद था। फुल्ल

---

[1] **पत्रावली, पत्रलता, पत्रांगुलि, पल्लवभंगरचना आदि शब्द गुप्त-काल की परिभाषा में पत्रों की कटावदार बेलों के लिये प्रयुक्त हुए हैं, (अँग्रेजी, 'फोलिएटेड स्क्रोल')।**

शाल-वृक्ष को देखकर कौन उसका सख्य प्राप्त करना न चाहेगा ? भारतीय आकाश के नीचे बसनेवाले मनुष्यों ने तरगित हृदय से वृक्ष और लताओं के साथ अपना परिचय बढ़ाया। पाणिनि ने 'प्राचां क्रीडायाम्' सूत्र में प्रकृति के उत्संग में मनाए जानेवाले इन्हीं विनोदों का उल्लेख किया है। इन क्रीड़ाओं का उल्लेख वात्स्यायन के काम-सूत्र में भी हुआ है। कला में इन क्रीड़ाओं का सुन्दर चित्रण जब हमें मिलता है तब हम जीवन और कला को एक दूसरे के साथ तन्मय देखते हैं। भगवान् बुद्ध के जन्म के समय उनकी माता मायादेवी वसन्त की मंजरी से बौरे हुए आम की शाखा झुकाए हुए जिस मुद्रा में खड़ी थीं वह मुद्रा भारतीय साहित्य में 'शालभंजिका' नाम से प्रख्यात हुई। हिमालय की कुसुमित वनराजियों में फूलों से लदे हुए शाल-वृक्षों के नीचे उन क्रीड़ाओं का अध्याय शुरू हुआ था जब कि सम्भ्रान्त और स्वस्थ नर-नारी फुल्ल शाल-वृक्षों के वार्षिक पुष्पमंगल से परिचित होने के लिये हिमालय के प्रदेशों की यात्रा करते थे। सुयामुन पर्वत की पुत्री यमुना के पितृगृह से गौरीशंकर शिखर की दुहिता अरुणा और ताम्रा नदियों की द्रोणी तक के भूप्रदेश की भौगोलिक विजय और नाम-करण उसी युग के स्मारक हैं जिस युग में फुल्ल शाल-वृक्षों का वार्षिक निमंत्रण स्वीकार करके शालभंजिका क्रीड़ा के लोभी हम वहाँ पहुँचते थे। शालभंजिका, अशोकपुष्पप्रचायिका, उद्दालकपुष्पभंजिका, वीरणपुष्पप्रचायिका, अशोकोत्तंसिका तालभंजिका, सहकारभंजिका, दमनभंजिका, बिसखादिका, अभ्यूषखादिका, इक्षु-भंजिका, उदकक्ष्वेडिका आदि अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ उस समय प्रचलित थीं जिनको कलाकारों ने यथासम्भव अपने अलंकरणों में स्वीकार किया। जातकों में इन्हें 'उय्यानकीडा' और संस्कृतसाहित्य में 'उद्यान-सलिल-क्रीडा' कहा गया है। प्रबन्धकाव्य की परिभाषा में दंडी ने 'उद्यान-सलिल-क्रीडाओं' का सविशेष वर्णन भी काव्य का आवश्यक अंग कहा है। उद्यानों में पुष्पोच्चयन, पद्मिनी के वनों में उदकताड़न और लतागृहों में गात्र-मंडन आदि के अनेक वर्णन संस्कृत काव्यों में उपलब्ध होते हैं।[1] कला की सामग्री से साहित्य का और साहित्य के आधार

---

[1]. विशेष देखिए, मत्स्यपुराण, अध्याय, १२०

से कला की सामग्री का अध्ययन ही कला और साहित्य दोनों के लिये परस्परोपयोगी हो सकता है।

हमारे नीलाम्बर की गोद जिन दिव्य पक्षियों से भरी हुई है और महा-कान्तारों में निर्द्वन्द्व विचरते हुए जो पशु वनस्थली की शोभा बढ़ाते हैं, उनका भी कला में स्वागत किया गया। जिन पद्मसरों में कारिणियों के साथ करि-यूथप-क्रीडा नहीं करते उनको कलाकार कुंठित भाव से देखते हैं। शुक्र-सारिकाओं की क्रीड़ा और भवन-मयूरों का नर्तन, साहित्य और कला दोनों में समान भाव से अपनाया गया। प्रकृति से विरहित होकर प्राचीन भारतीय कला मानों जीवन के लिये छटपटाने लगती है। मनुष्य के आवाहान से जब कला नगरों में प्रवेश करती है तब भी वह अपनी प्राणरक्षा के लिये प्रकृति को साथ लेकर आती है। साँची, मथुरा और अजन्ता में शुंग, कुषाण और गुप्त युगों की भारतीय कला प्रकृति को साथ लेकर ही जीवित रही और मनुष्य को जीवन का संदेश देती रही।

५. कला में लोक-संपुंजन

भारतीय कला के उदार चित्रपट पर लोक के सर्वांगीण जीवन का प्रति-बिम्ब पड़ा है। बाणभट्ट के शब्दों में हम अपनी कला की इस विशेषता को 'त्रिलोकी-संपुंजन' कह सकते हैं। हमारी कला जीवन का समग्र चित्र प्रस्तुत करती है। कादम्बरी में जो उस समय की चित्र-भित्तियों को 'दर्शितविश्वरूपा' कहा गया है वह यथार्थ ही है।[1] उन भित्तिचित्रों के रूप-वैभव का उससे अच्छा वर्णन नहीं किया जा सकता। लोक का सम्पूर्ण परिचय भारतीय कला को समझने की कुंजी है। अथवा यों कहा जा सकता है कि कला की सहायता से हम लोक के विश्वरूपी जीवन को समझने का साधन प्राप्त करते हैं।

लोक के महान् नायक कला के प्रधान पुरुष होते हैं। तप और समाधि के द्वारा मनुष्य देवों से बराबरी की टक्कर लेते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि देवत्व

---

[1] **'दर्शितविश्वरूपेव चित्रभित्तिभिः' (उज्जयिनीवर्णन में)।**

प्राप्ति मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। प्राचीन यज्ञ-विधि का आरम्भ करते हुए यह प्रतिज्ञा की जाती थी—

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि। सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्याः।

'अब मैं अनृत से सत्य-भाव को प्राप्त होता हूँ, क्योंकि सत्य देवों का रूप है, अनृत मनुष्यों का।' कला भी देवों की श्रेष्ठता का प्रदर्शन करती हुई मानवी आदर्श को बार बार नव चैतन्य प्रदान करती है। देवता भी मनुष्यों के समान संगीत-नृत्य में रुचि रखते हैं, उनके जीवन की गति-विधि में संगीत और नृत्य से रस ग्रहण के लिये उतना ही स्थान है जितना मनुष्यों के जीवन में।

देवों के जीवन में देवियों को बराबरी का भाग मिला है। नारी की कमनीय मूर्ति के बिना कला ही नहीं, विश्व का समस्त विधान अविकसित रहता है। नारी का लावण्य कला का ललाम भाव है। वह रस बनकर कला में ओतप्रोत हुआ है और अपने अस्तित्व से कला को दर्शनीय बनाता है। स्त्री-चित्रण के बिना कला केवल दर्शन की अनुगामिनी बनकर रह जाती। भारतीय कला में जितने देव हैं उतनी ही बहुसंख्य देवियाँ हैं। देवताओं के साथ उनके अनेक पार्श्वचर-वाहन-आयुध-पुरुष आदि परिग्रह को भी कला में स्थान प्राप्त हुआ, जैसा कि उज्जयिनी के वर्णन में बाणभट्ट ने लिखा है।[1] यक्ष, नाग, किन्नर, सुपर्ण, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, अप्सरा आदि अनेक देवयोनियों की कल्पना कला की रूप-समृद्धि के लिये आवश्यक थी। ज्ञान अथवा कर्म के क्षेत्र में जो चक्रवर्ती पद के धरातल तक ऊँचा उठ चुके हैं, उन महात्मा या राजाओं का अंकन कला का अत्यन्त प्रिय विषय है। महापुरुषों के जीवन का चित्रण भारतीय कला का अपना स्वरूप ही है। उसकी इस विशेषता की छाप संसार की अन्य कला-शैलियों पर भी पड़ी है। भगवान् बुद्ध-जैसे लोकोत्तर महापुरुषों को भारतीय कला ने अपने मध्यबिन्दु पर स्थापित करके स्वयं अपने लिये भी सर्वमान्य और स्थायी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। महापुरुष केन्द्र में स्थित होकर कला को जीवन के महान् उद्देश्य के साथ मिलाए रखता है। वह अपनी उपस्थिति से कला की

[1] **सुरासुरगन्धर्वविद्याधराध्यासिताभिः चित्रशालाभिः।**

भाषा में ऊँची अर्थवत्ता का संचार करता है। महापुरुष का जीवन सत् और असत् के द्वन्द्व की मानवोपयोगी व्याख्या है जिसे जो चाहे स्पष्ट देख सकता है।

भारतीय समाजशास्त्र की परिभाषा में लोकोत्तर पुरुष के अतिरिक्त राजा का व्यक्तित्व भी देवत्व के अंश से युक्त माना गया है। राजकीय वैभव को पाने से कला में चमत्कार उत्पन्न होता है। चक्रवर्ती के जिस ऐश्वर्य की कल्पना जग्गय्यपेट के शिल्पी ने चक्रवर्ती के चित्रण में की है वह सब संभार कला के रूप को बढ़ाता है। राज्य-सिंहासन, राजलक्ष्मी के चिह्न छत्र और चामर, चतुरंग बलकाय के साथ राजा की उत्सव-यात्रा, संगीत और नृत्य से अलंकृत राजकीय प्रासादों के आस्थान-मंडप, ये सब भारतीय कला में चित्रण के प्रिय विषय हैं। राजाओं के अंतःपुर और राजकुलों में परिचर्या करनेवाले अनेक पार्श्वचर, अनुचर और प्रतीहारी भी अंकित मिलते हैं। काव्यों में वामन, कुब्ज किरात, षण्ढ, वर्षवर आदि नामों से अन्तःपुर के विविध कर्मकर जनों का वर्णन मिलता है। सभ्यता के निर्माण में परिचारक और परिचारिकाओं का भी भाग रहता है। पाणिनि, जातक और अर्थशास्त्र में स्नापक, उत्सादक, संवाहक, छत्रधार, शृंगारधार, मणिपाली आदि अनेक भृत्यों के नाम पाए जाते हैं। उत्तरकालीन साहित्य, विशेषतः नाटक और कादंबरी-सदृश कथा-ग्रंथों, में यह सामग्री और भी अधिक है। इस संबंध में कला और साहित्य का सम्मिलित अध्ययन रोचक हो सकता है।

राजकीय वर्ग के अतिरिक्त जो साधारण प्राकृत जन थे उनका भी विविध कथा-प्रसंगों के अनुरोध से भारतीय कला में पर्याप्त चित्रण पाया जाता है। अपने बैल और छकड़ों पर बहुमूल्य भांड लादकर सुदीर्घ व्यापार-मार्गों की यात्रा करनेवाले सार्थवाह, व्यापारी, सामुद्रिक पोतों पर द्वीपांतर की यात्रा करनेवाले साहसी नाविक और यात्री, पुत्र, पौत्र और समृद्ध परिवार के साथ देवार्चन में निरत गृहस्थ-जन और उनकी पुरंध्री स्त्रियाँ, नृत्य और संगीत में मग्न पौर जानपद जन इनका बहुत प्रकार से कला में अंकन प्राप्त होता है। उससे भारतीय सामाजिक इतिहास की मूल्यवान् सामग्री मिलती है।

लोक-संपुंजन में मानों समग्रता का भाव भरने के लिये मनुष्य के साथ

प्राकृतिक जगत् के वृक्षवनस्पति, पुष्प-लता एवं अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों को भी कला में स्वच्छंद स्थान मिला है। कलाकार की दृष्टि मनुष्य को अन्य प्राणि-जगत् के साथ अंतरंग संबंध में ही बँधा हुआ देखती है। पत्र और पुष्पों से तो भारतीय कला के अनेक अलंकरण और अभिप्रायों की सृष्टि हुई है। अकेले कमल के ही अनंत प्रकार देखे जाते हैं। श्रीयुत स्मिथ के कथनानुसार पत्र और पुष्प के बहुविधि चित्रण में जो सफलता भारतीय कलाकार को मिली है, वह संसार की और किसी कला-शैली में नहीं पाई जाती। कल्पसूत्र के एक वाक्य में पशु और वनस्पति-जगत् के इस चित्रण का सुंदर वर्णन किया गया है जहाँ राज-प्रासाद के एक बहुमूल्य परदे पर तरह तरह की भक्ति (अभिप्राय या डिज़ाइन के लिये संस्कृत शब्द) जैसे ईहामृग, वृषभ, तुरग-नर, मकर, विहंग, व्याल, किन्नर, रुरु, मृग, शरभ, चमर, कुंजर, वनलता, पद्मलताओं के चित्रण का उल्लेख है।

भारतीय कला की उपकरण-सामग्री में नाना प्रकार के आभूषण और नेपथ्य का भी प्रमुख स्थान है। इस सामग्री के द्वारा लोक की संस्कृति वास्तविक रूप से कला में प्रतिबिंबित हुई है। बंदनवार की तरह संतानमालाओं से सज्जित मुकुट, मकर-मुखों से निर्मित मकरिका-आभूषण, कंठ में स्थूल मुक्ता-कलाप से निर्मित एकावली माला जिसके मध्य में इंद्रनील होता था, कानों में ताटंक चक्र अथवा नागेंद्र भाँति के मुक्ताफल-जटित कुंडल, कंधे पर उपवीती ढंग से रक्खा हुआ विरली-संज्ञक उत्तरीय, मेखला-स्थान में बँधा हुआ नेत्र-सूत्र — यह गुप्त-कालीन लोक-संस्कृति का परिचयाक नेपथ्य था, जो उस काल की कला में सुव्यक्त उपलब्ध होता है। इसी प्रकार प्रत्येक युग की कला अपनी व्यक्त विशेषताएँ रखती हैं। साँची की कला में प्राकारवप्र कुण्डल जो सामने देखने में चौकोर, ठोस और भारी हैं, तत्कालीन स्त्री और पुरुषों के कानों में दिखाई देते हैं। कुषाण-कला में पान के पत्ते की आकृतिवाले मुकुट और भुजाओं में पहने हुए नाचते हुए मोर की आकृति से अलंकृत मायूर केयूर उस युग की विशेष ताएँ हैं। कला के स्वांगीण निरूपण के लिये विविध दृष्टिकोणों से इस संपूर्ण सामग्री का भली प्रकार अध्ययन होना आवश्यक है।

६. कला और साहित्य

भारतवर्ष में साहित्य ने कला के रूप को समृद्ध किया है, और कला ने साहित्य की व्याख्या की है। इनका पारस्परिक संबंध हमारी संस्कृति का एक अत्यंत विशिष्ट और रमणीय पक्ष है। इस पक्ष के उत्तरोत्तर उद्घाटन और व्याख्यान से हमें कला और साहित्य दोनों को परखने की नई एवं समग्र आँख प्राप्त होगी और दोनों में रस-प्रतीति का एक नया मार्ग उपलब्ध होगा। साहित्य में जो विषय पारिभाषिक शब्दों से उल्लिखित होने पर भी पूरी तरह स्पष्ट नहीं है वह कला के मूर्त उदाहरण से स्पष्ट प्रतीत होगा। कला के उदाहरण में जो अर्थ मूक रूप से उपस्थित है, वह साहित्य की भाषा और शब्दावली से सजीव होकर अपना परिचय देगा। जिस प्रसंग में कला और साहित्य इस प्रकार मिल जाते हैं, वहाँ का रसानुभव कैसा विचित्र होता है, इसे केवल अनुभव या दृष्टांत से जाना जा सकता है। कादंबरी के राजकुल-वर्णन-प्रसंग में शुकनास-जन्म के समय अंतःपुर के विनोदों का वर्णन करते हुए लिखा है कि बूढ़े कंचुकियों के गले में पड़े हुये उत्तरीय को पकड़कर उनको खींचती हुई स्त्रियाँ मनोविनोद करती थीं [1]। मथुरा से प्राप्त कुषाणकालीन एक स्तंभ पर राजकुल के प्रसाधनमंडन-मधुपान-नृत्य-संगीत-प्रधान जीवन के चित्रण से उकेरे हुए[2] एक स्तंभफलक पर ऊपर कहे हुए उत्तरीयाकर्षण विनोद का भी चित्रण पाया जाता है। यमुना की तलहटी से मिले हुए एक अन्य पार्थिव-फलक पर, जो गुप्तकालीन

---

[1] उत्तरीयांशुकग्रीवाबद्धावकृष्टविडंबितजरत्कंचुकीकदंबकेन अंतःपुरिकाजनेन।

[2] उकेरना (धातु) और उकेरी (संज्ञा) दोनों शब्द संस्कृत 'उत्कीर्ण' से हैं, जो जौंसार बाबर के लाखामंडल गाँव में मुझे अभी तक जीवित अवस्था में प्राप्त हुए। इस प्रदेश में कला से संबंधित अनेक और भी प्राचीन शब्द जीवित हैं और साथ ही प्राचीन अलंकरण के, जिसे वहाँ सज कहते हैं, बहुत से प्रकार लकड़ी की नक्काशी में अभी तक पाए जाते हैं। पहाड़ के सुदूर अभ्यंतर होने से यह कला अभी तक जीवित है।

माथुर-शिल्प का एक बहुत उत्कृष्ट उदाहरण है, इस दृश्य का अपूर्व सुंदर अंकन उपलब्ध हुआ है। कला और साहित्य के इस प्रकार एक दूसरे से उपकृत होने पर तत्कालीन संस्कृति का रूप खड़ा हो जाता है।

यह कहना अत्युक्ति न होगी कि भारतीय कला एक प्रकार से साहित्य की ही मार्मिक व्याख्या है। यदि हम कथावस्तु, मनोभाव-चित्रण, नाट्य और अभिनय के करण और मुद्राएँ, आभूषण और वस्त्र, उपकरण और अलंकरण इनके विषय और पारिभाषिक शब्दों का संग्रह करने के लिये कला की दृष्टि से प्राचीन वाङ्मय का मंथन करें तो हमें बहुत-सी विलक्षण सामग्री प्राप्त हो सकती है। इस सामग्री की सहायता से जब हम कला को समझने का प्रयत्न करेंगे तो कला में एक नई अर्थवत्ता और रस की उपलब्धि होगी। कला की आँख से साहित्य और साहित्य की आँख से कला को देखना हमारे वर्तमान सांस्कृतिक युग की एक बड़ी आवश्यकता है। महाभारत और रामायण, कालिदास और बाणभट्ट, तिलकमंजरी और यशस्तिलक चंपू—इस साहित्य में कला की प्रभूत सामग्री विद्यमान है। यतः कला के प्रति स्वागत और सौहार्द का भाव भारतीय साहित्य की प्राचीन विशेषता थी अतः प्रायः संस्कृत-साहित्य के सभी लेखकों ने जान-बूझकर अपने वर्णनों को कला और संस्कृति के पारिभाषिक शब्दों से विभूषित किया है। उनकी शब्दावली बड़ी समृद्ध है। भिन्न भिन्न प्रकार की स्त्री-मूर्तियों और गुड़ियों के लिये कितने ही पारिभाषिक शब्द पाए जाते है। शालभंजिका शब्द प्राचीन काल से ही मिलता है। अश्वघोष और बाणभट्ट दोनों ने इसका सुंदर प्रयोग किया है। इसीको कुछ लेखकों ने 'स्तंभप्रतिमा' और कालिदास ने स्तंभों की 'योषित्प्रतियातना'[1] कहा है। मिट्टी की बनी हुई स्त्री-मूर्तियों के लिये हर्षचरित में 'अंजलि-कारिका' कहा है, जिसका अर्थ शंकर ने मृण्मय प्रतिमा किया है। कादंबरी में मिट्टी के इन खिलौने को 'मृदंग' (मृत्+अंग) भी कहा गया है, जिसका अर्थ टीकाओं में मृत्पुत्रिका किया है। इसके अतिरिक्त कनकपुत्रिका, पत्रभंगपुत्रिका

[1] रघु०, १६।१७

(हर्षचरित), कर्पूरपुत्रिका (कादंबरी), चंदनपंक-प्रतियातना, यंत्र-पुत्रिका, मणिपुत्रिका, चित्रपुत्रिका, चित्रपटपुत्रिका (तिलकमंजरी), लेख्यपुत्रिका (उदयसुंदरीकथा), क्रीड़ापुत्रिका (उदय०), पांचालिका, दंतपांचालिका (हाथीदाँत की गुड़िया, मालतीमाधव), दुहितृका (तिलकमंजरी), बाउल्लिआ (देशीनाममाला)—जिससे हिंदी 'बौली' निकला है—आदि शब्द थे जो सूचित करते हैं कि कला की शब्दावली कैसी भरी-पुरी थी, और साहित्य में किस प्रकार स्वाभाविक रीति से उसका व्यवहार हुआ है। किसी भी प्रकार की स्त्री-मूर्ति या पुतली के लिये पुत्रिका शब्द रूढ़ हो गया था, यहाँ तक कि कान के पास बालों के पुतलीदार कटाव के लिये कर्णपुत्रिका शब्द प्रयुक्त हुआ, जिससे कनौती निकला है।

हिंदी के साथ भी ललित कलाओं का संबंध पर्याप्त घनिष्ठ रहा है, कारण कि रीति-युग की एक विशेष परिपाटी के अनुसार साहित्य की अभिव्यक्ति के साधन नायक-नायिक एवं राग-रागिनियों को चित्रात्मक रूप देने का प्रयत्न भारतीय चित्रकला में किया गया। हमारे प्रतिभाशाली कवियों ने लोक की रहन-सहन, वेष-भूषा, आभूषण-परिच्छद, संगीत-वाद्य, अस्त्र-शस्त्र आदि उपकरणों का अपने ग्रंथों में यथास्थान बड़े सुंदर ढंग से संनिवेश किया है। साहित्य में इस सामग्री का वर्णन और कला में इसी का चित्रण देखा जाता है। कला के स्वरूप को सांगोपांग जानने के लिये साहित्य से इन भावों और शब्दों का दोहन हिंदी-साहित्य का अत्यंत आवश्यक कार्य है। कला के मार्मिक ज्ञान के बिना साहित्यिक अध्ययन अधूरा और साहित्य की सूक्ष्म जानकारी के बिना कला की समीक्षा संकुचित रह जाती है, क्योंकि कला और साहित्य का समान भाव से योजक रस तत्व एक ही है। जिस लोक-जीवन की उमंग ने साहित्य और कला को एक साथ ही जन्म दिया, उसके समग्र रूप का परिचय साहित्य और कला के साथ साथ अध्ययन पर ही निर्भर है। कला और साहित्य के इस घनिष्ठ संबंध के निदर्शन में यहाँ हिंदी के दो प्रमुख कवियों के उदाहरण दिए जाते हैं, जो सोलहवीं शताब्दी की समकालीन स्थापत्य कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। जायसी ने सिंहल-द्वीप में गढ़-वर्णन करते हुए लिखा है—

पौरिहि पौरि सिंह गढ़ि काढ़े। डरपहि लोग देख तहँ ठाढ़े॥
बहु बिधान वै नाहर गढ़े। जनु गाजहिं चाहहि सिर चढ़े॥
टारहिं पूँछ पसारहिं जीहा। कुंजर डरहिं कि गुंजरि लीहा॥
कनकसिला गढ़ि सीढ़ी लाई। जगमगाहिं गढ़ ऊपर ताई॥

नवौ खंड नव पौरी, औ तहँ बज्र केवार।
चारि बसेरे सौं चढ़े, सत सौं उतरै पार॥१७॥[1]

इसके कुछ पारिभाषिक शब्द इस प्रकार हैं—पौरी (डोर वे); नाहर या सिंह; गढ़ि काढ़े (कार्व्ड इन रिलीफ़); पसारहिं जीहा (विद प्रोट्रूडिंग टंग्स); बहु विधान (वेरियस डिज़ाइंस); गढ़ना (कार्विंग); खंड (स्टोरी)। जीभ पसारे हुए नाहर हमारी कला का एक पुराना अभिप्राय (मोटिफ) था।

इसी प्रकार रामचरितमानस में धनुष-यज्ञ के बाद विवाह की तैयारी के समय जनकपुर में वितान-निर्माण का वर्णन समकालीन वास्तु-कला की पारिभाषिक शब्दावली द्वारा प्रस्तुत किया गया है—

बहुरि महाजन सकल बोलाए। आइ सबन्हि सादर सिरु नाए॥
हाट बाट मंदिर सुरबासा। नगर सँवारहु चारिहु पासा॥
हरषि चले निज-निज गृह आए। पुनि परिचारक बोलि पठाए॥
रचहु बिचित्र बितान बनाई। सिर धरि बचन चले सचुपाई॥
पठए बोलि गुनी तिन्ह नाना। जे बितान बिधि कुसल सुजाना॥
बिधिहि बंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा। बिरचे कनक-कदलि के खंभा॥

हरित मनिन्ह के पत्र फल, पदुमराग के फूल।
रचना पेखि बिचित्र अति, मन बिरंचि कर भूल॥२८७॥

बेनु हरित-मनि-मय सब कीन्हें। सरल सपरब परहिं नहिं चीन्हें॥
कनक-कलित अहि-बेलि बनाई। लखि नहिं परै सपरन सुहाई॥
तेहि के रचि पचि बंध बनाए। बिच बिच मुकुता-दाम सुहाए॥

---

[1] पदमावत, सिंहलद्वीप-वर्णन-खण्ड।

मानिक मरकत कुलिस पिरोजा । चीरि कोरि पचि रचे सरोजा ॥
किए भृंग बहु रंग बिरंगा । गुंजहिं कूजहिं पवन-प्रसंगा ॥
सुर प्रतिमा खंभन्हि गढ़ि काढ़ी । मंगल द्रव्य लिए सब ठाढ़ी ॥
चौकैं भाँति अनेक पुराईं । सिंधुर-मनि-मय सहज सुहाईं ॥

सौरभ पल्लव सुभग सुठि, किए नील मनि कोरि ।
हेम बौरु मरकत घवरि, लसति पाटमय डोरि ॥२२८॥[1]

हीरा, पन्ना, लाल, पिरोजा आदि रत्नों की पच्चीकारी के द्वारा बेलों के भाँति भाँति के बंधों का निर्माण तुलसीदास की समकालीन वास्तुकला की एक विशेषता थी। कवि ने उसका एक सुंदर रूप हमारे सामने खड़ा किया है। **चीरि, कोरि, पचि**—ये शब्द उत्कीर्ण करने की विविध शैलियों को सूचित करते हैं। पच्चीकारी का काम तो उस युग में सर्वत्र होने लगा था। खंभो पर देव-प्रतिमाओं का गढ़कर काढ़ना[2] (कार्विंग इन रिलीफ) प्राचीन भारतीय शिल्प की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पत्तेदार अहिबेल या नागबेल भी प्रायः तत्कालीन खंभों और फलकों पर पाई जाती है। चौक शब्द पत्थरों की रचना में भाँति भाँति की आकृतियों के लिये प्रयुक्त हुआ है। दक्षिणी घरों में रंगोली (रंगवल्ली) बनाने में जो आकृतियाँ या चित्र बनाए जाते हैं, उन्हीं के लिये उत्तर में चौक पूरना शब्द व्यवहृत होता है।

७. कला और वर्तमान लोक-जीवन

जिस प्रकार साहित्य, धर्म और विज्ञान का लोक के व्यापक जीवन में प्रवेश आवश्यक है, उसी प्रकार जीवन के संस्कार और समाज की स्थिति के लिये कला की अनिवार्य आवश्यकता है। यदि कला कुछ सौंदर्य-प्रेमियों के विलास या कुतूहल-तृप्ति का साधन-मात्र है, तो लोक की बड़ी हानि समझनी

---

[1]**मानस, बालकाण्ड ।**

[2]**अँगरेजी के रिलीफ़ कार्विंग के लिये 'कढ़ी हुई उकेरी', 'कढ़ी हुई प्रतिमा' हिन्दी के उपयुक्त शब्द हैं ।**

चाहिए। वस्तुतः कला जीवन के सूक्ष्म और सुन्दर पट का वितान है, जिसके आश्रय में समग्र लोक अपनी उत्सवानुगामी और संस्कारक प्रवृत्तियों को तृप्त करता हुआ उच्च मन की शांति और समन्वय का अनुभव कर सकता है। मनुष्य अपने अंतिम कल्याण के लिये यह चाहता है कि जितना स्थूल-जड़ जगत् उसके चारों ओर घिरा हुआ है, उसको सुन्दर रूप में वह ढाल ले। स्थूल के ऊपर जो मानस और आध्यात्म जगत् है, उसको चरित्र और ज्ञान के द्वारा हम आकर्षक और सौंदर्ययुक्त बनाते हैं। इस द्विविध सौंदर्य के बीच में ही जीवन पूरी तरह से रहने योग्य बनता है। जिस समय जीवन के चरित्र और मनोभाव हमारे चारों ओर विकसित होकर अपनी लहरियों से वातावरण को भर देते हैं, और उनकी तरंगे हमारे अंतर्जगत् को आह्लादित और प्रेरित करती हैं, उस समय यह अत्यंत आवश्यक हो जाता है कि स्थूल पार्थिव वस्तुओं के जो अनगढ़ रूप हमें घेरे हुए हैं, वे भी कला के प्रभाव से द्रवित हो जायँ और उनमें से रूप-सौंदर्य और श्री के सोते फूट निकलें। कला का प्रत्येक उदाहरण जगमगाते दीपक की तरह अपने चारों ओर प्रकाश की किरणें भेजता रहता है। वह वायु में निरंतर सूक्ष्म तरंगें उत्पन्न करके मनुष्य के मन को स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रेरित करता है। समाज जिस प्रकार की मानस-संस्कृति को अपने चरित्र, बल और व्रतों की साधना से अपने लिये बनाता है, उसी के अनुरूप कला का निर्माण करना भी समाज-स्थिति के लिये आवश्यक है। गुप्त-काल के संभ्रांत नागरिकों ने 'अनुत्तर-ज्ञानावाप्ति' या अनुत्तरा बोधि का आदर्श अपने सामने रक्खा और प्रशांत आर्य जीवन की प्राप्ति के लिये सांसारिक वैभव का उपयोग उन्होंने अपना कर्तव्य समझा। सप्त समुद्रों की यात्रा से स्वर्ण का संचय करनेवाले अर्थपति गृहस्थ उस धन से धर्म और कला का संवर्धन करते थे। उसी के अनुरूप उनकी कला भी सुंदरतम श्री और रूप को संयत भाव से प्रकट करने के लिये विकसित हुई।

कला और जीवन का सम्बन्ध केवल कहने की बात नहीं है, बल्कि मनुष्य कला के द्वारा अपने जीवन के ध्येय को साक्षात् देखने के लिये सच्चा और सशक्त प्रयत्न करता है। जब इस प्रकार का प्रयत्न पूरे समाज को छा

लेता है तभी मानों संस्कृति के पूरे विकास का चक्र पूरा होता है। स्थूल जगत् को विकसित मनोभाव और आदर्शों के अनुसार सुंदर रूप में परिणत कर लेना ही कला है, जिसका संबंध जीवन के हर एक अंग से है। मनुष्य का शरीर, उसके वस्त्र, केश-विन्यास, उसका शयनासन, घर के पात्र तथा अन्य सब वस्तुएँ, जिनका उसके दैनिक जीवन से सम्बन्ध है, मनुष्य के विकसित मन के संस्कार से प्रभावित होने की अपेक्षा रखती हैं। जब तक यह प्रभाव सच्चे रूप में प्रकट नहीं हो लेता, मनुष्य के मन का द्वंद्व जीवन की समस्या की तरह बना रहता है और मन को संतुलन नहीं मिलता। यदि वर्तमान लोक-जीवन अपने विकास और स्वाभाविक मार्ग को प्राप्त करना चाहता है, तो उसे अवश्य ही कला के प्रति अपने व्यवहार को शिथिल कौतुक का विषय न रखकर उसे जीवन के सत्य के रूप में बदलना पड़ेगा। यदि हम विज्ञान और साहित्य, धर्म और दर्शन के विकास को मानव-मन की उन्नति के लिये आवश्यक समझते हैं और उसके लिये लोक में अनेक प्रकार के प्रयत्न करते हैं, तो हमें कला के लिये भी—जो नृत्य, गीत, वाद्य, चित्र-शिल्प आदि के द्वारा जीवन की कर्मात्मक प्रवृत्ति को प्रकाश में लाती है—अवश्य विचारपूर्वक प्रयत्न और आयोजन करने चाहिएं। ज्यों ज्यों लोक में कला का क्षेत्र विस्तृत होगा और कला के द्वारा रस-ग्रहण करने का मानस-चैतन्य हममें प्रबुद्ध होगा, त्यों त्यों हमारे मन में उन सूक्ष्म नियमों को ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त होगी, जिनसे जीवन एक सामान्य घटना न रहकर सर्जनात्मक शक्ति के नए वेग से संचालित होने लगता है।

नवीन भारतवर्ष में कला की भावना और उसके रस की अभिज्ञता का प्रचार आवश्यक धर्म है। राष्ट्रीय अभ्युत्थान की दृष्टि से भी कला की उन्नति आवश्यक है। उत्थान और विक्रम के मानसिक परमाणु ही कलात्मक वस्तुओं का रूप ग्रहण करके हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। महामल्लपुरम् के जिस शिल्पी ने गंगावतरण के लिये तपश्चर्या करते हुए भगीरथ की मूर्ति उत्कीर्ण की, उसने अपने युग की अनेक प्रेरणाओं को उस अवतरण के द्वारा प्रकट किया। भगीरथ का दृढ़ और उन्नत मेरुदंड, उस काल में ज्ञान और संस्कृति

की गंगा के प्रवाह को सँभालने की जो लोक-शक्ति थी, उसका परिचय देता है। सौभाग्य से हमारी जनता का मन कला के प्रति अभी शुद्ध बना हुआ है। यद्यपि उसके संस्कार प्रसुप्त हैं, पर उनमें किसी प्रकार का विकार या रस के अनुभव करने की शक्ति का ह्रास नहीं देखा जाता। जिस समाज के मानस में रस ग्रहण करने के तंतु जितने बलिष्ठ होते हैं, उसका जीवन भी उतना ही चिरस्थायी होता है। अपनी रस-ग्रहण-शक्ति के द्वारा हम मानों स्वयं मृत्यु के ठंडे संस्पर्श को चुनौती देते हैं। हमारे समाज में रस की अनुभूति के तंतु और स्रोत सहस्रों की संख्या में विकसित हुए, और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में फैले। जिस प्रकार सूर्य अपनी अगणित किरणों से सहस्रांशु कहलाता है, उसी प्रकार कला के द्वारा रस ग्रहण करने के लिये हमारे राष्ट्र का मन भूतकाल में सहस्र रश्मियों से विकसित हुआ। ठोस पहाड़ी चट्टानों को लोहे की निर्जीव टाँकियों से काटते हुए और जड़ पहाड़ी चील-बटों से भिन्न वर्णों के रंग तैयार करके इस देश के कुशल चित्रकार और शिल्पियों ने अपनी प्रतिभा और ध्यान की शक्ति से अजंता की महती चित्रशाला के रूप में रस ग्रहण करने का एक शाश्वत साधन उत्पन्न कर दिया। राष्ट्र के इस अद्भुत प्राणमय पराक्रम की ओर हम जितना ही देखते हैं, हमारा मन आश्चर्य से चकित हो जाता है। इस प्रकार राज-सिंहासनों की सजावट से लेकर घर में प्रयुक्त होनेवाले छोटे-छोटे पात्रों में कला के पूर्णतम सौन्दर्य को उत्पन्न किया गया। अपने पशु-पक्षी, हाथी और घोड़ों के लिये भी अनेक प्रकार के आभूषण और सुन्दर परिधानों की रचना करके हमने उनको भी अपने रस-ग्रहण करने का एक साधन बनाया। काव्यों में सम्राट् के विशिष्ट हाथी और राजवल्लभ तुरंग को भी कवि ने अपने ध्यान के पूरे भागधेय से उपकृत किया है। हाथियों के गले में पड़ी हुई क्षुरप्र-मालाएँ, जिनका कौटिल्य ने वर्णन किया है, उनके ऊपर आच्छादित चित्रास्तरण और इंद्रगोपा के समान लाल रंग के चटकीले पांडुकंबलों के आवरण—ये इस बात के सूचक हैं कि समाज ने उनके द्वारा अपने रस-तंतु को कितना फैलाया था। गुप्त-कालीन कलाकारों के लिये जीवन के उपयोग में आनेवाली कोई वस्तु ऐसी न थीकि जिस में वे कला का संचार न कर देते।

अहिच्छत्रा से मिले हुए मिट्टी के छोटे-छोटे प्याले और प्यालियाँ, जिन पर भाँति भाँति की रेखाओं और पत्र-पुष्पों की भक्तियाँ अंकित हैं, अपने सौंदर्य और सुहावनी आकृति में अद्वितीय हैं। गंधार देश में काबुल से साठ मील उत्तर प्राचीन कपिशा नगरी से मिले हुए दान्त फलक कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। ये हाथीदाँत की तख्तियाँ रत्नपेटिकाओं के भाग हैं। उनको देखकर भान होता है कि शुंग, कुषाण और गुप्त-काल के नागरिक स्थूल जगत् की प्रत्येक वस्तु में सुंदरता का संचार करके अपने जीवन में रसानुभव की किस तीव्र अवस्था तक पहुँच सके थे। ये गजदंत-फलक मथुरा के आसपास बनाकर किसी समय मध्यदेश से कपिशा ले जाए गए थे। इस प्रकार लोक में जितने अधिक मार्गों से रस का अनुभव किया जा सकता है उतना ही लोक का कल्याण है। हमारे समाज में कुछ तो प्राचीन परंपराओं के कारण और कुछ जीवन की पृष्ठभूमि में विद्यमान अध्यात्म-निष्ठा के कारण विषाद को जीतकर आनंद-मग्न और रस-तृप्त होने की अद्भुत क्षमता है। हम जो अभी तक पर्व और उत्सवों में अपने आनंदोल्लास के द्वारा जीवन के विषाद-पक्ष को बिलकुल भूल सकते हैं, यह हमारे अमर स्वास्थ्य का लक्षण है। जहाँ विषाद है, वहीं मृत्यु है; जहाँ आनंद है, वहीं जीवन है।

लोक की रसात्मक प्रवृत्ति को ज्ञान के द्वारा पुनः विकसित करना और कला के प्रति उदार एवं उदयात्मक भावना को जाग्रत करना वर्तमान काल की आवश्यकता है। कलाओं के बहुमुखी उत्थान से हम अपने विस्मृत आत्म-चैतन्य को शीघ्र ही फिर प्राप्त कर सकते हैं। शिव के तांडव की शक्ति को अपने ही अंगों में हम पुनरुज्जीवित देख सकते हैं। वज्र के द्वारा दानवों का दलन करनेवाली वज्रिन् इन्द्र की त्रिलोकरक्षी महिमा को अपने रंग-मंच पर प्रत्यक्ष करके कितना आत्मकल्याण किया जा सकता है? प्राचीन वीणा-गाथियों के स्वरों को अपने संगीतमय कंठ में फिर से भरकर हम अतीत के साथ तन्मय हो सकते हैं। अपने कुशल चित्रकारों के वर्णाढ्य चित्र-पटों और भित्ति-चित्रों को फिर से साक्षात् देखकर हमारे समाज में आनन्दी जीवन के नए अध्यायों

का प्रारम्भ हो सकता है। इस प्रकार नृत्य, गीत, नाट्य, चित्र सबके द्वारा उत्थान की एक नई भावना जन-मानस में प्रकट हो सकती है।

लोक में कला के पुनरुत्थान के लिये यह भी आवश्यक है कि हम सहानुभूति की दृष्टि से लोक का सूक्ष्म अवलोकन करें। जो-जो कला के भाव जहाँ बचे हैं, उनको पहचानें और उनकी रक्षा करें। इस दृष्टि से एक साधारण वस्तु भी, जो लोक की खान में सुरक्षित बच गई है, हमारे लिये अमूल्य निधि बन सकती है। एक छोटे से बर्तन के रूप में कभी-कभी सहस्रों वर्षों की परंपरा सुरक्षित मिल जाती है। वैदिक युग में जिस प्रकार के चमू नामक पात्र मिलते थे, उसी परंपरा को अक्षुण्ण रखते हुए चम्मू नामक शुद्ध कांस्य के लोटे अभी तक झाँसी जनपद में तैयार होते रहे हैं। उनकी शोभन आकृति स्वयं एक कला की वस्तु है, जिसमें नेत्रों के लिये पर्याप्त आकर्षण है, और उस पर बने हुए खरबुजिया फाँकों के गलते—जिन्हें जानपदी भाषा में चीमरी की भाँति (चीमरी—संस्कृत चिर्मटिका,—भाँति, तरह या डिज़ाइन) कहा जाता है, बहुत ही सुंदर प्रतीत होते हैं। इस प्रकार के अनगिनत नमूने हम अपने यहाँ अब भी पा सकते हैं। यामुन हर्वत (बंदर–पूँछ) के पादमूल के निकट ही यमुना-तट पर बसे हुए लाखामंडल गाँव में हमें प्राचीन काष्ठ-शिल्प की परंपरा अभी तक जीवित प्राप्त हुई, जिसमें कुषाण और गुप्त-कालीन चित्रात्मक अभिप्राय अपने पारिभाषिक नामों के साथ अब भी चालू हैं। देउल (देहली), मथेंडी (मस्तक-दंडिका, सिरदल), भदरकी (भद्रिका, अँगरेज़ी फ्रीज़), चंदक, कंकण (किवाड़ का, पीतल में लगा हुआ कड़ा), पकौड़ा (आमलक), पोल छाँटना (कोर मारना, चैम्फ़िरिंग) आदिक पारिभाषिक शब्द पुराने समय की परंपरा सूचित करते हैं। इस प्रकार कला की लोक-व्यापिनी सामग्री से भाँति भाँति के नमूनों और शब्दों का संग्रह किया जा सकता है। जब तक कला की यह नींव पक्की नहीं बनाई जाती, तब तक केवल नवीन निर्माण कृतकार्य नहीं हो सकता। सर्वत्र नवनिर्माण प्राचीन निधि को साथ लेकर ही सफल हो सकता है।

अजंता ने नूतन चित्रकला को अनुप्राणित किया है। नवीन नृत्य और

नाट्य के अभ्युत्थान में कथकली, भरतनाट्य, मणिपुरी आदि पद्धतियों से बहुत कुछ जीवन प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार कला के हर क्षेत्र में नवीन का प्राचीन के साथ सम्बन्ध स्थापित करने से संस्कृति के प्रवाह की जो दुर्धर्ष धारा इस देश में किसी समय थी, उसके साथ हमारा जीवन फिर से संयुक्त होकर भविष्य के पथ पर प्रगतिशील हो सकता है। प्राचीन और नवीन का यह समन्वय ही समाज के लिये श्रेयस्कर है।

---

२२. भारतीय कला का सिंहावलोकन

कला के द्वारा रसानुभूति

जिस प्रकार आध्यात्म और दर्शन, धर्म और चरित्र की विशिष्ट उपासना के द्वारा अनंत सर्वव्यापक रस-तत्व तक पहुँचने की संतत चेष्टा भारतीय संस्कृति में पाई जाती है, उसी प्रकार सौंदर्य की आराधना के द्वारा रस को आत्मसात् करने का प्रयत्न भारतीय जीवन-पद्धति की विशेषता रही है। इस विश्व में आध्यात्म-सौंदर्य, नीति-सौंदर्य और भौतिक सौंदर्य इन तीनों की वास्तविक सत्ता है। जहाँ इन तीनों में से किसी एक सौंदर्य को भी हम देखते हैं हमारा मन आनंद से द्रवित होने लगता है। इस साढ़े तीन हाथ के शरीर-संज्ञक भौतिक व्यवधान के पीछे जो दिव्य आत्म-ज्योति है वह जिस समय अपने भास्कर तेज से प्रकाशित होती है मनुष्य का मन आनंद में निमग्न हो जाता है। चरित्र-योग की जब कोई विशिष्टता संकल्पवान् मन की साधना से इसी शरीर में प्रत्यक्ष देखी जाती है तब उस से आनंद की सृष्टि होती है। अध्यात्म और चरित्र का आनंद क्रमशः मन और प्राण के भौतिक आवरणों को सूक्ष्म और सुसंस्कृत बनाने से प्राप्त होता है। इसी प्रकार विश्व के भौतिक उपकरणों को जिन के अंतर्गत मनुष्य-शरीर भी है सुसंस्कृत और सुंदर बनाकर हम आनंद की प्राप्ति कर सकते हैं। इस मार्ग से रस के स्रोत तक पहुँचने की साधना कला की साधना है। हमारे चारों ओर जो भौतिक अनगढ़ उपकरण पड़े हुए हैं उनमें से प्रत्येक के भीतर अनंत सौंदर्य छिप कर बैठा हुआ है। चतुर शिल्पी जिस पाषाण-खंड को अपने कौशल से छू देता है वही सौंदर्य का प्रतीक बन जाता है, और उसी में से रस का अक्षय सोता फूट निकलता है। अपने चारों ओर इस प्रकार के अगणित सुंदर प्रतीकों की रचना मनुष्य की कलात्मक साधना का उदाहरण है। कहा जाना चाहिए आनंद-तत्व के साथ संतत संपर्क मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है। अतएव

अपनी रहन-सहन और जीवन के समस्त भौतिक उपकरणों को ऐसे रूप में ढालना कि वे प्रतिक्षण सौंदर्य और रमणीयता के अर्थ को हमारे सामने प्रकट करते रहें संस्कृति का स्वाभाविक अंग और सभ्यता की अनिवार्य विशेषता मानी गई है। एक सुंदर चित्र या रमणीय शिल्प-कृति उस अनंत और सर्वत्र व्याप्त सुंदरता का मोहक प्रतीक है जिसकी ओर हमारा मन स्वतः सदा आकर्षित होता जाता है। भारतीय सौंदर्य-शास्त्र की परिभाषा में यही रूपशाली तत्त्व 'श्री' के नाम से अभिहित किया गया है।

महाकवि कालिदास ने ठीक ही कहा है कि रूप की सच्ची उपासना मन को मलिन करने के स्थान में और निखारती है—

यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये
न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः ॥

(कुमारसंभव)

अर्थात् हे पार्वति, सच बात तो यह है कि जो रूप-सौंदर्य है वह पाप-वृत्ति को बढ़ाने के लिये नहीं, बल्कि पापों के कल्मष को धोकर, पाप की ज्वालाओं को शांत करके मन की रस-ग्राहिणी सूक्ष्मवृत्तियों को और अधिक चैतन्ययुक्त एवं आनन्दमय बनाने के लिये होता है। 'न रूपं पापवृत्तये' यही परिभाषा कला और जीवन के मेल की सच्ची स्थिति को बताती है। जब तक मनुष्य कला की उपासना करते हैं परन्तु कला के द्वारा आनेवाले पाप-भावों से आत्मतेज को सुरक्षित रखते हैं तभी तक कला जीवनांश को पोषित करनेवाली कामधेनु की तरह बनी रहती है। जीवन और कला का यह आदर्श समन्वय जिस युग में प्राप्त होता है वह संस्कृति का सुवर्ण-युग कहलाता है।

भारतीय कला का विस्तार

भारतीय कला का विस्तार ऋग्वेद के काल से लेकर लगभग तुलसीदास के 'रामचरितमानस' के समय तक फैला रहा है। इसमें अधिकांश मात्रा में धर्म और कला का घनिष्ट संबंध बना रहा है। धर्म और दर्शन के उदार क्षेत्र में संयम और तप के जिन आदर्शों की कल्पना समय-समय पर प्रकट होती रही

उसी को मूर्तिमान् रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत करने के लिये कलाकारों ने प्रयत्न किया। एक प्रकार से भारतीय धर्म, जीवन की पूर्णता को लिए हुए, नृत्य, गीत, अभिनय और कला की प्रवृत्तियों के द्वारा फूला-फला। इसका प्रभाव धर्म और जीवन दोनों पर ही अच्छा हुआ। धर्म ने अपना सौंदर्य जीवन को प्रदान किया और जीवन की रागात्मक वृत्तियाँ धर्म के द्वारा सूक्ष्म और संस्कृत बनीं। शिल्प, नृत्य और संगीत से विरहित कला हेमंत के पतझड़ की तरह शुष्क दिखाई पड़ती है। धर्म के प्रांगण में वसंत-लक्ष्मी की शोभा का अवतार कला के द्वारा हुआ। दूसरी ओर धर्म के निर्मल आदर्शों को प्राप्त करके कला का स्वरूप निखर गया। कला केवल पृथ्वी की वस्तु न रही, धर्म के द्वारा कला को स्वर्ग का पवित्र आशीर्वाद प्राप्त हुआ। कला के प्रांगण में स्वर्ग के देवदूत तप और संयम का संदेश लेकर बराबर उतरते रहे। कला विषयों से सने हुए सौंदर्य को प्रकट करने का साधन न बनी, उसके द्वारा शील और संयम के देवोपम आदर्श लोक के सम्मुख प्रस्तुत किए गए। शिव अथवा प्रज्ञाप्राप्त बुद्ध की सत्ता मणि-दीप की तरह कला के प्रासाद को आलोकित करती है। जहाँ इस प्रकार का तेजस्वी संयम मूर्त रूप धारण करके प्रतिष्ठित हो वहाँ कला के उच्च आसन और निर्बाध रस-प्रवाह को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँच सकती। सुंदर से सुंदर भौतिक रूप स्वच्छंदता से कला के माध्यम में प्रकट होता रहा, किंतु कलाकार और रसिक दोनों के मन में यह धारणा बद्धमूल थी कि जीवन में उस सुंदरता को प्राप्त करने का मार्ग मार-विजयी बुद्ध के आदर्शों में था, न कि मार के विकट रूपधारी प्रलोभनों में। धर्म के द्वारा पोषित होने का परिणाम विशेष रूप से भारतीय कला पर पड़ा। सुंदरतम शरीर और मुखाकृति को यथावत् चित्रित करके आनंद की सृष्टि भारतीय कला को अभिमत न हुई। पंचभूतात्मक शरीर का सौंदर्य केवल अपने ही लिये पूजित न समझा गया। कलाकार की दृष्टि में भौतिक सौंदर्य भी परम मूल्यवान् वस्तु है, किंतु शारीरिक सौंदर्य और सामाजिक वैभव से उत्पन्न श्री की पूर्ण सफलता तभी हो सकती है जब वह मानस-सौंदर्य की ओर हमारा पथ-प्रदर्शन करने में सहायक हो। अजंता के स्वलंकृत उदार-नेपथ्यधारी रमणीय-आकृति सम्राट

और सम्राज्ञी केवल अपने रूप-सौंदर्य के कारण उतने आकर्षक नहीं बने हैं जितने कि धर्ममय जीवन की उस योजना के अंतर्भूत होने के कारण जिस के सर्वातिशायी केन्द्र बुद्ध थे। अजंता की कला को बाणभट्ट ने त्रिलोक का संपुंजन कहा है, अर्थात् तीनों लोकों में जितने चर-अचर प्राणी हैं उन सब के लिये उस कला में द्वार खुला है। छोटे से श्वेत हंस और कदली वृक्षों से लेकर महामहिम गजेंद्र तक अपने स्थान पर स्थित हैं। कला का रूप सँवारने के लिये बराबर वे आते-जाते हैं। अंतःपुर के परिचारक और पुरंध्रियों से लेकर यक्ष, सिद्ध और गंधर्व सदृश देवयोनियों तक सभी को इस कला में स्वागत मिला है, परंतु उन में से कोई भी अपने स्थान पर स्वतंत्र रूप का अभिमान लिए हुए हम से आदर की याचना नहीं करता। वहाँ जो कुछ है वह सब एक अंतर्यामी सूत्र से ओतप्रोत होने के कारण ही सुंदर और पूजित है। चैत्यमंदिर, मंडप, भित्ति और स्तंभों पर जो सुंदरतम रूपों का विधान हुआ है वह क्षुद्र कला की दृष्टि से भी अत्यंत रमणीय और मनमोहक है। किंतु जिस रससमुद्र का प्रतीक अजंता की चित्रशाला है, जिसके विगलित प्रवाह ने न केवल भारतवर्ष बल्कि एशिया भूखंड के दूरतम प्रदेशों को भी अपने सौम्य प्रभाव से आप्लावित कर दिया था, उस की रसोर्मियों का आवाहन रूप-सौंदर्य के एक-एक अंकन और चित्रण पर आश्रित नहीं है। उस का श्रेय तो बुद्धरूपी अमित सौंदर्यमय चन्द्र मंडल को है, जिस के द्वारा भावों का वह विशाल मंदिर प्रकाशित है जिसको अजंता में लिखा गया है। अजंता की कला सुंदर प्रतिकृति निर्माण करने का प्रयत्न नहीं है, वह तो किसी भाव-गम्य आदर्श-लोक को लिख कर प्रकट करने का एक बहुत ही सुंदर और सच्चा प्रयत्न है। बाहरी रूप-विधान पर भाव की यह प्रधानता समस्त भारतीय कला की विशेषता है। भारतीय कलाकार और कला-पारखी रसिक दोनों को ही सुंदरता से कुछ विरोध या वैर न था। उलटे उन्होंने रूप-सौंदर्य से कला की वस्तु को अलंकृत करने और रूप-विधान के प्रति आकर्षित होने का प्रयत्न किया। यदि ऐसा न होता तो नाना प्रकार के शृंगारात्मक अलंकरणों को कला में स्थान न मिलता। कलाकार का प्रथम प्रयास तो यही था कि वह रमणीयता और शोभा के पृथक्-पृथक् साजों को पूर्णमात्रा में

सजा कर एकत्र करे। सौंदर्य के समवाय को एकत्र करके उससे उत्पन्न प्रभा-विशेष को कलाकार किसी उच्चतर सौंदर्य के हाथों में समर्पित कर देता है। यह उच्चतर सौंदर्य मानसी-सृष्टि का अंगभूत है। भौतिक सौंदर्य भौतिक जगत् की अन्य वस्तुओं की तरह परिमित, जड़ीभूत और अल्प होता है, मानसी सृष्टि का सौंदर्य जिसमें भाव और आदर्शों की प्रधानता है अपरिमित, बहुविध और महत्व के भाव से युक्त होता है। भौतिक सौंदर्य शब्द के सौंदर्य की तरह है, और मानस-सौंदर्य अर्थ-गत सौंदर्य की तरह होता है। शब्द और अर्थ दोनों ही काव्य के पूर्ण चमत्कार और रसानुभव के लिये आवश्यक हैं। उसी प्रकार कला के जिस युग में बाह्य-रूप का भाव के साथ समन्वय प्राप्त किया जा सका वही कला के विकास का स्वर्ण-युग था। निस्संदेह गुप्त-काल में भारतीय कला में यह संतुलन सब से अच्छे रूप में पाया जाता है।

वैदिक काल

भारतीय कला के इतिहास में आदि युग वैदिक काल है। कला साहित्य और जीवन के मूल विचार जिन से भारतीय संस्कृति पल्लवित हुई वैदिक युग में स्फुट हुए। कला के अनेक लक्षण और चिह्नों की अर्थवत्ता का प्रथम विकास वैदिक मंत्रों में ही पाया जाता है। वैदिक साहित्य में कला-संबंधी भाव सहस्रों की संख्या में पाए जाते हैं परंतु उस युग की कलात्मक कृतियां उपलब्ध नहीं होती। इस का कारण यह जान पड़ता है कि वैदिक कालीन द्रष्टाओं को मानवी शिल्प की अपेक्षा देव-शिल्प के प्रति विशेष आकर्षण था। द्यावा और पृथिवी के गंभीर अंतराल में जो क्षण-क्षण पर अनंत देव-सृष्टि हो रही है उस के सौंदर्य की कोई इयत्ता नहीं है। सर्वत्र सौंदर्य के सहस्रों स्रोत फूट रहे हैं। अगणित स्थानों में सौंदर्य के उछलते हुए झरने झर रहे हैं। चंद्र और सूर्य, रात्रि और दिन, उषा और संध्या—इनमें शोभा और जो सुंदरता है वह अक्षय और अनंत है। किसी प्रकार वर्णन और कल्पना से उसका अंत नहीं किया जा सकता। प्रातःकाल हिरण्य के समान रमणीय दर्शन वाली देवी उषा मर्त्य प्रजाओं के लिए अमृत का दान करती हुई हिरण्य-रथ में बैठ कर जब आकाश

में संचरण करती है तब कौन सहृदय व्यक्ति उस की श्री से गद्गद नहीं हो जाता ? उषा अमर कविता के सामान शाश्वत आनंद का वितरण करती है। उस का रस न कभी छीजता है न पुराना पड़ता है। उषा स्वयं पुरानी है, सृष्टि के आरंभ से उसका आयु-सूत्र आज तक पोषित हुआ है, किंतु उषा के अनंत यौवन पर आयु के अंक प्रभाव नहीं डाल सके। अतएव पुरानी उषा नित्य-युवती के समान आज भी श्री और सौंदर्य से अलंकृत हो संचरण करती जाती है। रात्रि के तारांकित व्योम में, सिंधु और नदियों के अजस्र प्रवाह में, वात और मरुतों के वेगात्मक संचार में तथा मेघों के संप्लवन और वर्षण में जो देव-शिल्प का नैसर्गिक सौंदर्य निहित है, उससे वैदिक जन स्फूर्ति ग्रहण करता था और उन की ऊर्ज्जित प्राणधारा से उसका चैतन्य स्पंदित होता था। देव-शिल्प के प्रति इस अगाध भक्ति और अनुराग के कारण वैदिक मानव जीवन में भी सर्वत्र श्री और सौंदर्य देखने का अभ्यासी बन गया था। श्री और सुंदरता के वाची शब्दों की वैदिक साहित्य में बहुलता है। यद्यपि उस युग के मानव-शिल्प की सुंदर कृतियां इस समय उपलब्ध नहीं है तथापि श्री और सौंदर्य के वाची वे शब्द वरुण के दूतों की तरह हिरण्यम द्रापि पहने उस युग की सौंदर्य-निष्ठा का संदेश आज तक व्यक्त करते हैं। रणव संदृक् (रमणीय दर्शनवाली), रणवा, रण्या, रोचमाना, सुरूपा, सुपेशा, सुभासा, सुभगा, सुरुचा, सुवसना, सुसंकाशा, सुशिल्पा, सुदृशीकरूपा, सुदृशीकसंदृक् सुप्रतीक, श्रीर (श्रीसंपन्न), चंद्रवर्णा, चित्र, वाम, शुभ, ललाम, आदि शतशः शब्द वैदिक सौंदर्य शास्त्र की साक्षी भरते हैं। सौंदर्य और वैभव की अधिष्ठात्री देवी श्री और लक्ष्मी को यजमान की पत्नी रूप में कल्पित किया गया था; एवं दिशा-विदिशाओं में सर्वत्र रमणीयता के दर्शन की भावना को पुष्ट किया गया था—

आशामाशां रण्यां नः कृणोतु।

व्यक्तिगत सौंदर्य का यह भाव आगे चल कर देवी श्रीलक्ष्मी के रूप में प्रकट हुआ। श्रीलक्ष्मी भारतीय कला में सौंदर्य की साक्षात् प्रतिमूर्ति मानी जाने लगी। वैदिक साहित्य में जो कला के पोषक तत्त्व उद्बुद्ध हुए उन की परंपरा कालांतर में और भी अधिक प्रस्फुटित हुई और उन के द्वारा भारतीय

कला को निरंतर उज्जीवित करने वाला प्राण-तत्त्व मिलता रहा। भारतीय कला में सूर्य-प्रकाश के जैसी एक निर्मलता पाई जाती है तथा श्वेत कुंद की धवलता और ज्योत्स्ना के निर्मल विकास के सदृश उल्लास और आंतरिक प्रसन्नता से भरा हुआ भाव प्राप्त होता है। उस में जो उदासीनता और मृत्यु के विषाद का एकांत अभाव है उस का बहुत कुछ श्रेय वैदिक युग में प्रतीत हुई कला की उन परिभाषाओं और संकेतों को है जिन में मृत्यु का पराभव करके अमृत जीवन की व्याख्या की गई है। स्वस्तिक और चक्र, पूर्ण कुंभ और कमल के अमृत सूत्र जिन्होंने ऐतिहासिक युगों में भारतीय कला को रूप-संपन्न किया वैदिक काल में ही स्थिर हुए। इस प्रकार यद्यपि वैदिक काल के मानवशिल्प की सामग्री हमें प्राप्त नहीं हैं तथापि कला के दार्शनिक दृष्टिकोण को समझने की महत्त्वपूर्ण रोचक सामग्री इस अमूल्य साहित्य के मनन से प्राप्त हो सकती है।[1]

सिंधु-घाटी की सभ्यता

सिंधु नदी की उपत्यका में जो सभ्यता फूली-फली उसके अवशेष मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा तथा कई अन्य स्थानों की खुदाई में प्राप्त हुए हैं। इसमें कला की काफ़ी सामग्री मिली है। वैदिक आर्य-सभ्यता से मोहेंजोदड़ो की सभ्यता का यथार्थ संबंध अभी तक निश्चित नहीं हो सका है। इस निर्णय के लिए सिंधु-सभ्यता की चित्र-लिपि में लिखे हुए मुद्रा-लेखों का पढ़ा जाना अत्यंत आवश्यक है। प्राप्त सामग्री पर विचार करने से, विशेषतः जो दो-चार मनुष्य-मूर्तियाँ मिली हैं उनकी मुखाकृति के संकेत से सिंधु-तट की सभ्यता का प्रबंध असुर नामक जाति से प्रतीत होता है जिसका विस्तार किसी समय सिंधु नदी से तिगरा और फ़रातु नदी तक था। भारतीय साहित्य में असुरों के प्रबंध

---

[1]श्री अथवा सुंदर और सौंदर्य-वाची वैदिक शब्दों को लेकर आल्डेनबर्ग ने एक अच्छा लेख लिखा था जो १९२७ के 'रूपम्' सं० ३२ में छपा है। भारतीय कला के अर्थों के वैदिक दृष्टि से मनन की अत्यधिक सामग्री डा० आनंद कुमारस्वामी ने अपने हाल के लेखों में प्रस्तुत की है।

में जो प्राचीन अवतरण उपलब्ध होते हैं उनका ठीक ऐतिहासिक मूल्य मोहें-जोदड़ो की चित्र-लिपि की पहचान पर ही आँका जा सकेगा। फिर भी इतना तो निर्विवाद माना जा सकता है कि सिंधु-नद की पौर-सभ्यता और आर्य-संस्कृति में पारस्परिक संपर्क और आदान-प्रदान हुआ हो। पुरातत्त्व-सामग्री से मालूम होता है कि मोहेंजोदड़ो के निवासी व्यक्तिगत सौंदर्य को सँवारने और सजाने की ओर बहुत अधिक ध्यान देते थे। घरों में बने हुए सुंदर स्नानागार, सोने के आभूषण, रत्नों के कटाव से बनाए हुए हारों के मनके, कड़े और चूड़ियाँ इस बात के साक्षी हैं कि पुरुष और स्त्रियाँ दोनों ही व्यक्तिगत सौंदर्य और अलंकरण में पर्याप्त रुचि रखते थे। देवताओं की जिस सुरूपता का चित्र ऋग्वेद में मिलता है उसी की झलक इस प्रकार की अलंकरण सामग्री में पाई जाती है। सुंदर वस्त्र और आभूषणों से जगमगाते हुए सौंदर्य के प्रति आकर्षण आर्य और असुर दोनों संस्कृतियों की विशेषता जान पड़ती है।

इस विषय में आभूषणों से दीप्त नटी-प्रतिमा की ओर हमारा ध्यान जाता है, जिसकी तुलना वैदिक नृतु से की जा सकती है। मिट्टी के खिलौने और मिट्टी के बर्तन इस कला के प्रमुख अंग हैं। भांडों पर की काली लिखाई के अंतर्गत रेखा और उपरेखाओं का सरल किंतु दृढ़ प्रयोग हुआ है। पेड़-पौधे, फूल-पत्ती, उड़ते हुए पक्षी, तैरती हुई मछलियाँ, भागते और उछलते हुए पशु—इन विविध आकृतियों से यह लिखाई सुशोभित है। आड़ी, तिरछी, खड़ी-पड़ी रेखाओं के सम्मिलन से शुल्बाकृतियों की जो सजावट लिखी गई है उससे कलाकारों की बढ़ी-चढ़ी कुशलता का प्रमाण मिलता है। वृक्ष-वनस्पति और पशु-पक्षी जगत् के साथ भारतीय कला का सख्य-भाव मोहेंजोदड़ो से ही स्थिर हो गया था। ऐतिहासिक युग की कला में वनस्पति और पशु संसार के साथ कला का यह संबंध और भी विस्तार को प्राप्त हुआ। इन दो उपकरणों के बिना भारतीय कला थोड़ी दूर भी आगे बढ़ना नहीं चाहती। स्मिथ के अनुसार फूल-पत्ती और वृक्ष-वनस्पतियों के निर्माण में जैसी रुचि भारतीय कलाकार ने प्रदर्शित की है और जैसी क्षमता उसने प्राप्त की वैसी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। भारतीय कला में पशु-पक्षी गौण सजावट या मनोरंजन की सामग्री के रूप में

प्रकट नहीं होते बल्कि वे मानवी मनोभावों से तद्गुणीभूत होकर कला के द्वारा कहे हुए अर्थ में भाग लेते हैं। जिस प्रकार भारतवर्ष ने पशु पक्षी संबंधी कहानियों का अभिप्राय संसार को प्रदान किया उसी प्रकार कला में उनको प्रतिष्ठा देने का श्रेय भी भारतवर्ष को ही है। पशुओं की जो मिट्टी की मूर्तियाँ मोहेंजोदड़ो से प्राप्त हुई हैं, विशेषकर ऊँचे खुब्भ और डील-डौल वाले वृषभों की, वे कला की दृष्टि से बड़ी जानदार हैं। पशुओं की वैसी जीवटदार मूर्तियाँ फिर कम ही बन सकीं। सामान्यतः मोहेंजोदड़ो की कला में सर्वत्र ही प्राण और जीवट की बहुलता है।

जनपद-युग

ई० पू० लगभग आठवीं शताब्दी से मौर्य-काल के आरंभ तक का समय भारतीय तिथि-चक्र में महाजनपदों का युग कहा जाता है। इस काल में एक ओर व्यक्तिगत स्वातंत्र्य और समानाधिकार के कारण गणराज्यों का उदय हुआ। श्रेणी, पूग, निगम, सार्थ आदि अनेक संघ-प्रधान संगठन इस काल में विकसित हुए। दूसरी ओर बौद्धिक स्वातंत्र्य की प्रधानता के कारण अनेक दार्शनिक वादों का जन्म हुआ। परोक्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष पर विशेष आस्था जनपद-युग की विशेषता थी। बुद्ध और महावीर के धर्मों का इसी समय उदय हुआ। दूसरी ओर जनता में देवी-देवताओं की कल्पना की भी बाढ़-सी आ गई।

इस युग में 'शिल्प' शब्द को बहुत अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ। जीवन से संबंधित कोई उपयोगी व्यापार ऐसा न था जिसकी शिल्प में गणना न हो। पाणिनि की अष्टाध्यायी में शिल्प शब्द की जो व्याख्या है उससे मालूम होता है कि नाचना-गाना, झाँझ-करताल, मड्डुक आदि बाजों का बजाना—ये शिल्प के अंतर्गत थे। परंतु शिल्प शब्द का पूरा अर्थ-विस्तार तो जातकों से प्राप्त होता है। नाई, बढ़ई, धोबी, रंगरेज़, नर्तक, गायक, परिवादक, माला गूँथने वाले, मालिश करने वाले (संवाहक), जाल बुनने वाले, टोकरी बनाने वाले सैकड़ों पेशावर लोगों की गणना शिल्पियों में की गई है और उनके कर्म को शिल्प माना गया है। चित्रकारी, पत्थरों की उकेरी, हाथीदाँत की लिखाई तो शिल्प

थे ही, विश्वविद्यालयों में विद्यार्थी जिन क्रियात्मक विद्याओं को सीखते थे वे सब शिल्प के अन्तर्गत थीं। जीवन में जितना आवश्यक विद्या का अभ्यास था शिल्प का अभ्यास इस युग में उससे कम आवश्यक नहीं समझा जाता था। इस प्रकार ललित कलाएं और सामान्य कलाएं दोनों ही शिल्प के अंतर्गत समझी जाती थीं। चौंसठ कलाओं की जो गिनती अपने साहित्य में पाई जाती है उसका आरंभ इसी युग से हुआ। सुंदर ढंग से वस्त्र और गहनों को धारण करना, बिस्तर बिछाना, माला गूँथना आदि कर्म चौंसठ कलाओं में गिने गए हैं जिनमें से कितने ही जनपद-युग के शिल्प ही हैं। सौंदर्य-विधान और रूप-समृद्धि की ओर इन शिल्पों का विशेष लक्ष्य था। मनोरंजन और विनोद के साधन भी इनके अंतर्गत थे। शिल्पों की इस ऊँची प्रतिष्ठा का परिणाम देश की व्यापारिक उन्नति के लिए बहुत अच्छा हुआ और वास्तविक कला को भी उससे नया जीवन प्राप्त हुआ। कला में बाह्य अलंकरण और सजावट की प्रवृत्ति को इस युग में और भी विशेषता प्राप्त हुई। इस युग की एक और विशेषता यह थी कि प्रत्येक शिल्प का संवर्धन विशेष-विशेष श्रेणियों द्वारा होने लगा। ये श्रेणिगत समुदाय ही कालांतर में जातिरूप में परिणत हुए। श्रेणियों के जीवन का जीता-जागता चित्र हमें जातक-कथाओं से प्राप्त होता है। शिल्प और कला-साधना की जो परिपाटी भारतवर्ष में जारी हुई उसका आरंभ इसी युग में हुआ। एक श्रेणी या समुदाय के अंतर्गत परिवारों के व्यक्ति इसी शिल्प-गत व्यवसाय को अपनाकर उसमें दक्षता प्राप्त करते थे और नए-नए आविष्कारों के द्वारा उस शिल्प की उन्नति और रक्षा करते थे। एक-एक श्रेणी शिल्प विशेष के लिये एक विद्यालय के रूप में परिणत हो गई जो पुश्त-दर-पुश्त नया जीवन प्राप्त करके बढ़ती चली जाती थी और शिल्प-विशेष की अपनी साधना को भूल से भविष्य में आगे बढ़ाती चलती थी। नव-कर्मियों के लिए शिल्प सीखने और सिखाने के नियम भी इन श्रेणियों के द्वारा निश्चित कर दिए गए। अधिकांश में परिवार के अंतर्गत पुत्र, पिता से शिल्प की शिक्षा प्राप्त करता चलता था। शिल्पाभ्यास और दक्षता-संपादन की यह युक्ति भारतवर्ष में शिल्प और कला के क्षेत्र में अभी तक प्राप्त होती है।

मौर्य तथा शुंग काल

जनपद-युग के बाद विशाल राज्यों के संगठन का युग आया। पूर्व-काल में भेद और विघटन की प्रवृत्ति जब अतिमात्रा को पहुँची तब उस की प्रचंड प्रतिक्रिया हुई। केंद्रीय संगठन की ओर विशेष-रूप से लोगों का ध्यान गया, जिसके फलस्वरूप मौर्य साम्राज्य का उदय और विकास हुआ। इस युग में सभ्यता की बहुमुखी उन्नति हुई। ईरान, यूनान और भारतीय संस्कृतियों का सम्मिलन और पारस्परिक आदान-प्रदान बड़े वेग से हुआ। बाह्लीक, कपिशा और गांधार का प्रदेश मौर्य साम्राज्य का एक सशक्त प्रांत हो गया जो इन संस्कृतियों के पारस्परिक समझौते का लीला-क्षेत्र बना। इस काल की कला के अनेक निदर्शन उपलब्ध होते हैं। धार्मिक और दार्शनिक अनुभूतियों का चिह्नों के द्वारा अंकन कला की विशेषता थी। मौर्य-कालीन चाँदी की मुद्राओं पर सैकड़ों प्रकार के चिह्न, जिन्हें संस्कृत में रूप कहा गया है, प्राप्त होते हैं। अंक और लक्षण शब्दों से भी चाँदी की मुद्राओं पर आहत विविध रूप अभिहित किए गए हैं। सूर्य, षडर चक्र, चैत्य, वैजयंती, वृक्ष, वृषभ, द्विरद, मयूर, शशक, सरोवर आदि अनेक प्रकार की आकृतियों की रेखाएं कला की दृष्टि से अत्यंत सुंदर और निपुणता की सूचक हैं। स्थापत्य-कला में भी चिह्नों की यह परंपरा प्राप्त होती है।

मौर्यकाल में स्थापत्य और शिल्प की अनेक प्रकार से उन्नति हुई। सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य का पाटलिपुत्र में गंगा के किनारे निर्मित राज-प्रासाद मौर्य-कला का अतिविशिष्ट उदाहरण था। उसका कुछ वर्णन मेगास्थनीज़ ने किया है। दुर्भाग्य से वह महल गुप्त-काल के बाद नष्ट हो गया। मौर्य-कला के उपलब्ध उदाहरणों में सब से विशिष्ट अशोक के स्तंभ हैं। इनकी कारीगरी और शोभा की प्रशंसा में जो कुछ कहा जाय कम है। पैंतीस फ़ुट और उससे भी अधिक उँचाई के स्तंभ एक पत्थर से काट कर बनाए गए हैं। चुनार के गुलाबी पत्थर पर शीशे-जैसी दमक पैदा की गई है। पत्थर पर यह ओप उत्पन्न करना आज भी बहुत कठिन है। स्तंभों के शिरोभाग तो शिल्प-कला के सौष्ठव की

पराकाष्ठा को सूचित करते हैं। ये स्तंभ देहली, प्रयाग, सारनाथ आदि कितने ही स्थानों में पाए गए हैं। परंतु इन सब में सारनाथ का स्तंभ-शीर्षक अद्वितीय है। यह शिल्प की कविता उस युग के महान् मस्तिष्क की उपज है। इसकी भाषा सरल किंतु अत्यंत प्रभावशाली है। सबसे ऊपर पीठ सटाकर उकड़ूं बैठे हुए चार बबर केसरी सिंह हैं। वे प्रताप और दुर्धर्ष शक्ति की साक्षात् मूर्ति हैं। सिंहों के सिर पर बीचोंबीच एक धर्मचक्र था। नीचे मंडलाकार चौकी पर चार धर्मचक्र और चार गतिशील पशु हैं। चौकी के नीचे पंखुड़ीदार कमल का आधार है। स्थिति और गति एवं अपराजित शक्ति का इतना सुंदर कलात्मक समन्वय अन्यत्र और किसी युग में प्राप्त नहीं होता और न इतने सरल और संक्षिप्त रूप में उसकी कल्पना ही की जा सकती है।

मौर्यकाल में स्तूप-निर्माण की शैली का अत्यधिक विकास हुआ। बौद्ध किंवदंती है कि आर्य मौर्य-श्री अशोक ने चौरासी सहस्र स्तूपों का निर्माण कराया था। यह संख्या काल्पनिक हो सकती है किंतु कुछ प्रमुख स्तूप उस युग के अभी तक बच गए हैं, जिनमें भारहुत और साँची के स्तूप अत्यंत प्रसिद्ध हैं। स्तूपों के साथ की चहारदीवारी जिन्हें वेदिका कहते हैं और चार दिशाओं में बने हुए चार बड़े द्वार या तोरण शिल्पांकन की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। मौर्य और उसके बाद शुंग-काल की कला (द्वितीय शताब्दी ई० पू०) की एक ही धारा है। शैली और विषय की दृष्टि से दोनों में गहरी एकता है। साँची और भारहुत के वेदिकास्तंभ और तोरणों पर भारतीय जीवन का सरस चित्रण पाया जाता है। यथार्थ वर्णन की प्रवृत्ति इस शैली की विशेषता है। कहीं प्राकार, परिखा और तोरणों से घिरे हुए नगर दिखाए गए हैं जिनके अट्टों पर बैठे हुए नगर-गुप्ति करने वाले धानुष्क बाण-वर्षा कर रहे हैं, कहीं युद्ध का दृश्य है, कहीं धार्मिक पूजा के लिए उत्सव-यात्राएं हैं, कहीं सम्राट् और श्रेष्ठी गृहस्थों के द्वारा बौद्ध चिह्नों की वंदना के दृश्य हैं, कहीं वनिता-सखा नागरिक गिरि-निर्झर और आराम में विहार करते हुए दिखाए गए हैं। यह कला तत्कालीन नागरिक जीवन का जीता-जागता रूप खड़ा कर देती है। मौर्य-शुंग शिल्प-कला की दूसरी विशेषता उसकी अलंकरण-प्रियता है। भाँति-भाँति के बहुत से विधान केवल सजावट

के लिये प्रयुक्त किए गए हैं। वृक्ष-वनस्पति, पशु और पक्षी वेदिका और तोरणों के स्तंभों को रूप-संपन्न करने के लिये बहुतायत से बनाए गए हैं। शिल्पी का हाथ खुला हुआ जान पड़ता है। अनेक प्रकार की सज से वह अपनी उकेरी[1] में जान डालने का प्रयत्न करता है।

इस काल की कुछ भारी-भरकम यक्ष-मूर्तियां भी प्राप्त हुई हैं। यक्ष-संज्ञक देवताओं की पूजा का समाज में काफ़ी प्रचार था। जातकों में अनेक स्थानों पर यक्ष-पूजा का उल्लेख मिलता है। कुबेर की सभा में उसके अनुचर यक्षों की कल्पना का समर्थन महाभारत से होता है। सौंदर्य के उपमान-रूप में भी यक्ष-यक्षियों का उल्लेख पाया जाता है। मथुरा के परखम नामक गाँव से प्राप्त मणिभद्र यक्ष की मूर्ति, पटना से प्राप्त विशालकाय दो यक्ष मूर्तियां, वहीं के दीदारगंज नामक स्थान से चमकीले ओप वाली यक्षिणी की बड़ी मूर्ति इस श्रेणी में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये अवश्य ही मौर्य-कालीन हैं। ग्वालियर के पद्मावती नामक स्थान में भी मणिभद्र यक्ष की मूर्ति प्राप्त हुई है। कला की दृष्टि से इन मूर्तियों की एक विशेष शैली है। ऊँचाई में काय-परिमाण से भी विशाल ये मूर्तियां देखने में बड़ी क़द्दावर और डीलदार हैं। कटाव में सादगी और अलंकरण कम से कम हैं। यद्यपि ये चारों ओर से कोर कर गढ़ी गई हैं फिर भी सामने की ओर से इनका दर्शन विशेषतः इष्ट था। कानों में कुंडल, गले में तिखूँटा हार, बाहों में अंगद और नीचे पटलीदार धोती पहने हुए इन खड़ी हुई यक्ष-मूर्तियों की परंपरा में ही आगे चल कर मथुरा की विशालकाय बुद्ध-बोधिसत्व मूर्तियों का निर्माण हुआ। यक्ष-मूर्तियां कला की दृष्टि से मथुरा के ढंग की डील-डौलवाली बोधिसत्व-मूर्तियों की ठेठ पूर्वज जान पड़ती हैं। इन दोनों में बहुत ही अधिक साम्य है। धार्मिक दृष्टि से भी यक्ष-प्रतिमाएं कालांतर की बुद्ध-मूर्तियों की आवश्यकता की पूर्ति करती थीं। यक्षों की पूजा का मौर्य

---

[1] अंग्रेज़ी 'कार्विंग' के लिये हिंदी उकेरी शब्द है। उकेरना धातु का अर्थ है उत्कीर्ण करना, नक्क़ाशी करना। देहरादून ज़िले के लाखामंडल गाँव की जौंसारी बोली से यह शब्द हमें प्राप्त हुआ।

और शुंग काल में बड़ा ज़ोर था। जातकों में यक्षों की पूजा की चर्चा भरी पड़ी है। जन-साधारण के धर्म का जो रूप था उसमें यक्ष-पूजा को बहुत बड़ा स्थान मिला था। मणिभद्र आदिक यक्षों की मूर्तियां कई सौ वर्षों से पूजी जा रही थीं। अतएव यक्ष-मूर्ति से बुद्ध-मूर्ति तक पहुँचने में लोगों को एक बना-बनाया रास्ता मिल गया। पूजन की दृष्टि और कलामय निर्माण की दृष्टि से यक्ष और बोधिसत्व प्रतिमाओं में गहरा संबंध माना जा सकता है।

शुंगकाल के अंतिम चरण में अर्थात् विक्रम संवत् के आरंभ के लगभग भागवत धर्म की एक बड़ी प्रबल लहर उत्तरी भारत में और विशेषतः मथुरा के आसपास के प्रदेश में फैली। मथुरा, नगरी (प्राचीन मध्यमिका) और बेसनगर के लेखों से संकर्षण और वासुदेव की पूजा और उन के प्रासाद या मंदिरों का निश्चित प्रमाण मिला है। उधर अहिच्छत्रा से मिले हुए पंचाल राजाओं के सिक्कों पर चक्रधर विष्णु, सूर्य, इंद्र, भूमि, फल्गुनी, प्रजापति, अग्नि आदि देवताओं की मूर्तियां और शिलामयी भित्ति या वेदिका से घिरे हुए थानों का चित्रण पाया जाता है। इस आंदोलन का प्रभाव बुद्ध की मूर्ति के विकास पर भी बहुत अधिक पड़ा। लोक में मूर्ति-पूजन के लिये स्थूल पृष्ठभूमिका खूब तैयार हो चुकी थी। इसी में हल्का-सा परिवर्तन कुषाण काल के आते-आते हो गया। साँची, भारहुत, बोधगया और उड़ीसा की शुंगकालीन कला में देवी, श्रीलक्ष्मी, गजलक्ष्मी या श्री माँ की मूर्तियां पाई गई हैं। कमलों के वन में खड़ी हुई शरीरिणी श्री देवी की मूर्ति प्राचीनतम भारतीय कला की एक विशिष्ट वस्तु है। दोनों ओर दो हाथी श्री लक्ष्मी का अभिषेक कराते हुए दिखाए गये हैं। मथुरा और उसके आस-पास के स्थानीय सिक्कों पर प्रथम शताब्दी ई० के लगभग कई सौ वर्षों तक श्री लक्ष्मी की मूर्ति को अपनाया जाता रहा। गुप्तकाल में स्वर्ण मुद्राओं पर लक्ष्मी की मूर्ति को आदर का स्थान दिया गया। यह परंपरा मध्यकाल तक जारीरही। यहाँ तक कि मुहम्मद बिन साम या मुहम्मद ग़ोरी की स्वर्ण-मुद्राओं पर भी कमल पर बैठी चतुर्भुजी लक्ष्मी की मूर्ति ज्यों की त्यों रहने दी गई है। कमल और कमल-वन की अधिष्ठात्री देवता श्री लक्ष्मी भारतीय कला के संचित सौंदर्य की प्रतीक सी जान पड़ती है।

प्रथम शताब्दी ई० के लगभग भारतीय कला में कई विशेष परिवर्तन हुए जिस से कालांतर के विकास और गतिविधि को सहायता मिली। इन स्फुट परिवर्तनों में सबसे महत्वपूर्ण देव-प्रतिमाओं का निर्माण था। भक्तिप्रधान महायान धर्म में बुद्ध और बोधिसत्त्व मूर्तियों की रचना हुई। बुद्ध की प्रधानता में यक्ष-यक्षी, नाग-नागी आदि गौण देवताओं की परंपरा शुंगकाल की तरह मान्य रही। किन्तु धर्म और कला के केंद्र में सब से अभिभावी तत्व के रूप में साकार बुद्धमूर्ति प्रतिष्ठित हुई। यह विशेषता सभी धर्मों में समान रूप से प्रकट हुई। जैन धर्म में चौबीस तीर्थंकर और उन के अनेक पार्श्वचरों की मूर्तियाँ बनने लगीं। मथुरा से मिले हुए अत्यंत सुंदर पूजार्थ स्थापित किए हुए आर्यकपट्ट नामक शिलापट्टों पर अष्ट-मांगलिक चिह्न और त्रिरत्न तथा स्तूप आदि धार्मिक चिह्नों के बीच में तीर्थंकर मूर्ति की कल्पना उसी वृत्ति का परिणाम थी। भागवत धर्म और शैव धर्म की दो प्रधान शाखाओं को लेकर हिंदू धर्म में भी शिव, विष्णु, ब्रह्मा, सूर्य, कार्तिकेय, दुर्गा, सप्तमातृका, कुबेर आदि मूर्तियाँ बनने लगीं। जब देव-प्रतिमा को इस प्रकार का महत्व मिला तब उसके साथ मंदिर, देवालय और चैत्य-स्थान अधिक प्रकाश में आए। इस युग से पहले स्तूपों को घेरनेवाली चारदीवारी और उस के तोरण-द्वारों का महत्व अधिक था। केंद्रीय स्तूप सादा एवं शिल्पांकन से रहित होता था और शिल्पी की सारी चतुराई वेदिका और तोरणों के अलंकरण में खर्च होती थी। शिल्पी का ध्यान केंद्रीय वस्तु की ओर न होकर परिधि की सजावट की ओर था। उसकी कला में भी व्यक्तिगत भावना की अपेक्षा सामूहिक भावना की प्रेरणा अधिक थी। किन्तु बुद्ध-प्रतिमा और अन्य देव-मूर्तियों के उदय के बाद यह अवस्था उलट गई। शिल्पी का ध्यान केंद्र में स्थित मूर्ति की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। मूर्ति का निजी व्यक्तित्व बढ़ा और उस को भाव तथा सौंदर्य से योजित करने की ओर अधिकाधिक प्रयत्न होने लगा। केंद्र के महत्त्व के कारण परिधि का महत्त्व घटने लगा। फलतः कुषाण-काल की कला में वेदिका-स्तंभों का वह एकाधिकार नहीं है जैसा कि पूर्वकालीन शुंगकला में था। यहाँ शिल्पी का कौशल देवमूर्ति और बाहरी सजावट में बराबर बटा हुआ सा दिखाई देता है। गुप्तकाल

के आते-आते वेदिका-स्तंभों का यह रहा-सहा महत्त्व भी जाता रहा, और वेदिका-स्तंभ और तोरणों की प्राचीन परंपरा देव-मंदिरों के स्थापत्य और वास्तु-विकास में विलीन हो गई। यह परिवर्तन गंगा-यमुना की अंतर्वेदी से आरंभ हुआ और मथुरा की शिल्पकला में विशेष-रूप से पाया जाता है। वह धीरे-धीरे सर्वत्र फैल गया। सातवाहन युग के अमरावती नामक स्थान में बने हुए विशाल स्तूप और वेदिका-स्तंभों पर यद्यपि बुद्ध की सशरीर मूर्ति का चित्रण पाया जाता है, तथापि उसमें बुद्ध प्रतिमा को उतना महत्त्व अभी नहीं मिल सका था, जैसा कि मथुरा में देखा जाता है। अमरावती में आकृतियों के अंकन और पुंजन की भावना प्राचीन परंपरा के अधिक निकट है।

कुषाण-काल

कुषाण-काल की शिल्पकला का केंद्र मथुरा में था। वहाँ से उसकी प्रेरणा श्रावस्ती, सारनाथ, कौशांबी, साँची आदि स्थानों तक फैली। लगभग इसी समय भारत के उत्तर-पश्चिम में जहाँ शक, यवन, ईरानी आदि विदेशी संस्कृतियों का संघट्ट था, एक कला-शैली का विकास हुआ, जिसे गंधार शैली कहते हैं। भारत के प्रत्यंत प्रदेश में जन्मी हुई यह शैली भारतीय और विदेशी शैलियों के बीच सगाई की उपज है। उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत और अफ़गानिस्तान के कई हिस्सों में गंधार शैली की शिल्प-सामग्री प्राप्त हुई है। प्रथम शताब्दी ईस्वी से लेकर लगभग छः सात सौ वर्षों तक गंधार शैली में निर्माण-कार्य होता रहा। इसमें यूनानी शिल्पकला का प्रभाव विशेष है। प्रतिकृतियों के निर्माण में आदर्श की अपेक्षा यथार्थ अंकन की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। रग-रेशे और मांस-पट्ठों की दृष्टि से मूर्तियाँ अवश्य सच्ची हैं, पर कला की आध्यात्मिक सच्चाई से ये प्रायः सूनी हैं। भारतीय परिभाषा के अनुसार देव-मूर्ति में हूबहू शबीह उतारने की सफलता नहीं देखी जाती; मूर्ति आध्यात्मिक भावना को जगाने का केवल एक प्रतीक है। जितनी गहराई से और अधिक काल तक आध्यात्मिक भावमय वातावरण को मूर्ति उत्पन्न कर सकती है उतना ही वह धार्मिक सत्य और प्राण-प्रतिष्ठा के अधिक निकट है। इस

कसौटी से गंधार की शैली की बुद्ध-मूर्ति बहुत फीकी पड़ती है। उसमें बाहरी शरीर की सजावट जैसी-तैसी है, रस की मात्रा भी अत्यंत थोड़ी है। द्रष्टा की रसात्मक वृत्तियों को उद्‌बुद्ध करने में वह पीछे रह जाती है। यह बात स्मरण रखने की है कि गंधार शैली को भी भारतीय प्रभाव की तरंगें बराबर प्रभावित करती रहीं। कुषाण-काल और गुप्त-काल में संस्कृति, धर्म और कला के क्षेत्र में जो आंदोलन और परिवर्तन मध्य-देश में हुए उनका प्रभाव गंधार देश की संस्कृति पर भी बराबर पड़ा। किन्तु कलात्मक रमणीयता के लिये गंधार शैली किसी भी समय उतनी हृद्य और प्रिय-दर्शिनी न बन सकी जितनी कि रसप्रधान मध्य-देशीय शैली।

गुप्त-काल

लगभग चौथी शताब्दी के आरंभ में भारतीय कला और संस्कृति अपने स्वर्णयुग में प्रविष्ट हुई। संस्कार और परिमार्जन की जो धारा कुषाण-काल में आरंभ हुई थी वह गुप्त-काल में परिपक्व हो गई। शिल्प और चित्र, वस्त्र और आभूषण, भाषा और साहित्य—सभी क्षेत्रों में अद्‌भुत सौंदर्य और सूक्ष्म संस्कृति ने जीवन को व्याप्त कर लिया। उस संस्कार-परंपरा के मध्य में जीवन की शोभा विशेष तेज के साथ जगमगा उठी। आकृति का माधुर्य और मंडन की छवि दोनों का जैसा नपा-तुला समन्वय गुप्त-युग में हुआ वैसा भारतीय संस्कृति में फिर कभी नहीं देखा गया। राजघाट से मिले हुए मिट्टी के छोटे-छोटे खिलौनों से लेकर अजंता के दिव्य भित्ति-चित्रों तक सर्वत्र एक अखंड रमणीयता की धारा बहती हुई जान पड़ती है।

गुप्त-काल में ललित कलाओं का भेद विशेष रूप से जनता के मन में अंकित हुआ। चित्र, शिल्प और संगीत की आराधना ललित कलाओं के रूप में समाज में प्रचलित हुई। चित्र, संगीत और नृत्य नागरिक शिक्षा और संस्कृति के अभिन्न अंग बन गए थे। गुप्त-कला की भाषा विशेष-रूप से अंतःमुखी है। कला, काव्य, साहित्य सब में अति समृद्ध वैभव की पृष्ठभूमि के ऊपर आत्म-संस्कार या आत्म-ज्योति तक पहुँचने का प्रयत्न पाया जाता है। अजंता

के भित्ति-चित्रों में चित्रित पद्मपाणि अवलोकितेश्वर, सारनाथ में धर्मचक्र-प्रवर्तन मुद्रा में अंकित भगवान् बुद्ध, मथुरा में आर्य यशादिन्न द्वारा स्थापित बुद्ध—ये सब कलात्मक सौंदर्य की दृष्टि से परम उत्कृष्ट हैं। उसके साथ ही साथ जिस जनता के मन में अनुत्तर ज्ञानावाप्ति का आदर्श सर्वोपरि मान्य हो गया था उसकी धार्मिक भावनाओं को चरितार्थ करने के लिये और आध्यात्मिक शांति का साक्षात् रूप खड़ा करने के लिये भी ये मूर्तियाँ समर्थ और पर्याप्त-प्रतीक थीं। जैसा कि संस्कृति की उन्नत दशा में प्रायः होता है, कला पूर्णतम सौंदर्य का माध्यम बनने के अतिरिक्त आत्मशक्ति को संचालित करने वाले आदर्शों की संकेत-भाषा भी बन गई। गुप्त-काल की कला में कुषाण-काल का भारी भरकम-पना छूट गया। उसका बाह्य रूप बहुत साफ़-सुथरा और कट-छँट कर निखर गया है। अंगों का सौष्ठव और समविभाग शारीरिक सौंदर्य का आवाहन करता है। सूक्ष्म वस्त्र और नपे-तुले आभरण सौंदर्य को उज्वल बनाते हैं। चित्र और शिल्प का बाह्य विधान यथाशक्ति मनोमोहक बनाया गया है। किंतु इन दोनों से ऊपर चित्र और शिल्प में एक विलक्षण प्रकार की भावोपपन्नता पाई जाती है, जो वस्तुतः उस कृति का प्राण है। उस भावात्मकता के कारण गुप्तकालीन कलाकृतियाँ बहुधा अनंत आकर्षण की पात्र बन गई हैं। उनका अमिट रस छीजता ही नहीं। रस-प्रतीति में जैसा उद्बुद्ध हेतु गुप्त-युग की मधुर कला है वैसी किसी अन्य युग की नहीं।

शिल्प के क्षेत्र में मथुरा और सारनाथ ये दो बढ़े-चढ़े केंद्र थे। यहाँ के कुशल शिल्पियों ने हज़ारों सुंदर मूर्तियों का इस युग में निर्माण किया। झाँसी ज़िले में वेत्रवती नदी के किनारे देवगढ़ नामक स्थान में गुप्त-युग का एक बहुत ही सुंदर मंदिर आज तक बच गया है। इसे गुप्त-शिल्प का तीर्थ ही कहना चाहिए। गुप्त-युग के कला-प्रेमियों ने अपने चारों ओर का जीवन सौंदर्य से भर दिया था। उनके उसी बहु-निर्मित सौंदर्य का एक कांतिमत् खंड देवगढ़ का दशावतार-मंदिर है। मंदिर का द्वारतोरण शिल्प-सौंदर्य का टकसाली उदाहरण है। पार्श्व-स्तंभों पर प्रतीहारी स्त्री-पुरुषों की मूर्तियाँ अत्यंत रमणीय हैं। प्रमथ, दंपती, मंगलघट, श्रीवृक्ष के अलंकरण भी इन

स्तंभों पर हैं। दोनों स्तम्भों में ऊपर की ओर गंगा और यमुना की सुंदर मूर्तियाँ हैं। मंदिर के द्वार पर इन दो नदी-देवताओं का अंकन गुप्त-कला की विशेषता थी। द्वार की सिरदल पर बैठी हुई विष्णु की मूर्ति है। ऐसी मूर्तियों के लिये कला में ललाट-बिंब नाम प्रचलित था। यह विशेषता आज तक भारतीय मंदिर और घरों के वास्तु में पाई जाती है। मंदिर की तीन दीवारों में बाहर की ओर तीन शिलापट्ट हैं, जिन पर नर-नारायण की तपश्चर्या, शेषशायी विष्णु और गजेंद्र-मोक्ष के दृश्य बहुत ही सुंदर ढंग से उत्कीर्ण हैं। रथिका बिंब के नाम से इस प्रकार की मूर्तियों की परंपरा मध्यकाल तक जारी रही। गुप्त-काल की शिल्पकला में फूल-पत्तियों की कटावदार बेलें बहुतायत से पाई जाती हैं। इनके लिए साहित्य में पत्र-लता, पत्रांगुलि, पत्रावलि, पत्ररचना आदि शब्द आए हैं। बहुधा इनका उपयोग स्थान-पूर्ति के लिए हुआ है। प्रायः पशु-पक्षियों की पूँछ का भाग भी पत्र लता के रूप में फैलकर स्थान भरता हुआ बनाया गया है।

सुंदर मिट्टी के खिलौनों का भी गुप्त-कला में एक महत्त्वपूर्ण स्थान था। राजघाट, पद्मावती (ग्वालियर राज्य में पवाँया), अहिच्छत्रा और श्रावस्ती की खुदाई में मिले हुए खिलौने सुंदरता की दृष्टि से ऊँचा स्थान पाने योग्य हैं। लोक में कलात्मक सौंदर्य के सर्वत्र प्रचार के लिये मिट्टी के खिलौनों का माध्यम अति उपयुक्त सिद्ध हुआ होगा। खिलौनों के बनाने वाले उन पर सुंदर चित्रकारी और लिखाई का काम भी करते थे। अनेक प्रकार के सुंदर केश-विन्यास स्त्री-मस्तकों पर पाए गए हैं। अलकावली, बर्हभार रचना, क्षौद्र-पटलाकृति (शहद के छत्ते का आकार, 'हनीकोंब' डिज़ाइन) और छत्राकार आदि केश-वेशों का अध्ययन तत्कालीन संस्कृति की जानकारी के लिये उपयोगी है।

गुप्त-काल की साहित्यिक साक्षी से ज्ञात होता है कि उस समय चित्रकला का प्रचार शिल्प से भी अधिक था। गुप्त-कालीन चित्र का महान् तीर्थ अजंता की गुफाएं हैं, जिसके कारण यह चित्र-शैली अजंता शैली के नाम से भी विख्यात है। ग्वालियर राज्य के बाघ नामक स्थान में भी गुप्त-कालीन भित्ति-

चित्र हैं, किंतु व्याघ्र-गुफा की यह चित्रशाला अजंता की अपेक्षा बहुत छोटी है। अजंता के चित्र रेखा, वर्ण और भाव इन तीनों दृष्टियों से दिग्गज चित्रकारों की कृतियाँ हैं। उन्होंने समस्त एशिया महाद्वीप की कला को प्रभावित किया है। दक्षिण की सित्तन्नवासल (सिद्धनिवास) गुफा, सिंहल की सिंहगिरि गुफा (सिगिरिया), मध्य-एशिया में खोतन, मीरान्, तुर्फान् एवं त्वुन् ह्वान् की सहस्रबुद्ध गुफ़ाओं से मिले हुए चित्रों पर अजंता-शैली का गहरा प्रभाव है। मीरान् के भित्ति-चित्रों पर वेस्संतर जातक का दृश्य चित्रित है। चित्र के नीचे एक लेख में लिखा है—चित्रकार टिट ने इस चित्र को बनाया और इसके लिए उसे ३००० भामक मिले। अनुमान से यह चित्र लगभग चौथी शताब्दी का है। दंदान-ऊलिक के एक भित्ति-चित्र में पद्मवन-विहारिणी एक नारी की बहुत ही भावात्मक मूर्ति है। उसका जघन भाग चौड़ी मेखला से अलंकृत है। पास में एक उत्कंठित बालक उसकी जाँघ से लिपट रहा है। चित्र लगभग सातवीं शताब्दी का है और वह सब प्रकार से प्रथम श्रेणी के चित्रकार की उत्कृष्ट रचना है, जिसके रेखांकन और रंगों की खुलाई में अजंता की छाप स्पष्ट है। इस प्रकार एक अत्यंत व्यापक क्षेत्र में अजंता की चित्र-शैली लगभग चौथी शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक भारत और बृहत्तर भारत की चित्र-शैली को अनुप्राणित करती रही।

गुप्तकाल की कला का विवेचन करते हुए तत्कालीन साहित्य और कला के पारस्परिक संबंध की ओर भी ध्यान दिलाना आवश्यक है। कालिदास और बाणभट्ट के साहित्यिक वर्णन चित्रकला के क्षेत्र में भी सच्चे हैं। 'कलहंस-लक्षणवधूदुकूल' न केवल साहित्य की सचाई है बल्कि जीवन के सत्य का प्रतिबिंब होने के कारण कला में भी चित्रित है। मध्यस्थित इंद्रनील से अलंकृत मुक्तावली के वर्णन साहित्य और कला में समान रूप से आते हैं। इस प्रकार नेपथ्य, अलंकरण मुद्रा और भावों के शतशः वर्णन जो साहित्य के रूप को संपन्न करते हैं शिल्प और चित्र की भी समृद्धि के कारण हैं। साहित्य और कला के बीच इस प्रकार का परस्पर प्रीति-संयुक्त भाव गुप्त-काल की अपनी विशेषता है, जिसने दोनों को ही नया मूल्य प्रदान किया।

गुप्त साम्राज्य के टुकड़े होने पर गुप्त-संस्कृति की धारा भी मंद पड़ गई। सातवीं शताब्दी गुप्त-युग और मध्य-युग के बीच का संधिकाल था। इस संध्या-युग में संस्कृति की पहली प्रवृत्तियों का धीरे-धीरे संकोच हुआ और फिर मध्यकालीन राजपूत शक्तियों के उदय के साथ नई जीवन-धारा के अंकुर फूटने लगे। पुरानी और नई धाराओं के उतार-चढ़ाव, परस्पर आदान-प्रदान और नवीन परिस्थितियों का मुक़ाबला करने के लिए नए विश्वास और नई संस्थाओं का अध्ययन बहुत ही रोचक है। यहां केवल कला की दृष्टि से विचार करते हुए यह जान पड़ता है कि आठवीं शताब्दी में भारतीय कला एक नए ओज से प्रभावित हुई। उसने कोमल और सुकुमार भावों को पीछे छोड़ा और वह एक दिग्गज विराट् भाव को अपनाकर आगे बढ़ी। महत्ता, विशालता और विराट् भाव को पाकर कला ने मानों फिर अपने प्राणों की प्राप्ति की। दार्शनिक क्षेत्र में शंकराचार्य ने घोषित किया कि मनुष्य साढ़े तीन हाथ की परिमित देह में बापुरी शक्ति वाला पुतला नहीं है; वह तो देवों के साथ स्पर्धा करने वाला ब्रह्म और आत्मा की एकता का अधिकारी है। शंकर का ब्रह्मात्मैक्य भाव एक नए अर्थ के साथ जीवन के सभी अंगों को शक्ति देता हुआ उठ खड़ा हुआ। कला के क्षेत्र में मनुष्य की काय-परिमाण मूर्तियां पीछे हटीं; उनके स्थान में देवतुल्य विशाल प्रतिमाएं गढ़ी जाने लगीं। मेरु और कैलास का अनुकरण करने वाले विशाल मंदिरों के निर्माण की भावना लोक में जाग्रत हुई। सम्राट् और जनता दोनों के हृदय विराट् भाव से आंदोलित हुए। सप्तसागर महादान, ब्रह्मांडदान, धरित्रीदान आदि महादानों की कल्पना तत्कालीन मनुष्य के बढ़े हुए मानसिक भावों को प्रकट करती है। प्रतापी राष्ट्रकूटों के महामहिम चिंतन के फलस्वरूप वेरूल के दिग्गज कैलास मंदिर का निर्माण हुआ। वेरूल-मंदिर की प्रत्येक शिल्प-कृति को अर्जित शक्ति की इस नई धारा ने छू दिया है। काव्य के क्षेत्र में भी ऐसा जान पड़ता है कि मानो अतिशयोक्ति अलंकार ने काव्य-शरीर का सब रस खींचकर अपने में समेट लिया है। सम्राटों के परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर आदि विरुदों में तथा प्रयाण पर जाती हुई सेना के रजोवर्णन में सर्वत्र उसी महिमा-भाव या विराट् भाव का प्रदर्शन है।

पूर्व-मध्यकाल

मध्यकाल को प्रायः दो भागों में बाँटा जाता है—पूर्व-मध्यकाल (८वीं-९वीं शताब्दी) और उत्तर-मध्यकाल (१०वीं से १२वीं शताब्दी)। पूर्व-मध्यकाल में चार बड़ी साम्राज्य-शक्तियां थीं। उत्तर में गुर्जर प्रतीहार, दक्षिण में राष्ट्रकूट, सुदूर दक्षिण में पल्लव और पूर्व (बिहार-बंगाल) में पाल। गुर्जर प्रतीहारों के द्वारा निर्मित स्थापत्य के उदाहरण उत्तरी भारत में प्रायः नष्ट हो गए हैं। प्रतापी राष्ट्रकूट इनसे अधिक सौभाग्यशाली हुए। अष्टम शताब्दी का बनवाया हुआ वेरूल का विशाल कैलास-मंदिर उनकी अक्षय कीर्ति का स्मारक है। इस युग की कला के विराट् भाव का आदर्श वेरूल के पर्वत-घटित एकाश्मक मंदिर में सबसे अधिक चरितार्थ हुआ है। घारापुरी (एलिफ़ैंटा) का कैलास मंदिर भी लगभग इसी युग की रचना है। शिल्प और स्थापत्य इन दोनों का बहुत ही सुंदर समन्वय यहां हुआ है। सुदूर दक्षिण में कांचीपुरी का कैलासनाथ मंदिर और उसकी शिल्प-मूर्तियां एवं पाल युग की अनेक मूर्तियां पूर्वमध्यकाल की कला के उदाहरण हैं।

इस काल की कला में पौराणिक देवों के आख्यानात्मक चरित्र का अंकन बहुतायत से पाया जाता है। शिव और विष्णु की लीलाओं का बड़ा ओजस्वी चित्रण इस युग के शिल्प की विशेषता है। उद्दाम आंदोलित क्रियाशक्ति शिल्प में प्रकट है। शिव-तांडव का शिल्पमय प्रदर्शन इस युग की सबसे ऊँची कल्पना और कलाकृति कही जा सकती है जिसके द्वारा युग की आत्मा को हम साक्षात् रूप में देख सकते हैं। गजासुर जैसे महान् असुर को जीतकर शिव तांडव में प्रवृत्त हुए हैं। तांडव नृत्य की मूर्तियों में पराजित असुर की समस्त शक्ति शिव के नृत्यांदोलन में प्रकट होती है, किंतु वह शक्ति सर्वथा शिव द्वारा अधिकृत और नियमित है। उत्तरी भारत में इस युग के सुरक्षित मंदिर और स्थापत्य के नमूने यद्यपि नहीं बचे तथापि शिल्प की मूर्तियां जहां-तहां बच गई हैं। देहरादून ज़िले के जौंसार प्रदेश में यमुना के किनारे लाखामंडल नामक स्थान में राजकुमारी ईश्वरा के बनवाए हुए मंदिर की बहुत-सी सुंदर मूर्तियां

अभी तक सुरक्षित हैं। इनमें शिव-तांडव के सुंदर नमूने प्राप्त हैं। इस युग का शिल्प थोड़ी-सी प्रमुख रेखाओं का सफलता के साथ चित्रण करके भाव की अभिव्यक्ति में समर्थ होता है। अंकन और कटाव की बारीकी की ओर उसका ध्यान नहीं है। आभूषणादि अलंकरण भी परिमित ही हैं।

उत्तर-मध्यकाल

उत्तर-मध्यकाल में शिल्प और स्थापत्य दोनों में ही विशेष उन्नति हुई। इस युग की कला के कुछ मुख्य केंद्र ये थे—उत्तर में खजुराहो, पच्छिम में आबू और शत्रुंजय, दक्षिण में तंजोर और हलेबीड और पूर्व में भुवनेश्वर और कोणार्क। उत्तर में शक्तिशाली चंदेलों के संरक्षण में स्थापत्य की विशेष उन्नति हुई। मालवा के परमारवंशी राजाओं ने भी स्थापत्य और शिल्प को प्रोत्साहन दिया। राजा उदयादित्य और भोज ने कई अच्छे मंदिरों का निर्माण कराया, जिनमें से उदयादित्य (१०५६-१०८० ई०) का बनवाया हुआ नीलकंठ या उदयेश्वर मंदिर जो कि ग्वालियर राज्य के उदयपुर नामक स्थान में हैं बहुत ही उत्तम दशा में है। उसका शिल्प भी अत्यंत भव्य है। दिलवाड़ा के जैन-मंदिर संगमरमर के बने हैं और उनके बारीक काम को देख कर ऐसा जान पड़ता है कि मानो कारीगर के हाथों में संगमरमर ने पिघलकर मोम का रूप धारण कर लिया हो। मूर्तियों और शिलापट्टों में अलंकरण का यह बाहुल्य पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण की प्रादेशिक कलाओं में एक जैसा ही था। कोणार्क के सूर्य-मंदिर में सजावट का यह वैभव पूरे राजसी ठाठ में पाया जाता है।

शैली और विषय की दृष्टि से इस समय कला की कई विशेषताएं ध्यान देने योग्य हैं। जिन प्रधान-प्रधान देवों का पूर्व-मध्ययुग में विकास हो चुका था उनके स्वरूप का बारीक विवेचन होने के कारण अनेक भेद और उपभेद प्रचलित हुए। अनेक प्रकार की देवियां, मातृकाएं, योगिनियां, यक्षिणियां और शासन देवताओं का भरपूर विस्तार हुआ। इन बढ़ते हुए भेदों के अनुरूप देवी-देवताओं के ध्यान, धारणी और साधन-मालाओं का प्रचार समाज में फैला। देवलोक की जनसंख्या-वृद्धि के साथ-साथ यंत्र-मंत्र, पूजा-पाठ की प्रवृत्ति भी बहुत बढ़ी।

धार्मिक जगत् में इस समय एक राज-मार्ग लोक में ओझल हो गया था। वज्रयान, सहजयान, सिद्ध संप्रदाय, नाथ संप्रदाय, तांत्रिक मत, शाक्त मत आदि मतांतरों के अनेक छोटे-छोटे भेद जनता के धार्मिक विश्वासों को जिस-तिस प्रकार सहारा दे रहे थे। इस युग के सामाजिक और धार्मिक जीवन की एक बड़ी विशेषता स्त्री का प्राधान्य और बढ़ता हुआ प्रभुत्व था। ज्यों-ज्यों जीवन का कर्मण्य पक्ष शिथिल हुआ त्यों-त्यों स्त्री-पुरुष संबंधी गुह्य भावों ने संभ्रांत धार्मिक अर्चा की जगह ले ली। ब्रह्मानंद का रसानुभव सहज में प्राप्त होने वाले संभोग-सुख के रसानुभव की कल्पना से मापा जाने लगा। इसी युग में स्त्री-पुरुष की नग्न मूर्तियां शिल्प और चित्र-कला में बनने लगीं। देवता और उसकी शक्ति के रूप में उनकी व्याख्या की जाने लगी। काम-भाव की विडंबना को लिए हुए इस प्रकार की अनंत मूर्तियां खजुराहो, भुवनेश्वर और कोणार्क के मंदिरों में पाई गई हैं। तिब्बत की बौद्ध-कला में जो बंगाल की पाल-कला का ही रूपांतर है, इस प्रकार के परस्पर नग्न अथवा "यब्-युम्" (पिता-माता मुद्रा में स्थित) मूर्तियों का अधिक प्रचार पाया जाता है। दार्शनिक क्षेत्र में इस समय की जो विचार-पद्धति थी वह नए-नए विषयों को आत्मसात् करने और नए विचार-क्षेत्रों को जीतने के बजाय अपने ही केंद्र में घूम-फिरकर चक्कर काटती जान पड़ती है। जिस प्रकार एक केंद्र में बैठा हुआ लकड़ी का कीड़ा वहीं छेद करता रहता है उसी प्रकार मानवी तर्क बर्मे की तरह अपने ही केंद्र को खाकर खोखला करता है। इस समय का तर्कशास्त्र निष्प्राण शब्दाडंबर से जर्जर हो गया था। अवच्छेदकावच्छिन्न के बने-बनाए पैंतरों में चिंतन के नवीन प्रकार किसी भाँति सिर न उठाने पाते थे। ऐसे ही कला के क्षेत्र में भी व्यक्तित्व का बिलकुल ह्रास हो गया था। सब मूर्तियां ठाठ में एक दूसरे की प्रतिलिपि-सी जान पड़ेंगी। आत्म-केंद्र में ही चिंतन करते हुए तर्क के बर्मे से जो दशा दार्शनिक परिभाषाओं की हुई उसी के अनुरूप इस युग की शिल्प-कला में भी तक्षक और शिल्पकार की टाँकी गहरा कटाव करती हुई शिलापट्ट के दूसरी ओर जा निकलती है।

इस समय के शिल्प में सजावट के लिये जो पत्र-लताएं बनाई गई हैं

उनका कटाव पत्थर पर बने हुए पत्र-छेद्य (स्टैंसिल) के ढंग का है। तक्षण की यही प्रवृत्ति उत्तर-मध्ययुग के समाप्त होते-होते पत्थर की जालियों के रूप में परिणत हो जाती है। पत्थर में जाली का यह बढ़ा हुआ काम शिल्प-कला के उस पंजर की भाँति जान पड़ता है जिसमें से कला का प्राण विलीन हो गया हो। स्थापत्य की दृष्टि से भी इस युग में वास्तु-कला के सूक्ष्म भेदों का अधिकाधिक विस्तार हुआ। जगती-पीठ और प्रासाद-पीठ के भिन्न-भिन्न थरों की संख्या बढ़ने लगी। चंदेल-कला और दक्षिण की होयसल-कला दोनों में ही त्रिकूटाचल मंदिरों की परिपाटी का विकास हुआ, जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और शिव के तीन मंदिरों के द्वार एक ही केंद्रीय रंग-मंडप में खुलते थे। मंदिरों के ऊपर शिखर और उनके शृंग या अंडकों की रचना और संख्या में भी विस्तार और वृद्धि हुई। मध्यकालीन देवप्रासादों की पीठ कल्पना बहुत ही पेचीदा बनती गई। विशालता और बृहत् निर्माण की दृष्टि से यह वास्तुरचना मन को प्रभावित करती है। उसके अलंकरण वैभव की सूचना देते हैं। उनको देख कर बनाने वालों के अथक परिश्रम की भूरि प्रशंसा करनी पड़ती है। वीरगाथा-काल में राजपूती पराक्रम और वैभव का जो स्वरूप राजनीति के क्षेत्र में प्रकट हुआ, उसी की आभा चंदेल युग के महान् देवमंदिरों और अन्य इमारतों में दिखाई पड़ती है। हिंदू युग के अभ्युदय का यह अंतिम दृश्य था। उस उत्कर्षशाली सभ्यता ने निर्माण के जो स्थायी कार्य किए उनमें चंदेल युग की स्थापत्य-कला को सदा ऊँचा स्थान दिया जायगा।

---

२३. राजघाट के खिलौनों का एक अध्ययन

काशी के राजघाट से प्राप्त अधिकांश खिलौने गुप्तयुग (चौथी-पाँचवीं) शताब्दी के प्रतीत होते हैं। ये खिलौने मुख्यतः तीन प्रकार के हैं—स्त्री-मस्तक, मुहर और विविध, जिसमें पशु-पक्षी और कुछ बर्तन भी शामिल हैं।

कला की दृष्टि से और ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से स्त्री-मस्तक बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। राजघाट की खुदाई में प्राप्त चीजों की तुलना भीटा की सामग्री से हो सकती है। दोनों एक ही युग की हैं और दोनों में आकार-प्रकार का घनिष्ठ सादृश्य है। भीटा के स्त्री-मस्तक भी राजघाट के समान थे, परन्तु संख्या और कला की दृष्टि से राजघाट की सामग्री अधिक मूल्यवान् है।

इन खिलौनों की दो विशेषताएँ मुख्य हैं—केश-रचना और रँगों की पुताई या चित्रकारी।

केश-विन्यास की दृष्टि से राजघाट के खिलौनों का निम्नलिखित वर्गीकरण हो सकता है—

१—घूँघरदार बाल। इस श्रेणी में वे मस्तक हैं जिनमें शुद्ध घूँघर की रचना है। घूँघर के लिये संस्कृत शब्द अलक है। गुप्तकाल में अलक-रचना का प्रचलन सब से अधिक जान पड़ता है। कालिदास ने जितने स्थानों पर केशों का वर्णन किया है उनमें आधे से अधिक अलक-रचना का संकेत हैं। बाणभट्ट के ग्रंथों में भी अलकावली का वर्णन औरों की अपेक्षा अधिक है।

अमरकोष में अलक का स्वरूप बतलाया है—"अलकाश्चूर्ण-कुन्तलाः", अर्थात् अलकावली बनाने में चूर्ण का प्रयोग होता था। चूर्ण से तात्पर्य कुंकुम, कपूर आदि की सुगंधित पिठ्ठी से है जिसके द्वारा बालों में घुमाव उत्पन्न किया जाता था। अमरकोष की इस परिभाषा का समर्थन स्वयं कालिदास के ग्रंथ से भी होता है। रघुवंश में केरल देश की स्त्रियों के अलकों के संबंध में चूर्ण का उल्लेख है—

भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम् ।
अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधीकृतः ॥४।५४॥

अर्थात् केरली स्त्रियों की अलकों का शृंगार रघु की सेना से उठी हुई धूल ने चूर्ण के स्थान पर किया । मेघदूत २।२ में कालिदास ने अलक; सीमंत और चूडापाश इन तीन प्रकार के केश-विन्यास का वर्णन किया है । माँग को संस्कृत में सीमंत कहते हैं । मल्लिनाथ ने इसका अर्थ 'मस्तक-केशवीथी' किया है जिससे सीमंत का निश्चित अर्थ जानने में सहायता मिलती है ।[1] चूडापाश वह जूड़ा है जिसे स्त्रियाँ सिर के पीछे बाँधती हैं । आज भी चूड़ा के लिये हिंदी में जूड़ा शब्द का प्रयोग होता है । तीसरा प्रकार अलक है । इसकी व्याख्या में मल्लिनाथ ने 'स्वभाववक्राण्यलकानि तासाम्' यह एक प्रसंगोपात्त उद्धरण दिया है जिससे इतना तो प्रकट होता है कि अलकों में कुछ वक्रता या घुमाव रहता था, पर अलकों का स्पष्ट स्वरूप कुछ विदित नहीं होता ।

सौभाग्य से रघुवंश के अष्टम सर्ग में इंदुमती के केशों का वर्णन करते हुए कालिदास ने अलकों के स्वरूप के विषय में जो स्पष्ट सूचना दी है उससे अलकों की ठीक पहचान करने में कुछ संदेह नहीं रहता—

कुसुमोत्खचितान्वलीभृतश्चलयन् भृंगरुचस्तवालकान् ।
करभोरु करोति मारुतस्त्वदुपावर्तनशंकि मे मनः ॥ रघुवंश ८।५३

अर्थात् वायु इंदुमती के फूलों से गूँथे हुए भौंराले अलकों को, जिनमें बल पड़े हुए थे, उड़ा रही थी । अलकों का वलीभृत विशेषण बहुत उपयुक्त है । वलीभृत का ही नाम वेल्लित केश[2] था । इस प्रकार के बटे हुए या बले हुए

---

[1] **मल्लिनाथ ने निम्नलिखित प्रमाण दिया है—**
सीमन्तमस्त्रियां मस्तककेशवीथ्यामुदाहृतम् । इति शब्दार्णवे ।

[2] **विराटपर्व में सैरंध्री के बालों का वर्णन—**
ततः केशान् समुत्क्षिप्य वेल्लिताग्राननिंदितान् ।
जुगूह दक्षिणे पार्श्वे मृदूनसितलोचना ॥९।१॥

केशों को छल्लेदार या घूँघरदार कहा जा सकता है। अंग्रेजी लेखों में इनको ही spiral या frizzled locks कहा जाता है। गुप्तकाल के कवियों ने प्रायः अलकों के वर्णन में 'मुक्ताजालग्रथित' विशेषण का प्रयोग किया है (मेघदूत १।६३)। गुप्तकालीन चित्र और शिल्प की कृतियों में सिर की सजावट में मोतियों के बने हुए गुच्छों या गजरों की सजावट प्रायः देखी जाती है। मल्लिनाथ ने (मेघदूत २।६) मौक्तिक जाल का अनुवाद शिरोनिहित मौक्तिकसर, (सिर पर खोंसी हुई मोतियों की लड़ियाँ) दिया है। लटों को चूर्णकुंतल या अलक के रूप में बटने से उनकी लंबाई भी स्वभावतः कम हो जाती होगी। मिट्टी के खिलौनों में अलकों की यह विशेषता स्पष्ट सूचित की गई है। कालिदास ने वियोगिनी यक्षिणी के केशों को 'लंबालक' कहकर ध्वनि से इस विशेषता की ओर संकेत किया है—

हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वात्।

(मेघदूत २।२१)

अर्थात् संस्कार न होने से अलकों के नीचे लटक आने के कारण यक्षपत्नी का मुँह पूरा दिखाई न देगा—'संस्काराभावात् लम्बमानकुन्तलत्वात्'। मेघदूत २।२८ में फिर इसी बात को पुष्ट किया है—"शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागंडलम्बम्, अर्थात् हे मेघ! स्निग्ध पदार्थ के बिना स्नान करने के कारण यक्षिणी उसके अलक गालों पर लटक आते होंगे।

घूँघरवाले बालों के कई अवांतर भेद राजघाट के खिलौनों में पाए जाते हैं। जैसे—

(अ) शुद्ध घूँघर—इसमें सीमंत या माँग के दोनों ओर केवल वलीभृत् अलकों की समानांतर पंक्तियाँ सजी रहती हैं। जैसे एक सिर में माँग के दोनों तरफ पहले चार-चार बली हुई लटें, फिर भ्रूपंक्ति की सीध से कुंडल तक उसी तरह की लटों का दूसरा उतार पाया जाता है। भारत-कलाभवन में इस विन्यास के कई सुंदर नमूने हैं।

छतरीदार घुँघर

(आ) छतरीदार घूँघर—इसमें घूँघरों की पहली पंक्ति ललाट के ऊपर अर्धवृत्त की तरह घूमती हुई सिर के प्रांतभागों तक चली जाती है जो देखने में कुछ कुछ खुली हुई छतरी से मिलती है। इसी विशेषता के कारण इसका नामकरण किया गया है। शेष घूँघर रचना (अ) जैसी है।

(इ) चटुलेदार घूँघर—शुद्ध घूँघर से इस विन्यास में इतना अंतर है कि सीमंत या केशवीथी को एक आभूषण से सज्जित किया गया है। इसका वर्तमान रूप सिरबोर कहना चाहिए। इस आभूषण के लिये सीमंत स्थान कुछ विस्तृत दिखाया जाता है और घूँघर थोड़ा हटकर शुरू होते हैं। सिरबोर का प्राचीन नाम बाणभट्ट के हर्षचरित से ठीक-ठीक मालूम होता है। बाण ने इसे चटुला-तिलक कहा है—

चटुलेदार घुँघर

पटल विन्यास कह सकते हैं। कालिदास ने रघुवंश में पारसीकों के दाढ़ीदार (श्मश्रुल) सिरों की उपमा क्षौद्रपटल से दी है (रघुवंश ४।६३), परन्तु वहाँ यह सादृश्य सासानी युग की दाढ़ियों को उद्दिष्ट करके कहा गया है। प्राचीन साम्राज्यकालीन रोम की संभ्रांत युवतियों में छत्तेदार केशों (honey-comb curls) का रिवाज अत्यंत प्रिय था[1]। गुप्तकाल की चौथी-पाँचवी सदियों में भारतवर्ष में भी इस विन्यास का प्रचलन इन नारी-मस्तकों से सिद्ध होता है। मथुरा संग्रहालय में हाल में ही गुप्त-कालीन बड़े मिट्टी के फलक में इस प्रकार के केशविन्यास का एक अत्यंत उत्कृष्ट उदाहरण यमुना-तल से पाया गया था।

लटदार या लच्छेदार

५—लटदार या लच्छेदार—इसमें केशों की सीधी-सादी लटें या लच्छियाँ नीचे कंधों तक झूलती रहती हैं।

६—ओढ़नीदार—यह एक अवांतर भेद ही है। इसमें केश-विन्यास चाहे जो हो, सिर पर एक ओढ़नी ढकी रहती है जिसमें सामने के केश कुछ खुले दिखाए जाते हैं।

[1] हाल ही में न्यूयार्क के मेटरोपालिटन म्यूजियम आव् आर्ट नामक संग्रहालय में एक रोम युवती की संगमरमर की मूर्ति आई है जिसमें इस प्रकार के सुन्दर केश-विन्यास का बड़ा भव्य नमूना पाया जाता है। प्रथम शती ई० के फ्लेवियन सम्राटों के समय की एक पुरंध्री स्त्री (Cominia Tyche) की यह मूर्ति है।

७—मौलि—इसमें बालों का जूड़ा बनाकर माला से बाँध दिया जाता था। मौलि के भीतर भी फूलों की माला गूँथी जाती थी। कालिदास ने 'मुक्तागुणोन्नद्ध अंतर्गतस्रज मौलि' (रघु० १७।२३) का उल्लेख किया है। कुछ खिलौनों में दाएँ-बाएँ और ऊपर तीन जूड़े या त्रिमौलिविन्यास पाया जाता है। अजंता के कुछ चित्रों में स्त्री-मस्तकों पर बँधे हुए

मौलिबंध केशरचना

त्रिविभक्त मौलिविन्यास

केशों का एक बड़ा जूड़ा मिलता है (राजा साहब औंधकृत अजंता प्लेट ६६)। इसका साहित्यिक नाम धम्मिल्ल जान पड़ता है। अमरकोष में बाँधे हुए केशों को धम्मिल ('धम्मिलाःसंयता कचाः') कहा गया है। बाण ने भी माला के छूट जाने से धम्मिलों के खुलने का वर्णन किया है (विस्रंसमानैर्धम्मिलतमालपल्लवैः,' हर्ष० ४।१३३)। अन्यत्र पुरंध्रिस्त्रियों के धम्मिलों में मल्लिका की माला गूँथे जाने का वर्णन है (हर्ष० १।१५)। किन्हीं मस्तकों में सिर के ऊपर श्रृंगाटक या सिंघाड़े की भाँति त्रिमौलि की रचना करके, माँग के बीच में सिरमौर, माथे पर मौलि-बंध और उससे नीचे दोनों

शृंगाटकाकार त्रिमौलि

और अलकावली छिटकी हुई दिखाई जाती है। यह त्रिमौलि और अलक-विन्यास का सम्मिश्रण है। गुप्तकाल की पत्थर की मूर्तियों में एक और प्रकार की केश-रचना भी मिली है। सिर के ऊपर गोल टोपी की तरह मौलि-बंध और दक्षिण-वाम पार्श्व में उससे निःसृत दो माल्य-दाम लटकते रहते हैं। राजघाट के एक मृण्मय स्त्री-मस्तक में भी यह रचना मिली है जो इस समय लखनऊ के अजायबघर में है।

राजघाट से प्राप्त तीन मस्तक ऐसे हैं जिनका केश-विन्यास सबसे विशिष्ट है। ये मस्तक सौंदर्य में एक से एक अपूर्व हैं और इनमें सिर के दक्षिण भाग में

जटाजूट के सदृश केशबंध

पार्वती परमेश्वर मस्तक

जटाजूट और वाम में घूँघर या अलकावली का प्रदर्शन है। हमारे विचार में

ये मस्तक पार्वती-परमेश्वर की कांता-सम्मिश्रण देहवाली मूर्ति को प्रकट करते हैं। राजघाट के खिलौनों में देवमूर्तियाँ बहुत ही कम हैं। लगभग दो-तीन सिर और हैं जो विष्णु या सूर्य की मूर्तियों के रहे होंगे।

राजघाट के खिलौनों की दूसरी मुख्य विशेषता जो गुप्तकालीन कला पर नया प्रकाश डालती है, उन पर पुते हुए रंग हैं। ये रंग कुम्हारों के साधारण पोत की तरह नहीं हैं। इनमें कुशल चित्रकारों की कूँची की चित्रकारी पाई जाती है। एक स्त्री-मूर्ति की साड़ी को लाल और सफेद रंग की लहरियों से चित्रित किया गया है। इसी मूर्ति में काली कुचपट्टिका दिखाई गई है। एक छोटी बालक-मूर्ति के जाँघिए में खड़ी दुरंगी डोरियाँ दिखाई गई हैं। ये दोनों प्रकार अजंता के भित्तिचित्रों में मिलते हैं (राजा साहब औंध कृत अजंता, चित्र ६५ और ६६)। कुछ स्त्री-मस्तकों में चित्रकार ने बहुत सावधानी से काली रेखाओं के द्वारा सिर के बाल, भुजाओं के केयूर, कंठहार और स्तनहारों को भी इंगित किया है। कुछ में नेत्रों के पलक और भ्रूलताओं की काली रेखाएँ बिलकुल स्पष्ट दिखाई देती हैं। इस प्रकार के चित्रित खिलौनों पर किसी रंग का पोत अवश्य पाया जाता है। जान पड़ता है कि पकाने के बाद ये खिलौने कुम्हार के हाथ से निकालकर चित्रकार के सुपुर्द कर दिए जाते थे। संभवतः भारतीय कला की जैसी परिपाटी आज दिन तक रही है उसके अनुसार निर्माण और चित्रण के दोनों कार्य कुशल कुम्हारों के ही हाथों में संपन्न होते होंगे। बाणभट्ट ने इस प्रकार के चतुर कुम्हारों के लिये ही 'पुस्तकृत्' (हर्ष० १।४२) और 'लेप्यकार' (४।१४२) शब्दों का प्रयोग किया है। पुस्त से ही हिंदी शब्द पोत का संबंध है। सर्वप्रथम मुलतानी मिट्टी का एक पोता फेर कर उसके ऊपर यथाभिलषित लाल, पीले, हरे या सफेद रंग का अंतिम पोत फेरा जाता था और फिर उसके ऊपर चित्रकारी की जाती थी। इस प्रकार चार-पाँच अंगुल के छोटे से खिलौने को भी गुप्तकालीन कलाकार अनुपम कलाकृति में परिणत कर देता था। केश-विन्यास, आभूषण, वस्त्र, नेत्र, भ्रूपंक्ति आदि के मनोज्ञ रेखाकर्म में कला की श्रेष्ठता का वही ढंग दिखाई देता है जो बड़ी प्रस्तर-मूर्तियों में या पूरे भित्ति-चित्रों में मिलता है। गुप्त-

कालीन रंगों की वैज्ञानिक छानबीन अभी होने को है। परंतु संभवतः लाल रंग के लिये हिरमिजी, हरे के लिये हरताल, सफेद के लिये शंख का चूना या सफेदा, हलके पीले के लिये रामरज और गहरे पीले के लिये मनसिल काम में लाई जाती थी। कालिदास ने धातु-राग या गेरू के द्वारा रेखांकन का वर्णन किया है (मेघदूत २।४२)[१]। बाणभट्ट ने एक जगह बिजली की तरह चमकीले पीले रंग के लिये 'मनःशिलापंक' (हर्ष० ३।१०३) का उल्लेख किया है। बाण ने चित्रकर्म में कई रंगों को मिलाकर रंग बनाने का भी वर्णन किया है ('चित्रकर्मसु वर्णसंकराः,' कादंबरी पृ० १०)।

गुप्तकालीन खिलौनों को धोने से पहले उनके रंगों को ध्यानपूर्वक देख लेना चाहिए। ऐसा न हो कि रंगीन खिलौनों की चित्रसारी धोने के साथ नष्ट हो जाय। राजघाट के अतिरिक्त प्रयाग के पास भीटा (प्राचीन सहजातेय) स्थान से भी गुप्तकालीनरंगीन खिलौने पहले मिल चुके हैं। उनका सचित्र वर्णन सन् १९११-१२ की पुरातत्त्वविभाग की रिपोर्ट में सर जान मार्शल द्वारा प्रकाशित किया गया था। केश-विन्यास के भी उनमें अच्छे नमूने हैं; पर उस सामग्री का विस्तृत वर्णन किसी समय स्वतंत्र रूप से होना चाहिए। ज्ञात होता है कि गुप्त-कालीन खिलौनों की कला का प्रभाव-क्षेत्र न केवल समस्त उत्तर भारत में पहाड़पुर (बंगाल) से लेकर मीरपुर-खास (सिंध) तक था, बल्कि गंधार-कपिशा तक भी था। अफगानिस्तान के कपिशा नामक स्थान (आधुनिक बेग्राम, काबुल से लगभग ५० मील) की उपत्यका में शाहगिर्द स्थान से गुप्त-समय के रंगीन स्त्री-मस्तक प्राप्त हुए हैं जो इस समय काबुल के संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन ने उनके संबंध में लिखा है—"एक जगह पचासों स्त्री-मूर्तियों के सिर रखे थे। इनमें पचासों प्रकार से केशों को सजाया गया था, और कुछ सजाने के ढंग तो इतने आकर्षक और बारीक थे कि मोंशिए मोनिए (फ्रेंच राजदूत जो राहुल जी के साथ थे) कह रहे थे कि इनके चरणों में बैठकर पेरिस की सुंदरियाँ भी बाल का फैशन सीखने के लिये बड़े उल्लास से

---

[१] 'त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्।'

तैयार होंगी। उस वक्त यंत्र से बालों में लहर डालने का ढंग मालूम नहीं था, फिर न मालूम कैसे उस वक्त की स्त्रियाँ ऐसी विचित्र और बारीक लहरें बहाने में समर्थ होती थीं।[1] वस्तुतः इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। गुप्तयुग भारतीय प्रसाधनकला का भी स्वर्णयुग था। इस विषय का अत्यंत मनोहर वर्णन कालिदास ने विवाह से पूर्व पार्वती के मंडन-संपादन के प्रसंग (कुमारसंभव, सप्तम सर्ग) में किया है।

राजघाट के अन्य खिलौनों में कुछ पशुओं के हैं, जैसे हाथी, शेर, ऊँट, कुत्ता आदि। एक पीला झुंझना सूअर की आकृति का है जिसकी जोड़ का एक नमूना मथुरा में भी मिला है। भौगोलिक प्रसार की दृष्टि से हर एक युग के खिलौनों का श्रेणी-विभाजन भी बड़ा रोचक और उपयोगी सिद्ध हो सकता है। मरकमुखी, सिंहमुखी और कच्छपमुखी, कई तरह की टोंटियाँ मिली हैं जो कला की दृष्टि से सुंदर हैं। हर्षचरित में मकरमुख प्रणाली या टोंटी का उल्लेख आया है (हर्ष० ४।१४२)। बौद्ध साधुओं द्वारा प्रयुक्त अमृतघट भी मिले हैं जिनमें लंबी गर्दन के ऊपर बहुत महीन छेद बना है। कहा जाता है कि बौद्ध भिक्षु इनके द्वारा अमृत चूसने की साधना का प्रयोग करते थे।

काशी प्राचीन पुरियों की साम्राज्ञी है। उसका नामकरण जिस उदारता से हुआ है उतना सौभाग्य शायद ही किसी दूसरे स्थान को प्राप्त हुआ हो। युवंजय जातक (जातक सं० ४६०) में कहा गया है कि काशी का एक नाम रम्म या रम्य था। उदय जातक के अनुसार इसका नाम सुरुंधन था। संभवतः गंगा-गोमती के बीच में इसकी सुदृढ़ स्थिति के कारण यह नाम प्राप्त हुआ था। चुल्लसुतसोम जातक में इसे सुदस्सन अर्थात् अत्यंत दर्शनीय नगरी कहते थे। सोणंदन जातक के अनुसार इसकी संज्ञा ब्रह्मवद्धन थी। यह नाम कितना सार्थक है! काशी भारतीय ज्ञान की अभिवृद्धि में सदा से अग्रणी रही है। खंडहाल जातक में काशी को पुप्फावती (=पुष्पवती) कहा गया है जो नाम आज भी

---

[1] नागरी-प्रचारिणी, पत्रिका, वर्ष ४४, पृ० २०७।

फूलों की नगरी काशी के लिये अन्वितार्थ है। काशी उत्तरापथ के व्यापार की सब से बड़ी मंडी थी। व्यापारी सार्थवाह जब माल लेकर काशी पहुँच जाते तो समझते अब बड़ा लाभ होगा। इसलिये वे अपनी भाषा में काशी को 'जित्वरी' कह कर पुकारते थे। इस पुरातन परंपरा से समृद्ध वाराणसी पुरी को भारतीय पुरातत्त्व के क्षेत्र में भी अपना समुचित स्थान ग्रहण करना योग्य है। राजघाट की वस्तुएँ उसी दिशा का मार्ग प्रशस्त करती हैं।

---

२४. मध्यकालीन शस्त्रास्त्र

(मेरी दतिया-यात्रा)

१३-१४ मई को दतिया-नरेश महाराज श्री गोविन्दसिंह जी की कृपा से मुझे दतिया एवं उसकी पुरानी इमारतें देखने का अवसर मिला। दतिया का पुराना नाम दिलीपनगर कहा जाता है, क्योंकि इसे महाराज दलपतराय ने बसाया था। पर इस प्रदेश में दन्तवक्र के राज्य करने की पुरानी परम्परा के कारण नगर का नाम दतिया पड़ गया, ऐसी यहाँ मान्यता है। इसमें सत्यांश जान पड़ता है। पाणिनि के कार्तकौजपादयः सूत्र [६ । २ । ३७] के गण में जो उदाहरण मिलते हैं, 'कुन्ति-सुराष्ट्राः', 'चिन्तिसुराष्ट्राः', ये पुराने भौगोलिक नामों के जोड़े हैं। किसी समय कुन्ति-जनपद और सुराष्ट्र-जनपद का घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था, जिसके कारण इन दोनों का नाम एक साथ लिया जाने लगा और वह शब्द कुन्ति-सुराष्ट्राः इस समास के रूप में भाषा में पड़ा रह गया। यही बात चिन्ति-सुराष्ट्र के बारे में भी लागू है। चिन्ति-जनपद और सुराष्ट्र-जनपद का जोड़ा चिन्ति-सुराष्ट्र कहलाता है। विचार करने से इस भौगोलिक नामकरण की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि कुछ इस प्रकार सामने आती है। कुन्ति आजकल का कोंतवार प्रदेश है, जिसमें ग्वालियर दतिया का हलका है जो चम्बल, कुआरी, काली सिन्ध और पहूज नदियों के कच्छ का प्रदेश था। यहीं कुमारी नदी के किनारे कौमार अवस्था में कुन्ती ने कर्ण को जन्म दिया था। बिना कारण भौगोलिक नाम नहीं पड़ते। आज भी कुमारी नदी उस घटना की सार्वजनिक स्मृति के रूप में कोंतवार या कुन्ति-जनपद के बीच से बह रही है। जब कृष्ण ने दन्तवक्र को परास्त किया तो कोंतवार का प्रदेश सुराष्ट्र के साथ राजनैतिक सूत्र में बँध गया और यहाँ की कच्छ भूमि गोपाल-कच्छ कहलाने लगी। यहाँ के रहने वालों का दूसरा नाम नारायण-गोपालाः प्रसिद्ध हुआ जो महाभारत में कई जगह आता है। इसी के बाद ग्वालियर पहाड़ी गोपालक गिरि या गोपाचल कहलाने लगी। महाभारत के युद्ध में कृष्ण ने यहीं के ग्वालों

की नारायणी सेना को दुर्योधन को दे दिया था, अतएव, कृष्ण के राज्य से सम्बन्धित होने पर भी नारायण-गोपाल पांडवों से लड़े थे। इसी प्रकार चिन्ति-प्रदेश नर्मदा के दक्षिण माहिष्मती-मान्धाता का पुराना नाम ज्ञात होता है जो इतिहास में चेदि के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ का राजा शिशुपाल भी कौरवों का पक्षपाती था। उससे कृष्ण की टक्कर हुई और राजसूय यज्ञ के समय कृष्ण ने उसका अन्त कर डाला। इसके बाद अवश्य ही नर्मदा के दक्षिण का प्रदेश, बरवानी से लेकर जबलपुर तक का इलाका, सुराष्ट्र के राज्य में मिला लिया गया होगा। उस समय से चिन्ति-सुराष्ट्र, यह भौगोलिक नामों का जोड़ा लोक में प्रयुक्त होने लगा था।

कोंतवार प्रदेश जंगलों से भरा हुआ है। वहाँ जंगलों की शोभा अपूर्व है। नदियों के कक्ष वन्य-सम्पत्ति और पशु-सम्पति से भरे हुए हैं। किसी समय, जब राज्य और जनता के सम्बन्ध अच्छे थे, यह प्रदेश घी-दूध से भरा हुआ था। भविष्य में भी जब जनता का भाग्योदय होगा, यहाँ की प्राकृतिक सम्पत्ति और पशु-धन से लोग मालामाल हो जाएँगे। कहते हैं, यहाँ गेरू, खड़िया, रामरज आदि बन्नी मिट्टियों का और पत्थर की गिट्टियों का भंडार भरा है। रंगीन मिट्टी यहाँ खबीस मिट्टी (सं. कपिश प्रा० कबिस) कहलाती है। स्टेशन पर ही बजरी के ढेर लगे देखे। उसके तोड़ने वाले सौनगर कहलाते हैं। जलाऊ लकड़ी का भी जंगलों में काफी निकास है और जंगलों में रहने वाले मोगे या सहरिये जगह-जगह भट्टियाँ बनाकर कोयला फूँकते हैं। इमारती लकड़ी में धौ के जंगल हैं; शीशम भी होता है।

दतिया से तीन मील पर जैनों का तीर्थ सोनागिरि पहाड़ है जो जैन ऋषि-मुनियों की तपश्चर्या के कारण प्रसिद्ध निर्वाण-क्षेत्र है। अब इसका उद्धार हो रहा है। पचास से ऊपर मंदिर पहाड़ी पर बन गए हैं, उनमें से बहुतों का संगमरमर से पुनः निर्माण हो रहा है। नये मंदिर भी बनते जाते हैं। लगता है कुछ काल बाद मंदिरों की नगरी के रूप में इसका विकास हो जाएगा। चन्द्रप्रभु के बड़े मंदिर के सामने मान-स्तम्भ भव्य बन पड़ा है। मंदिर में भी फर्श नये ढंग का साफ-सुथरा है किन्तु सबसे अधिक आँख में चुभने वाली

बात यह है कि कला-प्रेम के कारण मंदिरों में जापानी ढंग से चीनी के रंगबिरंगे चौकों का प्रयोग होने लगा है। यह भोंडी चटक-मटक जैनों की अपनी श्रेष्ठ वास्तुकला के साथ बड़ा अन्याय कर रही है जो अनजान में हो रहा है। परन्तु इसे बन्द करना चाहिए। पहले युगों में पत्थर और संगमरमर को मोम की तरह भाँति-भाँति की उकेरी से सजा कर जैन श्रावकों और संघपतियों ने वास्तुकला के क्षेत्र में एक चमत्कार ही कर डाला था। और न सही, उसकी लाज से ही इस अज्ञान-जनित नये प्रयोग को अविलम्ब त्याग देना उचित है।

दतिया में सारे भारत का तीर्थ ओरछे के बुंदेले महाराज वीरसिंह देव का सतखंडा महल है। दो खंड धरती के नीचे और पाँच खंड ऊपर बने हैं। प्रत्येक खंड में चार चौक और बीच में मंडप है जो क्रमशः उठते चले गए हैं। यह महल १७वीं शती की प्रासाद-निर्माण-कला का अद्‌भुत उदाहरण है। भारतवर्ष में पुराने महलों के उदाहरण यों ही कम बचे हैं, जो रह गए हैं उनका भी अध्ययन अभी तक नहीं किया गया। महलों के भिन्न-भिन्न भाग मंदिर कहलाते हैं, जैसे सुख-मंदिर जहाँ राजा विशेष रूप से समाज करके संगीत-नृत्य का सुख लेते थे। प्राचीन हिन्दू-काल के महलों की परम्परा मध्य-कालीन महलों में आई और विकसित हुई। फिर मुगल और राजपूत राजाओं के महलों का युग आया और कितनी ही नयी बातें प्रासाद-रचना में शामिल हो गई। महलों के भीतर के खानगी बगीचे नज़रबाग के नाम से शुरू हुए। जल-विहार के लिए सावन-भादों नामक दो विशेष महल बनाए जाने लगे। वीरसिंह देव का यह महल अकबर के फतेहपुर-सीकरी वाले पँचखडे महल की तरह हिन्दू परम्परा पर आश्रित है। महल का प्रवेश-द्वार आज भी 'सिंहपौर' कहलाता है। चौथे खण्ड पर मण्डप की शोभा विशेष सुन्दर है, वहीं सुखसाज़ का सुहाग मन्दिर था। यहाँ छत में चित्र लिखे हुए थे और खम्भों पर उकेरी बनी थी। सबसे ऊपर की गूमट में बहार बुर्ज या हवा महल था। अब इस महल की जो दुर्दशा है उसे कहने के लिये हमारे पास शब्दों का टोटा है। बसाए हुए शरणार्थियों ने इसे घूरे का ढेर बना दिया है। यह बुन्देलखण्ड के राष्ट्रीय गर्व का स्मारक और प्रासाद-कला का तीर्थ है। क्या कोई इसकी बात सुनेगा?

दतिया में महाराज का पुराना शस्त्रागार या सिलहखाना है। उसमें से राष्ट्रीय संग्रहालय के लिये कुछ नमूने चुन लेने के लिये श्री महाराज साहब ने उदारतापूर्वक हमारे विभाग को आमन्त्रित किया था। शहर में गढ़ के भीतर जो पुराना महल है उसके सामने ही दो 'सिप्पे' (आधी नाल की तोप जो अंग्रेजी मॉरटर के तुल्य हुई) रखे हुए हैं। किले के बाहरले और भीतरले द्वारों के बीच का घूमा हुआ भाग राजस्थान में 'घूघस' और बुंदेलखण्ड में 'रैनू' कहलाता है। वहीं एक भारी, लगभग ८ फुट नाल और दो फुट व्यास की तोप रक्खी हुई है जिस पर एक लेख खुदा है। उसके अनुसार अकबर द्वितीय के समय में संवत् १८८८ में पारीछित महाराज के राज्यकाल में दलीप-नगर के मुहीउद्दीन नामक लुहार ने यह तोप ढाली थी। आश्चर्य है, केवल सवा सौ वर्ष पहले एक साधारण लुहार की भट्टी इतनी बड़ी ढलाई का काम कर सकती थी जो आज भी इने-गिने कारखानों में ही हो सकता है। इसी तरह की बहुत सी बड़ी तोपें मध्य काल में ढाली गईं जो जहाँ-तहाँ पुराने किलों में बिखरी हुई हैं। किसी समय उनका संग्रहात्मक इतिहास बड़ा रोचक होगा।

पुराने हथियारों पर अभी कोई अच्छा परिचयात्मक ग्रन्थ नहीं लिखा गया। सिकलीगरों से उस विषय की मूल्यवान् सामग्री मिल सकती है। अलवर के अजायब-घर में लगभग दो हजार तलवारों का संग्रह है। उसे देखने के बाद पहली बार हमें अनुभव हुआ कि इस विषय की कितनी शब्दावली अभी तक बच गई है। समय रहते उसका संग्रह होना आवश्यक है। सोमेश्वर के समय (११२७-११३८ ई०) के 'मानसोल्लास' के 'शस्त्रविनोद' प्रकरण में शस्त्रों का पर्याप्त वर्णन है। पुनः १४वीं शती के आरम्भ में मैथिली भाषा में लिखे हुये 'वर्णरत्नाकर' ग्रन्थ में पाणयायुध और दंडायुध भेद से दो तरह के हथियार बताये हैं और ३६ प्रकार के दंडायुधों का उल्लेख किया गया है। सन् १४२१ में विरचित पृथ्वीचन्द्र-चरित में ३६ दंडायुधों की सूची इस प्रकार दी हुई है:—१. वज्र, २. चक्र, ३. धनुष, ४. अंकुश, ५. खंग, ६. छुरिका, ७. तोमर, ८. कुंत, ९. त्रिशूल, १०. भाला, ११. भिंडमाल, १२.

भुसंडि, १३. मद्रिक, १४. मुद्गर, १५. अरल, १६. हल, १७. परशु, १८. पट्टि, १६. शविष्ट, २०. कणय, २१. कंपन, २२. कर्तरी, २३. तरवारी, २४. कुद्दाल, २५. दुष्फोट, २६. गदा, २७. प्रलय, २८. काल, २६. नाराच, ३०. पाश, ३१. फल, ३२. यंत्र, ३३. द्रस, ३४. दंड, ३५. लगड, ३६. कटारी। उसके लगभग डेढ़ शती बाद के 'आईन-अकबरी' में भी शाही सिलहखाने के हथियारों का वर्णन (आईन ३५) है, जिसमें सोमनाथ-पाटन की बनी हुई बढ़िया फौलादी तलवारों का और जामधार एवं खपवा नामक गुजरात को कटारियों का विशेष उल्लेख है। १८वीं शती के सुजान चरित में भी जाटों द्वारा दिल्ली की लूट के प्रसंग में हथियारों का अच्छा वर्णन है, यथा :—

तुपक तीर तरवार तमंचा तेगा तीछंन।
तोमर तबल तुफंग दाब लुट्टियौ तिहीं छन॥
पट्टा पट्टी परस परसि बिछुवा बर बाँके।
बल्लम बरछा बरछि धनुष लिय लटि निसाँके॥
बुगदा गुपती गुरज डाढ जमकील सुतारी।
सूल अंकुसा छुरी सुधारी तिष्ष कुठारी॥
सिप्पर सिरी सनाह सहसमेखी दस्तानैं।
झिलम टोप जंजीर जिरह लुट्टिय मस्तानैं॥
पक्खर गक्खर लक्खराग बागे रु निषंगा।
आयुध और अनेक और चिलतह बहु अंगा॥

['सुजान चरित', पृ० १७२]

सूदन की नामावली हमारे अधिक निकट है और लगभग उसी युग की है, जब दतिया का सिलहखाना बन रहा था। यहाँ पहली बार हमने लोहे की महीन कड़ियों की बनी हुई हाथी की रक्षात्मक झूल देखी। यह चार हिस्सों में बनती थी। मुँह को ढकने वाला भाग 'सिरी', दोनों बगलियों में लटकने वाला भाग 'पाखर', और दुम की ओर पुट्ठों को बचाने वाला भाग 'पिछाड़ी' कहलाता था। हाथी के दाँतों पर खाँग लगे हुए दो ढक्कन रहते थे जिन्हें 'मुहाला' कहा जाता था। घोड़े का बख्तर और मोहरा भी देखने

को मिला। घोड़े का मुँह ढकने वाला लोहे का कड़ीदार पट्टा 'अंधियारी' कहलाता था।

आदमी का जिरह-बख्तर भी देखा। अच्छा सिपाही सिर से पैर तक बख्तर से अपने आपको ढक कर बारह हथियार बाँधता था, ऐसा प्रसिद्ध है। इस बाने को 'बारहबान' कहते थे। पूछने पर बारह हथियारों की यह सूची बतायी गयी:—१. तलवार, २. तमंचा, ३. बिछवा, ४. जमदाढ़ या जमदढ़िया, ५. कटार, ६. चक्र, ७. कमान, ८. बंदूक, ९. सांग, १०. ढाल, ११. बाँस, १२. बख्तर। जिरह और बख्तर का भेद, तथा झिलम और टोप का भेद मुझे उस दिन पहली बार मालूम हुआ। लोहे की कड़ियों का बना हुआ अंगरखा जिरह कहलाता था। इसी के लिए गोसाईं जी ने 'अंगरी' (अयो० १९।१।३) नाम दिया है। अंगुलीयक या अंगूठी के आकार की कड़ियों को मिलाने से बना होने के कारण इसका यह नाम पड़ा। अवेस्ता जाय, पहलवी जाइ, पाज़न्द ज़रेह से यह शब्द निकला है। बखतर उस प्रकार का जिरह था जिसमें आगे-पीछे लोहे के तवे लगे रहते थे। उन्हें 'चार आईना' (आईने की शक्ल के दो आगे, दो पीछे के लोहे के तवे) कहते हैं। आईनों में आड़ी सलाखें जड़ी रहती हैं, जिन्हें 'पसली' कहते हैं। जो पसलीदार हो वह 'बख्तर' कहा जाता है। जिरह के ढंग का ही पाजामा बनता था। सिर पर लोहे का टोप पहन कर कड़ियोंदार झालर गरदन पर लटकायी जाती थी जिसे 'झिलम' कहते थे। दोनों के लिए 'झिलम टोप' शब्द हिन्दी में चल पड़ा। नाक की रक्षा के लिए आगे लटकता हुआ झिलम 'नकाब' कहलाता था। टोप को गर्दन से बाँधने की कड़ीदार जंजीर 'पवाई' कहलाती थी। अन्दर रूई भर कर बनाया हुआ किमख्वाब का अंगरखा जिसके ऊपर लोहे के परत जड़े रहते थे, 'चिलता' कहलाता था। उसके भीतर मगर की पसलियाँ भी रूई में भर देते थे।

मस्त हाथी को वश में करने के लिए पूरे लोहे का भारी अंकुश 'गजघाव' कहलाता था। यहाँ एक दोहरा गुर्ज भी मिला जिसमें ऊपर नीचे के दोनों सिरों पर चीमरी की भाँति का एक-एक लोहे का फाँकदार फूल लगा हुआ था। एक चार नाली की चौनाली तोड़ेदार बंदूक थी; कुछ दुनाली भी

थीं। छोटी और बड़ी 'रन्दापनास' बंदूकें देख कर चित्त प्रसन्न हुआ। किले की दीवार में, जिसे यहाँ 'रर' कहते हैं, ऊपर कुछ सूराख या मोखे बने रहते हैं, जिन्हें आजकल 'तीरकस' कहते हैं और पुराने समय में 'रन्ध्र' कहते थे। अलवर के किलेदार से हमें इनके लिए (कंगूरों में बनी हुई) 'बारियाँ' शब्द मिला था। 'रन्ध्र' से ही 'राँद' बना है। ऊपर के राँद में बंदूक रख कर दूर के दुश्मन को मारा जाता था। जब शत्रु किले की फसील के ठीक नीचे आ जाता था तब जड़ के या नीचे के राँद में बंदूक रख कर निशाना मारते थे। हमने इन मोखों को पास से देखा तो प्रत्येक के भीतर तीन-तीन मोखे थे, एक बीच का जिसे 'सामुख' कहते हैं, एक दाहिना और एक डेरा (=बाँया)। किसी समय इन राँदों में से तीर चलाये जाते थे जिससे 'तीरकस' नाम पड़ा होगा। पीछे बंदूक का प्रयोग होने लगा। उसी के लिए बड़ी बंदूकें 'रन्दापनास' कहलाती थीं।

'कुलंग' हथियार भी पहली बार देखने को मिला। यह एक लोहे के डंडे में दूसरा नुकीला डंडा लगा कर बनाया जाता था, जिससे माथे पर चोट करते थे। कुलंग पक्षी की चोंच की तरह होने से इसका यह नाम पड़ा। गुप्तीदार कुलंग भी बनाये जाते थे। कई तरह की तलवारें देखीं, जैसे 'झोका' तलवार, 'नागदमन', जिसकी धार दाँतेदार या लहरिया होती थी, 'सोसन कत्ता' और 'चौड़ा तेगा'। दो जीभ की दुभलिया कटार, लहरदार कटार और छोटी कटारियाँ [सं० कर्त्तरी] भी देखीं। 'बिछुवा' नामक हथियार पर जगदम्बा की मूर्ति बनी थी। पाँच अँगुली और छल्लेवाला बघनखा भी देखा जिसके छल्ले में तर्जनी और छिगुनी डाल कर गिरिफ्त की जाती थी।

एक गुप्तीदार फरसा था जिसके बेंट पर हाथी का मुँह बना था। 'मारू ढालदार' एक नया हथियार देखा जिसके बीच में ढाल लगी थी और दोनों ओर नोकदार दो छोटे भाले लगे थे। इसे बीच से पकड़ कर लड़वैया बचाव और मार एक साथ कर सकता था। 'कड़ाबीन' बंदूक वह थी जो एक तरफ लटकी रहती और केवल पैंतरे से चलायी जाती थी, उसमें आँख से निशाना नहीं साधा जाता था। छोटे-बड़े अनेक प्रकार के तमंचे और बंदूकें भी लड़ाई

में काम आती थीं। पिस्तौल छोटी टोपीदार, पिस्तौल छोटी पथरकला की, पिस्तौल टोपीदार और पथरकला की (जो टोपी और चकमक दोनों तरह से चिनगारी प्रज्वलित करके चलायी जाती थी)—ये तीन प्रकार देखे। पथरकला की बंदूकें और तमंचे पुराने ढंग के थे। उनमें चकमक पत्थर की रगड़ से चिनगारी उत्पन्न होकर बारूद में आग लगती थी। पथरकला का दुनाली तमंचा, पथरकला की कड़ाबीन, पथरकला की बंदूकों के कई नमूने थे।

'हाथीचिक्कार' एक प्रकार का लोहे का बना हुआ भारी भाला था जिससे पैदल सैनिक हाथी पर वार करते थे। छोटा भाला 'बुटी' कहलाता था। हाथी के धूँसने का लोहे का 'घूँसा' नामक हथियार भी होता था। 'सांग' और 'सांगी' बिल्कुल लोहे का बना हुआ भाला था। 'पृथ्वीचंद्र-चरित' में इसे 'षंग' कहा गया है। इसका फल कनेर की पत्ती के समान नोकदार होता था, इसलिए 'सांगी कनेर पत्तीदार' यह नाम चालू हो गया।

एक छोटी अद्धा तोप का नाम 'तोप गोरे की' बताया गया। ज्ञात हुआ कि इसमें गोरे पत्थर (एक प्रकार के मुलायम पत्थर का नाम) के गोले भर कर चलाए जाते थे।

इतना सामान महाराजा साहब ने पहले से ही छँटवा रक्खा था। फिर हम उनके सिलहखाने और शस्त्रों के गोदामों में गए। वहाँ भी काफी रोचक सामग्री मिली। सबसे पहले मेरा ध्यान गोलचक्र पर गया जो बीच में अंगुली या डंडा डाल कर तेजी से घुमाते हुए गर्दन का निशाना लगा कर दूर पर फेंका जाता था। 'पृथ्वीचंद्र-चरित' की सूची में 'चक्र' का नाम आया है। गिरे हुए तीर उठाने के लिए 'फूल' नामक एक यंत्र होता था जिसके सिरे पर एक फाँकदार फूल लगा रहता था। कुल्हाड़ी की तरह का एक हथियार मिला जो 'तबल' कहा जाता था और जो 'सुजान-चरित' की सूची में है।

तीर-कमान मध्यकाल का खास हथियार था। धनुर्वेद के ग्रन्थों में बाण, धनुष बनाने और उनके प्रयोग के अनेक विवरण मिलते हैं। नेपाल के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित 'धनुर्वेद संज्ञक' (सं० ५५७) ग्रन्थ में निम्न विषय हैं—धनुर्धर-प्रशंसा, धनुर्धारण-विधि, धनुः-प्रमाण, गुण-लक्षण,

फल-लक्षण, पायन-विधि, नाराचनालिका-लक्षण, स्थान, गुणमुष्टि-लक्षण, धनुर्मुष्टि-लक्षण, लक्ष्य-लक्षण, शर-लक्षण, लक्ष्य-संचालन-विधि, शीघ्र-साधन, दूर-पातित्व, दृढ़-प्रहारता, हीन-गति, लक्ष्य-चलन गति, धनुर्गति, बाण-भंग, वराठिका, बिन्दुक, गोलयुग्म शब्दभेदी आदि। कुछ दिन पूर्व अलवर से हमें "रिसाला तीरंदाजी" नामक हस्तलिखित फारसी ग्रन्थ मिला था। उसमें ये सब विषय फारसी की चुस्त शब्दावलो में ब्यौरेवार लिखे हैं। दतिया के सिलहखाने में कमानें रक्खी देख कर हमने अनुमान किया कि वे बाँस या लकड़ी की बनी होंगी, पर हमें बताया गया कि रेशम कूट कर उसे सरेस से पतली लकड़ी पर चिपका कर धनुष बनाते थे जो मुड़ने या झुकने पर भी टूटता न था। तीर के पिछले सिरे पर एक खाँचा बना रहता है जिसे डोरी या गोशे पर रखकर तब डोरी को पीछे की ओर खींचते थे। यह चिरा हुआ सिरा 'सूपाल' कहलाता था। डोरी ताँत की या रेशम की बनाई जाती थी। तीर कई प्रकार के थे, 'फुल्लीदार', जो सिर्फ निशान डालने के लिए चलाए जाते थे, जिन्हें 'तुक्का' भी कहा जाता था; भालदार, वह तीर जिसके फल में नोक या अनी हो; 'चौपैला' (चौपहल फल का), कनेरपत्ती का (लम्बी पतली धारदार पत्ती की आकृति के फल का)। नावक का तीर भी देखा। वह नली में रखकर चलाया जाता था। नली धनुष में ही अटक कर रह जाती थी पर उसमें रखा हुआ नावक पूरे वेग से हवा को चीरता हुआ निशाने में पूरा का पूरा घुस जाता था, अतएव उसका बाहर निकालना कठिन या असम्भव था। स्कूल में पहले कभी 'चले चन्द्रबान, घनबान औ कुहकबान; चलीं कमान, घूम आसमान, छ्वै रह्यो' यह पद्य पढ़ा था। यहाँ पूछने पर ज्ञात हुआ कि 'चन्द्रबान' के भाल में चन्द्र लगा रहता है जिससे वह दोहरा घाव छेदता था। 'घनबान' में आगे गुटका सा लगा रहता था जिसमें ज्वलनशील पदार्थ भरा रहता था। चलाते समय उसमें आग लगाकर बाण छोड़ते थे। 'कुहकबान' में आगे एक ढीबरी लगी रहती थी जिसमें चार छेद होते थे। उनमें आगे से हवा भरती और पीछे से निकलती थी और कोयल कूहकने का सा शब्द होता था जिससे यह नाम पड़ा था। 'तिभालिया' (तीन नोक की)

गुप्ती, नाहरमुखी ब्रेंट की गुप्ती, तिपहला बल्लम, अणियादार (अणी = नोक) पेशकब्ज भी देखा। 'तूल' वह डंडा होता था, जिसके सिरे पर एक ठोस फूल बना रहता था जिससे सिर पर चोट मारने का काम लिया जाता था।

कटार हिन्दू काल का हथियार था। उसकी बनावट इस प्रकार की होती है। दो सीधी पत्तियों के बीच में दो आड़ी डंडी लगी रहती हैं। पत्तियों का ऊपरी सिरा खुला हुआ और नीचे का एक कमांचे से जुड़ा रहता है। इसी कमांचे में फल लगा रहता है। खड़ी पंत्तियों को 'टालें', आड़ी डडियों को 'भोगली', कमांचे को 'कन्धा' कहते हैं। फल में ऊपर के हिस्से में सुन्दरता के लिए पान को आकृति और बीच में नस बनी होती है, और अलग-बगल का हिस्सा 'सींक' कहलाता है।

तलवारों के अनेक भेद हैं। मूठ और फलों की रचना से उनके अलग-अलग नाम पड़ते हैं। तेलुगु भाषा में 'खड्ग-लक्षण शिरोमणि' नामक एक ग्रन्थ मिला था, जिसे मद्रास विश्वविद्यालय के तेलुगु विभाग के अध्यक्ष प्रो० वेंकटराव ने प्रकाशित किया है। उसमें १३० के लगभग तलवारों के नाम दिये हुए हैं। ये नाम अरबी-फारसी की परम्परा प्रकट करते हैं, जो अवश्य ही भारतवर्ष में इस्लामी राज्य के बाद यह चालू हुए। इनमें कुछ नाम विलायती परम्परा के भी हैं। टीकमगढ़ के दीवान श्री कर्नल सज्जनसिंह ने एक बार मुझे तलवारों और मूठों के सम्बन्ध में कुछ शब्द बताए थे। उनसे इस विषय में मेरी रुचि जागृत हुई और मैंने उनसे प्रार्थना की कि वे इस विषय के अपने ज्ञान को लिपिबद्ध करने की कृपा करें। वे सम्भवतः ऐसा कर भी रहे हैं। उन्होंने मूठ के अलग-अलग भागों के नाम बताए जैसे-१. फूल, २. कटोरी, ३. कंठ, ४. अंबिया, ५. परज, ६. चौक, ७. गटा, और ८. चुंजक। इसका एक दोहा भी उन्होंने कहा था[१] इस यात्रा में ज्ञात हुआ कि फूल के ऊपर की गोल फुटक 'निबौरी' कहलाती है। कटोरी को 'बिलिया', कण्ठ को 'गला', गट्टों को

---

[१] पर्ज चौक चुंजक गटा अमिया ठोली फूल।
कंठ कटोरी ये सखी नौ नग गिनिए मूठ॥

'तोड़े' और अंबिया व चुंजक के जोड़ को 'चौक' भी कहते हैं। किन्हीं मूठों में कटोरी के ऊपर लम्बा टूंड-सा निकला रहता था, उसे 'नेतुआ' कहते थे। अंबिया को पुतली और फारसी में 'बुत' भी कहते हैं। कहीं-कहीं निबौरी में एक कड़ी पड़ी रहती है जिसे 'नथली' कहते हैं। दतिया में उसका नाम 'दस्कती' भी मिला। दस्तखत करने वाली मुहर की आकृति से मिलने के कारण उसका नाम पड़ा होगा। मूठ को फारसी में 'कब्जा' कहा जाता है। मूठ में नीचे जो चिम्टा-सा निकला रहता है उसका नाम संस्कृत के 'मानसोल्लास' में 'सूसक' मिलता है, क्योंकि शिशुमार या सूँस के खुले हुए मुँह से उसकी आकृति मिलती है। आभूषणों से भी ग्राहमुखी या सूँस-मुखी जो सिरे बनाये जाते हैं इन्हें 'सूसक' कहा जाता था। मध्यकालीन शब्दावली का यह पारिभाषिक शब्द था। 'चुंजक' की व्युत्पत्ति 'चुंज' (चोंच) से ज्ञात होती है। श्री सज्जनसिंह जी ने मुझे कुछ तलवारों के नाम भी बताए थे, जैसे शिवदासी, पुर्तकाली, हजारा (जिसके फल में पाँच नाल पड़ते हैं), अलेमानी, गुजराती (तीन नाल वाली), नादौत (राजपीपला रियासत का पुराना नाम नांदोत था, वहाँ की दो नाल वाली तलवार नादौत कहलाती थी; 'आईन-अकबरी' में भी नादौत तलवार का उल्लेख हुआ है)। इस विषय की शब्दावली अपार है और विषय भी रोचक है। परज (फिंगर-गार्ड) के साथ की मूठ, जिसमें चौड़े पक्खे भी लगे हों, 'खपरियादार' कहलाती है। म्यान के हिस्सों के भी अलग-अलग नाम होते हैं। ऊपर की सजावट 'मुँह-नाल' और नीचे की 'तहनाल' कहलाती है। एक छुरी की म्यान की तहनाल कुछ आगे निकली हुई थी, उसका नाम 'एड़दार तहनाल' बतलाया गया। तलवार की तहनाल में 'पूँछरी', 'चौंथ', 'कौंथ' कई प्रकार की बड़ी-छोटी सजावट नीचे की ओर बनती थी।

ढाल भी कई तरह की होती थी। मुरादाबादी ढालें धातु की बनी होती थीं। गैंडे की खाल की ढालें तो सुनी और देखीं थी, पर यहाँ रेशम कूट कर बकरे के खून के साथ जमाई हुई ढालें दिखायी गईं जो 'सिलट' कहलाती हैं। ढाल के पीछे हाथ डालने का फन्दा 'हथमासी' (हस्तपाशिका) कहलाता है।

दतिया के सिकलीगर छुट्टू की सहायता से हमें इस सिलहखाने को

ठीक से देखने की आँख प्राप्त हुई। हम छुट्टू गुरु के ऋणी हैं। अत्यन्त सौम्य और विनीत, वह भारतीय परम्परा का भंडार था। उसने बताया कि तलवार और गदका-फरी के हाथ और दाँव न्यारे-न्यारे होते हैं। गदका-फरी से अभ्यास कराया जाता था। एक सुन्दर गदके के दस्ते में भीतर दाने पड़े हुए थे जिसके कारण प्रयोग के समय वह बजता था। गदके के साथ की ढाल 'फरी' कहलाती है। वह सूत से बुनी हुई बहुत हल्की होती है। गदके के तीन पैंतरे और तलवार के पाँच पैंतरे होते हैं। पैंतरों (पदान्तर) के लिये पुराना शब्द 'स्थान' है। संस्कृत में कहा है 'स्थानानिधन्विनां पंच'। ये ही पाँच तलवार के भी पैंतरे हैं। अलवर में मुझे ज्ञात हुआ था कि कटारों और तलवारों का लोहा कई प्रकार का बनाया जाता था, जैसे १. सकेला (बहुत कड़ा लोहा जिसे ताव दे कर पक्का करते थे); २. खेड़ी (सकेले से उतर कर मुलायम); ३. गजवेल (फौलाद से ज्यादा मुलायम); ४. फौलाद; ५. नालपारा (खेड़ी से मिलता हुआ नर्म लोहा)। भारतीय फौलाद की कीर्ति सिकन्दर के समय में भी यूनान तक पहुँच गई थी और पंजाब के वीर गण-राज्यों ने संधि के समय अपने यहाँ की असल फौलद उसे भेंट में दी थी। बढ़िया फौलाद में बढ़िया रंग, अबर, और जौहर निकलता है। सतियों का 'जौहर' 'जतुगृह' (जउहर-जौहर) शब्द से बना है; तलवार का 'जौहर' 'जवाहिर' का रूप है। तलवार का फल जब तैयार हो जाता है, तब उस पर मसाला फेरने या रगड़ने से सिकलीगर चमक पैदा करते हैं। उस समय उसमें गोल-गोल चक्कर और निशान प्रकट होते हैं, सारे फल पर कबूतर की सी आँखें बिखर जाती हैं। ये निशान जौहर कहलाते हैं। 'मानसोल्लास' में इन्हें 'पोगर' कहा है। विलायती 'ऊने' सकरे, टेढ़े और बढ़िया लोहे के आते थे और उनके फलों पर अबर जैसा निकला होता था। 'ऊना' का अर्थ है कम लम्बाई की तलवार। तलवार की लम्बाई सदा से तीस अंगुल से अधिक रखी जाती थी, और बत्तीस अंगुल के भीतर होती थी। इसी कारण तलवार का एक पुराना नाम 'निस्त्रिंश' पड़ गया था। इसी प्रकार की एक परम्परा किले की चार-दीवारी या डंडे की ऊँचाई के विषय में भी मिली। अलवर के राजगढ़ के किले के किलेदार से यह जान कर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई थी कि किले का डंडा हर

जगह १८ हाथ ऊँचा रक्खा जाता है। जातकों में अट्ठारह हाथ ऊँची प्राकार (अट्ठारस-हत्थ पाकार) का बहुत वर्णन आता है। वह परम्परा आज तक दुर्ग-निर्माण में चली आई है। इसी प्रकार तलवार की लम्बाई के विषय में भी है। 'ऊना' और 'दमतमाचा' तलवारें सामान्य लम्बाई से छोटी होती हैं।

तलवारों की किस्मों के नाम अनेक हैं। उनकी अच्छी सूची अलवर से मिली थी। यहाँ प्राप्त कुछ नाम इस प्रकार हैं—बन्दरी, फिरंग, मवइ, कूँची, सिरोही, जुनब्बी, दुनावी, शाहजहाँपुरी तेगा, पचनाली, चौनावा तेगा, पचनावा, अलेमानी, हलब्बी आदि। 'बन्दरी' तलवारें विलायतों से आती थीं और बन्दरगाहों पर उतरती थीं। 'बारहबन्दरी' प्रसिद्ध हो गई थीं, जैसे जहाजी, मोतनी, कूँची, मवई, फिरंगी आदि। "खड्ग लक्षण शिरोमणि" ग्रन्थ में बीस बन्दरियों का उल्लेख है, जैसे, चान्दू बंदर, गोआ बन्दर, महमद बन्दर, बेल बंदर, नाट बंदर, आरा बंदर, फ्रांस बंदर, जगना (?) बंदर, पूतनकेशि बन्दर, येना बन्दर, लैमनी बंदर, मोनाबी बंदर, लिनाबी बंदर, बूरे बंदर, पामू बंदर, द्यालू बंदर, बत्ताली बंदर, कायन्ते बंदर, अंग्रेजी बंदर, मुहम्मद बंदर। इन बंदरगाहों की पहचान करनी आवश्यक है, जहाँ से विलायती तलवारें १८ वीं शती में भारतवर्ष में आने लगी थीं।

तलवार के फल में हलका खाँचा बनाया जाता था जो 'नाव' कहलाता था। उसी से पाँच सींकों वाला तेगा 'पचनावा' कहलाता था। यदि नाव या नल फल की पूरी लम्बाई तक न होकर आधी दूर तक हो तो उसे 'तोड़ा' कहते थे। तीन सींकें पड़ी हुई तलवार 'जुनब्बी' कहलाती थी, जिनकी अंबिया भी सींकेंदार होती थी। अलवर के सिलहखाने में दो सींकों वाले फल को 'जनूबी' और तीन को 'फरुखबेगी' बताया गया था। सिकलीगरों के बताए नामों की एक-दूसरे से तुलना करके उनकी ठीक पहचान करना आवश्यक जान पड़ता है। नामों के अनुसार खड्गों के चित्र भी लेने चाहिएँ। तब इस विषय का स्पष्टीकरण हो सकेगा। रूमी तलवार में फल सपाट होता है, नल-सींकें नहीं होतीं। उसका खमदम दूसरा ही होता है। सींकें होंगी भी तो अधकट या आधी दूर तक ही होंगी। 'नीमचा' या 'बचकानी' तलवारें भी होती थीं, जिनकी लम्बाई आधी

या उससे कुछ बड़ी होती थी। 'तेगा' टेढ़ी तलवार को कहते हैं। संस्कृत खड्ग (हिन्दी खांडा) तेगे का ही भारतीय नाम था। शाहजहाँपुरी तेगे मशहूर थे जो बिलकुल सपाट होते थे, फल में नल-सींकें नहीं डाली जाती थीं। आगे का फल 'ककवा,' 'पीपला' या 'अलम' कहलाता है। खाँडे में पीपला चौड़ा और दुधारा या एक-धारा भी बनता था। आहनी (लोहे के) तेगे पर सुम्मी से चित्तियाँ डाली गयी थीं। तेगा अजीजखानी, तेगा बर्दवानी (जिसकी पीठ या पूठ चौड़ी होती थी), सिरोही घाट की तलवार, गुजराती तिनावा, तेगे आहनी दो-सींकें आदि अन्य नाम भी मिले। सुलतानशाही, ताजूशाही, सलावा (खमदार), कत्ती (सीधी) मूदैठ (उल्टे खम की) सूदैठ (सीधे खम की) आबेरवा, हुसैनी, मिसरी, ईरानी, हलब्बी (लम्बे घाट) की, नागफनी (ऊपर चौड़ी, नीचे संकरी), विलायती खुरासानी, अलेमानी अस्फहानी, लहरदार, सोसनपत्ता, तेगादलेलखानी, पब्बा शाही, अखैराज शाही, अस्तम्बोली, इत्यादि अन्य अनेक नाम अलवर से मुझे प्राप्त हुए थे। पुतली, नल, सींक, म्यान की सजावट, दम-खम आदि की दृष्टि से अनेक बादशाह और राव राजे तलवारों की बनावट में भेद और विशेषताएँ पैदा करते थे जो उनके नाम से प्रसिद्ध हो जाती थीं।

'कमची' कच्चे फल की तलवार को कहते हैं, जो भुट्टी होती है और केवल जुलूस, खेल आदि में काम आती है। 'कमची तानो' मुहावरा उसी से बना है। इसी प्रकार का नुमायशी डंडा 'सोटा' होता था जिसमें पीतल की कीलें जड़ी रहती हैं। सूदन ने "सुजानचरित" में सहसमेखी दस्तानों का वर्णन किया है। इन्हें ही फारसी में हजार-मेखी भी कहते हैं। कोहनी से कलाई तक पहने जाने वाले लोहे के खोल, जिन पर छोटी-छोटी चमकीली बिरंजी या पीतल की कीलें जड़ी रहती थीं, सहसमेखी दस्ताने कहलाते थे। महीन फल का डंडा जिसमें दोनों तरफ धार रहती थी 'सूजा' कहलाता था। सोसन पत्ते की तरह के चौड़े घाट का सोसन कत्ता कहलाता था।

ऊँटों पर रख कर चलायी जाने वाली लम्बी बन्दूकें 'ऊँटनाल' कहलाती थीं। उन्हें 'जजायल' भी कहते थे, जिसे आजकल सिकलीगर 'जंजाल' कहते हैं। छोटी बन्दूकें 'रामचंगी' कहलाती थीं। घुड़सवार बल्लम का प्रयोग करते थे,

जिनमें लम्बा बाँस लगा रहता था। छोटे बाँस का भाला होता था, जिसका इस्तेमाल पैदल सिपाही करते थे। जिसमें लकड़ी बिल्कुल न हो, जो कुल लोहे का हो, वह 'साँग' कहलाता था। 'नेजा' अपेक्षाकृत छोटा होता था जिसे 'घूसा' भी कहते हैं।

इस प्रकार १३ मई को चार घंटे दतिया का सिलहखाना देखते रहे। अगले दिन महाराज के निजी चित्र-संग्रह को देखने का सौभाग्य मिला। उसमें "बिहारी सतसई" के दो सौ से ऊपर चित्र हैं। प्रत्येक दोहे पर एक चित्र बनाया गया है, अतएव ७०० चित्र किसी समय रहे होंगे। इसी प्रकार मतिराम के "नायिका-भेद" के सवैयों के भी अनेक चित्र मिले। एक भागवत में तीन सौ के लगभग चित्र थे। हिमाचल, राजस्थान और बुंदेलखंड के रजवाड़ों ने १८ वीं शती में विलक्षण चित्रसाधना की। प्रत्येक रजवाड़े में महल के पोथीखाने के साथ चित्र-संग्रह भी रहता था।

दतिया में ताल या सागर बहुत हैं। कहते हैं, महाराज वीरसिंह देव के द्वारा एक ही रात में बावनी डाली गई थी, अर्थात् ५२ इमारतों या तालाबों की नींवें पड़ी थीं। उनकी सूची, सम्भव है स्थानीय छानबीन से एकत्र की जा सके। इस समय के तालों में रामसागर ताल, करनसागर ताल (महाराज कर्णसिंह का) अच्छे हैं। तालाब बुंदेलखंड के अमृतकुंड हैं। चन्देल राजाओं के समय से ही बरसाती पानी को, बाँध-बाँधकर, तालों में संगृहीत कर लेने की देशव्यापी योजना आरम्भ हो गई थी। तीन ओर का ढलान देखकर चौथी ओर बाँध-बाँधकर रातों-रात चुटकी बजाते बुंदेलखंड के बज्रशरीरी अधिवासी ताल या सागर बना डालते थे। ढलान या 'कैचमेंट एरिया' के लिये यहाँ 'मुहाना' शब्द चलता है। महाराज पारीछत ने चिरगाँव के पास वेत्रवती नदी पर एक बड़ा बाँध बँधवाया था। गुप्त जी की कृपा से एक बार पारीछा बाँध के दर्शन हमने किए थे। महाराज पारीछत की छत्री में रामायण भागवत और रासलीला के अच्छे चित्र बने हैं, जिनकी रक्षा की भविष्य में बड़ी आवश्यकता है। वीरसिंह देव के महल और इन छत्रियों (राजाओं की समाधियों, स्थानीय मकबरों) एवं सुराईयों (रानियों की समाधियों) को प्राचीन स्मारक मानकर स्थानीय शासन

को उनकी रक्षा करनी चाहिए। अतीत के इतिहास में काल के कपोल पर जो मोती झड़े या आँसू गिरे, वे ही ये स्मारक हैं। इन्हें किसी व्यक्ति-विशेष की सम्पत्ति मानना भूल है। सारी जनता का मन इनके दर्शन से, आनन्दी बनता है। सबके मानस-तार प्राचीन स्मारकों के साथ मिले होते हैं, अतएव वे सार्वजनिक हैं। मनोविज्ञान के इस सत्य का पालन करना हमारा कर्तव्य है। इन स्मारकों में इस समय एक चौकीदार तक नहीं मिला। आशा है, भविष्य इनकी ठीक प्रकार सुध ले सकेगा।

इन विशाल महलों और स्मारकों को देखकर एक विचार बार-बार उत्पन्न होता है। इस देश की अपनी वास्तु-कला थी। यहीं के सूत्रधारों और स्थपति-सम्राटों ने वीरसिंह देव के जैसे राजमहलों के नक्शे बनाये, उन्होंने ही इनके सूत पहली बार धरती पर फटके, और फिर धैर्य के साथ कंकर, पत्थर, मिट्टी चुन कर इन गगनचुम्बी सतखण्डे, नौखण्डे महलों का भव्य रूप खड़ा किया। आज वे बेचारे कहाँ गये और कहाँ गयी उनकी वह अद्भुत वास्तु-विद्या और उसके मूल में छिपा हुआ सारा गणित? कौन-सा पिशाच उस लहलहाते ज्ञान-वैभव को हर कर जनता को बुद्धि से पंगुल और हाथ-पैर से आलसी करके छोड़ गया? इन महलों के मसाले बाहर से नहीं आये। पास-पड़ोस के पत्थर को गढ़ छील कर इनके सर्पाकृति लहरियों से सुशोभित टोड़े बनाये गये, विविध सजों की उकेरी से अलंकृत शिलापट्ट गढ़े गये, एवं कीमती संगों को चीर कर, कोर कर, पच्चीकारी करके सजावट बनायी गयी। यहीं के कंकरों से वज्र-सा चूना फूँका गया जो आज भी अपनी जगह से नहीं हिलता। तीन सौ वर्षों तक काल के साथ मित्रता बनाये हुए वह जीवित रहा है और आगे भी रहेगा, पर उसका संदेश हमारे कानों तक नहीं पहुँच पाता। आज माल-मसाले के कल्पित अभाव में हमारा भवन-उद्योग ठप्प हुआ पड़ा है। यहीं दतिया में चुंगी का नया भवन देखकर मन खिन्न हुआ। देशी वास्तुकला को धता बता कर लोहे के ट्रँकनुमा अमरीकी वास्तु को अपने सुन्दर भवनों के बीच में हम कैसे सह लेते हैं, विदेशी पर्यवेक्षकों तक को यह अचरज होता है।

---

२५. भारतीय वस्त्र और उनकी सजावट

सुन्दर और उपयोगी वस्त्रों का निर्माण भारतवर्ष की राष्ट्रीय कला रही है। जातकों के युग से १९वीं शती तक भारतीय वस्त्र स्वदेश और विदेशों में भी यशस्वी बने रहे। सारे देश ने इतने दीर्घकाल तक वस्त्रों के क्षेत्र में स्वराज्य का अनुभव किया। व्यवहार की दृष्टि से वस्त्रों के चार प्रकार कहे गए हैं—नित्यनिवसनिक, निमज्जनिक, क्षणोत्सविक, राजद्वारिक;[1] अर्थात् रोज़मर्राके पहनने-ओढ़ने-बिछाने के, स्नान के बाद पहनने के, पर्व-उत्सव, तीज-त्यौहार या मेले-ठेले पर पहनने के और राज-दरबार में पहनने के (दरबारी) वस्त्र। ऊनी, सूती, रेशमी अथवा भंग, सन, अलसी, केले आदि के रेशों से बने हुए अनेक प्रकार के वस्त्र काम में आते थे। वस्त्रों की रंगाई भी एक कला थी। प्रकृति ने प्रतिवर्ष अनेक फल-फूलों और पत्तियों में, पक्षियों के पंखों में या ऋतु-परिवर्तन के साथ सजनेवाले आकाश में चित्र-विचित्र रंगों की जो सम्पदा इस देश को दी है, उसी के अनुसार पहनने के वस्त्रों में नाना भाँति के रंगों की सजावट की गई। चटकीले रंग भारतीय वस्त्रों की विशेषता रही है।

आकृतियों की विविधता

रंगों के अतिरिक्त भाँति-भाँति की आकृतियों से वस्त्रों की सजावट ऐसी भाषा है, जिसके द्वारा मूक वस्त्र शिल्प और चित्रों की भाँति भारतीय संस्कृति के मुखर प्रतीक बन गए थे। आकृति के लिए फारसी शब्द 'तरह' और अंगरेज़ी 'डिज़ाइन' हैं। प्राचीन परिभाषा में इसके लिए 'भक्ति' शब्द था, उसी से हिन्दी भाँति या भाँत बना है। गुजराती, राजस्थानी आदि जनपदीय भाषाओं में आज भी 'भात' या 'भाँत' शब्द जीवित है। पटोले बुननेवाले साल्वियों और बाँधनू की रंगाई करनेवाले राजस्थानी रंजकों की भाषा में भाँति

---

[1] बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, १।६४४

शब्द का आज भी व्यवहार होता है। राजस्थान में तरह-तरह की आकृतियों वाली चूनड़ी को भाँति-भँतीली (भाँत-भतूल्या) कहा जाता है। प्राचीन वस्त्रों के वर्णन में गुप्तकालीन एक ग्रन्थ में कहा गया है—कुछ चौड़े मुँह के पिटारों में अनेक प्रकार के डहडहे (चटकीले) रंगों से रंगे हुए तरह-तरह की आकृतियों (भक्ति-विन्यास) से सुशोभित महँगे, महीन और मुलायम अनेक वस्त्र अपनी-अपनी रुचि के अनुसार वस्त्रार्थियों के उपयोग के लिये रखे हुए थे।[1] जिन वस्त्रों में फूलों की कढ़ाई होती थी, उनकी संज्ञा पुष्पपट्ट होती थी।[2] अनेक प्रकार के फूलों के अतिरिक्त भाँति भाँति की चिड़ियाँ भी वस्त्रों में काढ़ी जाती थीं।[3] इसे अभी तक राजस्थानी भाषा में 'चिड़ीचुड़कल्याकी भाँत' कहा जाता है। मोरनी की आकृति को 'मोरड़ी की भाँत' कहते हैं।

भारतीय वस्त्रों के इतिहास पर व्यापक दृष्टि डाली जाय, तो ऐसा लगता है कि हम सौन्दर्य के किसी नए लोक में पहुँच गए हैं। सोने-चाँदी के तारों, रत्नों, मोतियों और मणियों से एवं कई प्रकार की चित्र-विचित्र आकृतियों के अलंकरणों से वस्त्रों को सुन्दरता प्रदान करने की कला सीमा पर पहुँच गई थी। वस्त्रों में विविध भाँति की आकृतियाँ चार प्रकार से उत्पन्न की जाती थीं।

१. लकड़ी के ठप्पों की छपाई से। इस काम के करनेवाले छिंपक या छीपी कहलाते थे। ठप्पा संस्कृत स्थाप्यक से बना है। बाण ने इसके लिए 'रूप' शब्द का भी प्रयोग किया है। देश के प्रत्येक भाग में छपाई की कला

---

[1] केषुचिद्व्योमकेषु विविधोज्ज्वलविचित्ररंगरक्तानि नानाचित्रभक्ति-विन्यासविराजितानि परममहार्हाणि सूक्ष्माणि सुकुमारानंतवर्णानि दिव्यवस्त्र-कोटीशतसहस्राणि स्थापितानि वस्त्रार्थिनां यथाभिप्राय परिभोगार्थम्। ('गण्डव्यूह', पृ० ४०३)

[2] यत्र वस्त्रेषु पुष्पाणि सूत्रैः क्रियन्ते सः पुष्पपट्टः। (हर्षचरित, पृ० १००, टीका)

[3] बहुविधकुसुमशकुनि शतशोभित, अतिस्वच्छ अंशुक। ('हर्षचरित', पृ० ११४)

फैली हुई थी ; फिर भी राजस्थान, उत्तर-प्रदेश और मद्रास के छपे वस्त्र अत्यन्त प्रसिद्ध थे। मद्रास के पलँगपोश, जो अंगरेज़ी के बिगड़े उच्चारण के अनुसार अठारहवीं शती में 'पालम्पोर' कहलाने लगे थे, यूरोप तक छा गए थे।

२. बुनते समय ही विविध रंगों के धागों का इस प्रकार उपयोग करने से कि बुनने पर वस्त्र में आकृति उत्पन्न हो जाय। गुजरात के पटोले और बनारस के किमख्वाब के वस्त्रों में इसी प्रकार आकृतियाँ बनाई जाती हैं। इसे संस्कृत में वान-कर्म कहते हैं।

३. बाँधनू की रंगाई के द्वारा। राजपूताना, विशेषतः साँगानेर, पंजाब आदि प्रदेशों में इसका बहुत रिवाज था। व्याहली बहू के लिए चूनड़ी बाँधनू कला का सर्वोत्तम उदाहरण है। बाण ने इसे 'बद्ध' वस्त्र कहा है (हर्षचरित पृ० १४३)।

४. सुईकारी द्वारा, जिसे संस्कृत में सूची-कर्म कहते थे।

सूची-कर्म की विशेषता

वस्तुतः सूची-कर्म या सुईकारी का काम कसीदा है, जिसका प्रचार प्राचीन काल में और इस समय भी सारे देश में फैला हुआ है। काश्मीर के ऊनी शाल-दुशाले, पंजाब की फुलकारियाँ, चम्बा के रूमाल तथा सिन्ध, कच्छ, काठियावाड़ की फुलकारियाँ और काँच-टँके हुए परेले, राजस्थान और दक्षिण की सोज़नी, लखनऊ की चिकनकारी और बंगाल के काँथे भारतीय सूची-कर्म या कसीदे के अत्यन्त प्रसिद्ध उदाहरण हैं। उनकी तैयारी में रंग, भक्तिविन्यास और मानवीय सुरुचि और श्रम का अद्भुत संयोग मिलता है। गाँवों और शहरों में बरसों तक मेहनत करके स्त्रियाँ इन सुन्दर वस्त्रों को तैयार करती थीं, और जहाँ पश्चिमी 'लू' से जीवन का सौन्दर्य झुलस नहीं गया है, वहाँ आज भी करती हैं। एक लेखक ने ठीक ही कहा है कि बंगाल और बिहार के घरों में तैयार होने वाले काँथे वास्तव में 'कूड़े पर से चुने हुए हीरे हैं'। फटी-पुरानी धोतियों और साड़ियों की किनारियों के खिचड़ी रंग के धागों को अलग-अलग निकालकर उन्हीं फेंके हुए वस्त्रों पर भाँति-भाँति की फूल-पत्ती, वल्लरी, मनुष्य और पशु-पक्षियों की आकृतियाँ और धार्मिक कथानकों के दृश्य ऐसी सुन्दरता

से अंकित किए जाते हैं कि बिना देखे उन पर विश्वास करना कठिन है। काँथे को सचमुच कीचड़ में से उत्पन्न कमल ही समझना चाहिए।

स्वदेशी अभिप्राय और अलंकरण

सुईकारी के काम में सब से महत्त्वपूर्ण बात स्वदेशी अभिप्राय और अलंकरणों का पुनः प्रचार है। वस्तुतः गाँवों में तो ये अलंकरण बहुत-कुछ आज भी सुरक्षित रह गए हैं। काशी-विश्वविद्यालय से दो मील पश्चिम कंदवा नामक छोटा-सा गाँव है। वहाँ कर्दमेश्वर शिव का गहड़वाल-युग (लगभग १२वीं शती) में बना हुआ एक शिवालय किसी प्रकार बच गया है। उसे देखने के लिये जाने का मुझे एक बार अवसर हुआ। वहाँ कच्चे घरों की सफेद भीत पर गेरू से लिखे हुए चित्रों ने मेरा ध्यान खींचा। मन में आया कि जिन स्त्रियों ने इन्हें बनाया है, उनकी भाषा में इनके नाम भी होंगे। एक वृद्धा स्त्री ने पूछने पर उन भित्तिगत रेखाचित्रों के लिए 'रँगना' शब्द का प्रयोग किया, और सुरज, अँजोरिया (चन्द्रमा), सरीफा, डँवरू, चिरई आदि अभिप्रायों के नाम भी बताए। एक सुन्दर अलंकरण का नाम पाकर मैं गद्गद् हो गया। वह अलंकरण आगरे के ताज में भी मैं देख चुका था और तभी से नाम की खोज में था। दो रेखाओं से बननेवाले कोण यदि एक पंक्ति में एक-दूसरे के पेट में आगे पीछे लिख दिए जायँ, तो इस अलंकरण का सरल रूप बनता है। इसका नाम कंदवा गाँव की उस वृद्धा ने 'पुरइन' बताया। मैंने तुरन्त ताड़ लिया कि 'पुरइन' संस्कृत 'पुटकिनी' का जनपदीय रूप है और कमल के पत्तों से बनी हुई बेल का प्राचीन सरल रूप पुरइन में है। निस्सन्देह यह अलंकरण और उसका यह नाम, जो काशी-जनपद के एक गाँव में अभी तक सुरक्षित है, अवश्य ही दूर-दूर तक व्याप्त पाया जायगा।

लोक-संस्कृति अनेक प्राचीन रूपों की धात्री है। वस्तुतः 'पुरइन'-अभिप्राय कुषाण-काल और उससे भी प्राचीन कला में मिलता है। कला के अभिप्राय और अलंकरण हमारी सांस्कृतिक भाषा के बहुमूल्य शब्द हैं। उनके रूप में हम अपने धार्मिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विचारों को प्रकट करते हैं और अपने जीवन की वस्तुओं पर उन विचारों की छाप अंकित करते हैं।

यही कला के अलंकरणों का संस्कृति से अन्तरंग सम्बन्ध है। भारतीय कला की अलंकरण-प्रधान भाषा का देश और काल में अपरिमित विस्तार हुआ है। जो-कुछ हमने मन में सोचा, उसे कला के रूप में मूर्त अभिव्यक्ति प्रदान की। हमारे वस्त्र, पात्र, शय्यासन, घरेलू सामान, शिल्प, चित्र, कुछ भी ऐसा नहीं है, जिस पर कलामयी भाषा के रूप या शब्द अंकित न हों। ये रूप प्रत्येक संस्कृति अपने लिए विकसित करती है और शताब्दियों की परम्परा के भीतर उन्हें सुरक्षित भी रखती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि बाहरी संस्कृति के थपेड़ों से कला के निजी अलंकरण और रूप उखड़ जाते या ओझल हो जाते हैं। किन्तु राष्ट्रीय संस्कृति की प्राणधारा चुपचाप इसे सहन नहीं करती और न अपने अलंकरणों को उखाड़ने वाले बाहरी अलंकरणों को आसानी से पैर ही जमाने देती है। आज हम अपने चारों ओर मचते हुए इस विचित्र संघर्ष को सूक्ष्म दृष्टि से देख सकते हैं कि किस प्रकार भारतीय अलंकरण और कलात्मक अभिप्राय विदेशी अभिप्रायों के सामने पहले तो उत्क्रान्त हुए और प्राणवायु के लिए छटपटाते रहे, और अब अनुकूल अवसर पाकर पुनः आत्म-प्रतिष्ठा पाने के लिए उत्सुक हैं। कला का यह संघर्ष राष्ट्रीय जीवन का ही संघर्ष कहा जा सकता है।

भारतीय सुईकारी

सूची-कर्म या सुईकारी वस्त्रों को सजाने की ऐसी सरल पद्धति है कि छोटी कन्याओं से लेकर बड़ी-बूढ़ियों तक सभी अपने अवकाश के समय में मामूली सुई और आवश्यक धागों की सहायता से घर के काम-काज में आने वाले कपड़ों पर अनेक प्रकार की कढ़ाई करके उन्हें सुन्दर और सुरुचिपूर्ण बना सकती हैं। प्राचीन काल में तो सारा देश ही एक प्रकार से इस कला में लग पड़ा था। आज विदेशों में सुईकारी का रिवाज बहुत अधिक फैला हुआ है। कागज पर जैसे रंगों से चित्र लिखा जाता है, वैसे ही वस्त्र पर सुई-डोरों से चित्र काढ़ने की प्रथा के लिए भविष्य उज्ज्वल दिखाई पड़ता है। घरों में, शिक्षा-संस्थाओं में, बालिकाओं और स्त्रियों के जीवन में सुईकारी के काम की दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति होगी, ऐसी आशा है।

हंस, हंसिनी और शावक की पद्म सरोवर में क्रीड़ा
(चित्र संख्या १)

चित्र-संख्या १ पन्द्रहवीं शती के कल्प-सूत्र से लिया गया है। उसमें एक हंस अपनी हंसिनी और बच्चों के साथ पद्म-सरोवर में क्रीड़ा कर रहा है। चित्र-संख्या २ में आठ हंसों की मांगलिक माला चतुर्दल कमल के चारों ओर सुन्दर मोड़-मुड़क के साथ ठुमकती हुई दिखाई गई है। यह चित्र काल्पनिक नहीं, बल्कि १०वीं शती में बने हुए उन गुजराती वस्त्रों पर से लिया गया है, जिन्हें अरब सौदागर गुजरात से मिस्र ले गए थे और जो मिस्र की पुरानी राजधानी फुस्तात में बालू के नीचे दबे हुए पाए गए हैं और इस समय काहिरा के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। चित्र-संख्या २ में बदरूम की जाली की तरह है। बदरूम बन्दरूम का हिन्दी-रूप है। भारतीय
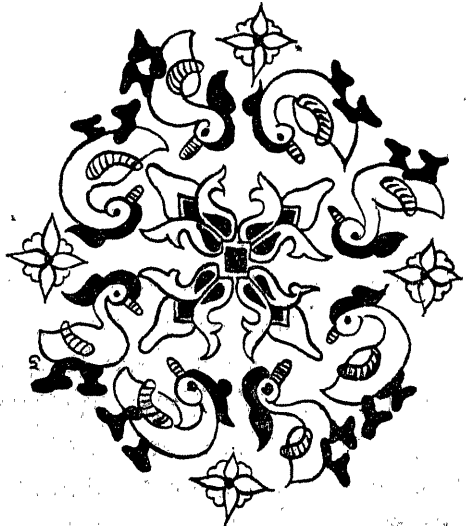
(चित्र संख्या २)

जाली के जितने कटाव हैं, उनमें केवल यही एक बाहर से आया हुआ है, जिसका नाम भी विदेशी है। शेष सब (जाली छवाँस, जाली छठवाँस, डेरू छवाँस आदि) भारतीय हैं और उनके नाम भी संस्कृत से निकले हैं। बदरूम का अलंकरण मुग़लकालीन पत्थर की जालियों में प्रायः मिलेगा। प्रस्तुत चित्र में जाली के घर के भीतर चने की खुली हुई पोखली और उसके ऊपर रखा हुआ नुकीला चना दिखाया गया है। राजस्थानी भाषा में इसी से मिलता हुआ अभिप्राय 'धाणी-भूँगड़ा' कहलाता है। अत्यन्त आश्चर्य की बात यह है कि यह अलंकरण बलूचिस्तान में नाल नामक स्थान से मिले हुए मिट्टी के बर्तनों पर बनी हुई काली रेखा-उपरेखाओं से लिया गया है, जो लगभग दो सहस्र ईस्वी-पूर्व के हैं। इसका अर्थ यह है कि जिसे हम बदरूम की जाली कहते हैं और जिसका नाम कुस्तुनतुनिया (रूम) के नाम पर पड़ा, उसका मूल उद्गम उससे तीन हज़ार वर्ष पहले सिन्ध-बलूचिस्तान से एशिया-माइनर तक फैली हुई प्रागैतिहासिक संस्कृति में हो चुका था। इन चित्रों में पाठकों को और भी कितने ही सुन्दर अलंकरण देखने को मिलेंगे।
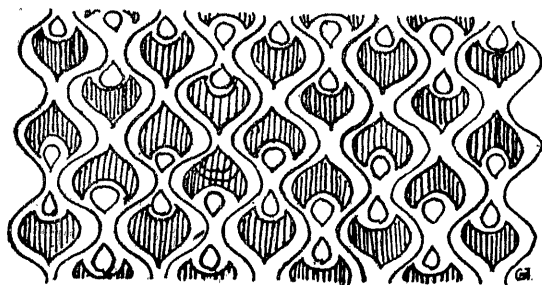
(चित्र संख्या ३)

कला की शब्दावली और रूप

भारतीय कला की शब्दावली और रूपों का संग्रह लोक-संस्कृति के उद्धार का आवश्यक अंग है। पाटन में बुने जाने वाले पटोलों में अभी तक बनने वाले अलंकरण इस प्रकार हैं—नारी-कुंजर भात (गुजराती में भाँति को भात कहते हैं), पान भात, रतनचौक भात, ओखर भात (जिसका वास्तविक नाम

पाटन में अखरोट भात भी कहा जाता है), फुलवाड़ी भात, बाघ-कुंजर भात, छाबड़ी भात, चोकड़ी भात, रास भात। राजस्थान में प्रचलित कपड़ों की छपाई और चूनड़ी की बँधाई की अनेक भाँत हैं, जैसे—धनक (इन्द्रधनुष) की भाँत, लाड्की भाँत, चकरी की भाँत, बोजवेल की भाँत, पोमचा (चारों कोनों पर चार कमल और बीच में बड़ा कमल का फुल्ला) की भाँत, मोरड़ी की भाँत (चारों कोनों पर मोर), धाणी-मँगड़ा (भुने जौ और भुने चने) की भाँत, सखियों की भाँत, रास की भाँत आदि चूनड़ी के अलंकरण हैं। इसी प्रकार साँगानेर की छपाई में कितनी ही बूटियों के नाम और नमूने मिलते हैं—पंजाकी बूँटी, धतूरे की बूँटी, प्याली की बूँटी, कचनार की बूँटी, दुक्कैरी की बूँटी, लौंग की बूँटी, डाढ़ की बूँटी, रेवड़ी की बूँटी, गुलदाउ की बूँटी, पारचे की बूँटी, दुपत्ती की बूँटी, बताशे की बूँटी, सिरों (भुट्टों) की बूँटी, लटककी बूँटी आदि।[1] इसी प्रकार काश्मीरी शाल-दुशाले और जामेवार आदि पर अलंकरण बनने वाले उस्ताद तरह-गुरुओं (भाँति-भाँति के अलंकरण और अभिप्रायों के जानकार आचार्यों) के पास भी बहुत शब्दों का भंडार मिलेगा। इसी प्रकार काशी के छीपी और बुनकरों में अनेक प्रकार की बूँटियों की परम्परा चली आती है, जैसे—राईदाना, मोरपंख, जँगला, चौपड़, शरीफा, मकड़ी का जाला, अशर्फी, चमेली, मकड़ा, शकरपारा, भौंरा, सेहरा, मदार का फूल, चारखाना, पंखा, मटरदाना, झरना, कंघी, ताराबूँटी, फूलझड़ी, मकोय, बुंदी-बुंदा, सिकड़ी, ढाका-बूँटी, दल-बादल, चौसर-पासा, मंजीरेवाली बूँटी आदि। जिस प्रकार छपाई के लिए छापे या ठप्पे से कपड़े पर रेख डाली जाती है, वैसे ही कढ़ाई के लिए भी कच्चे रंग की रेख बनाई जा सकती है, अथवा महीन छिदा हुआ खाका झाड़कर आकृतियाँ कपड़े पर उतारी जा सकती हैं।

एक बात यह भी स्मरण रखने की है कि कला के एक ही अभिप्राय

---

[1] **इस शब्दावली के लिए मैं श्री रामगोपाल विजयवर्गीय और उनके पुत्र श्री मोहनलाल का कृतज्ञ हूँ।**

और अलंकरण चित्र में, शिल्प में, वस्त्रों पर, एवं पत्रछेद्य (स्टेंसिल) से शरीर पर बनाए हुए विशेषकों में पाए जाते हैं। बंगाल की अल्पना, मिथिला के ऐंपन, उत्तर-प्रदेश के चौक, राजस्थान के मेंहदी-माँड़ने, गुजरात-महाराष्ट्र के रंगोली और दक्षिण के कोलम् नामक भूमिचित्रों में अनेक आकृतियाँ समान रूप से मिलती हैं, जिनका प्रचारभूमि-मंडन या चौक पूरने की कला के साथ देश-व्यापी है।

यदि देश में सामूहिक प्रयत्न किया जाय, तो सूची-कर्म या कसीदे के द्वारा बिना पैसे-कौड़ी के केवल मानवीय सूझ और श्रम से कला की लोक-पावनी धारा घर-घर में बहाई जा सकती है। जब इस कला का और विकास होगा, तो तिब्बती थनकों या ध्यानपटों एवं यूरोप की टेपेस्ट्री (चित्रात्मक भित्तिपटों) के समान यहाँ भी घरों को अलंकृत करने और दीवारों पर ढाँकने के लिए वस्त्रों पर सूची-चित्र उसी प्रकार बनाए जाने लगेंगे, जिस प्रकार साँझी-कला में धूलि-चित्रों के द्वारा अनेक धार्मिक दृश्य आज भी बनाए जाते हैं।

---

२६. चित्राचार्य अवनीन्द्रनाथ, नंदलाल और यामिनी राय

अपनी पिछली शान्ति निकेतन-कलकत्ता-यात्रा में मुझे अवनी बाबू, नन्द बाबू और यामिनी राय इन तीन भारत के महान् चित्राचार्यों को निकट से देखने का सौभाग्य मिला। इस त्रिमूर्त्ति ने गत पचास वर्षों में चित्रकला की अनन्य साधना करके कला के प्रति लोक में नवीन जागरण उत्पन्न किया है। श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर एशिया के महान् चित्रकार हैं। वे नूतन भारतीय कला-संस्कृति के सच्चे अर्थों में 'पिता' हैं। उनके नेत्रों में कला का जो रूप स्फुरित हुआ था, आज हम उसी के विकसित शरीर की कुछ झाँकी देख रहे हैं। वे नव भारतीय कला के आद्य ऋषि हैं। अस्सी वर्ष की आयु का भार लिए हुए आज भी वे हमारे मध्य में हैं, पर हमने उन्हें जीते-जी ही भुला दिया है! उनका देवतुल्य नश्वर शरीर जराजीर्ण दशा में कलकत्ते के बाहर एकान्त में आज किस दशा में है, इसके कितने भारतीय परिचित हैं?

चित्राचार्यों की इस त्रिमूर्त्ति से मिलकर मैं हृदय में व्यथा ही लिए हुए लौटा। हमारे ऊपर इन व्यक्तियों का जो ऋण है, हमने उससे उऋण होने का राष्ट्रीय दृष्टि से क्या कोई भी प्रयत्न अभी तक किया है? उनका सम्मान या अभिनन्दन तो दूर रहा, उनके चित्रों की रक्षा भी हम नहीं कर सके, और न उनकी सर्वश्रेष्ठ कृतियों को उचित रूप में प्रकाशित करने का ही कोई उपक्रम आज तक हुआ। नंद बाबू ६८ वर्ष, यामिनी राय ६५ वर्ष और अवनी बाबू ८० वर्ष पूरे कर चुके। अवनीन्द्रनाथ के चित्र रद्दी के परचों की तरह संग्रहों में बिखरे हुये हैं। न उनका लेखा-जोखा है, न प्रकाशन और न राष्ट्रीय चित्रशाला के लिये उनकी प्राप्ति का कोई उपाय। हमारी उपेक्षा-वृत्ति उनको चित्र-सम्पत्ति को ग्रस चुकी है। सुन्दर से सुन्दर चित्र अंधेरे में मुँह छिपाए पड़े हैं। अवनीन्द्र-

नाथ के सर्जन की प्रखर किरणों ने हमारे अतीत और वर्त्तमान जीवन के कितने अधिक भाग को आलोकित किया है, इस की हर्षपूर्ण अनुभूत भारतीय हृदयों में जिस दिन होगी, उसी दिन अवनी बाबू का जीवन-स्वप्न सच्चा होगा। सारा देश कब तक इस प्रमाद-निद्रा में सोता रहेगा ?

१-२-४ मार्च को शान्तिनिकेतन में श्री नन्दलाल वसु के दर्शन किए। साँवला रंग, मुखपर शान्ति और दृढ़ता की छाप, नेत्रों में दूर तक देखने वाली भेदक दृष्टि, व्यक्तित्व के चारों ओर प्राणमयी विद्युत्-धारा वृद्ध शरीर में भी बालकों-जैसी स्फूर्ति, व्यवहार में सरलता और गति, स्वच्छ मन, गहरी सहानुभूति का भाव—नन्द बाबू का ऐसा सजीव व्यक्तित्व मिलते ही मन में प्रवृष्ट हो जाता है। उनके चिरंजीव श्री विश्वरूपने कृपा करके हमारे देखने के लिये उनके चित्रों की एक विशेष प्रदर्शनी सजा दी थी। चित्रों की चर्चा चलते ही चित्रकार ने कहा—"मैं स्वयं इस विषय में कुछ न कह पाऊँगा।" हम तीन दिन तक मन भरकर चित्रों का रसास्वादन करते रहे। तीसरे दिन प्रातःकाल कुछ समय तक चित्रकार के उद्गार सुनने का मौका मिला। वे शान्ति से कला-भवन के संग्राहलय में बैठ गए। चारों ओर से शिष्यों ने घेर लिया, और वे मुझे लक्ष्यकर कहने लगे—"निजी संग्रहालयों में चित्रों की रक्षा का कुछ भरोसा नहीं। राष्ट्रीय संग्रह ही वस्तुतः उचित हैं। कलकत्ते में ही अमुक......अमुक ......व्यक्ति चित्रप्रेमी बनकर चित्रों का संग्रह करते रहे, पर उन्हें विदेशों में बेचते रहे। चित्रकार के लिये अपने चित्रों को अलग करना बड़ा दुखदायी होता है। यदि राष्ट्र के प्रतिनिधि मेरे चित्रों के विषय में उचित रीति से मुझे लिखते या कहते, तो राष्ट्रीय संग्रहालय में उन्हें रखने का मेरा संकल्प पूरा होता। चित्रों को मोल लेने के लिये आना मेरे लिये आनन्द का कारण नहीं। मेरे चित्रों की कुछ अनधिकृत प्रतिकृतियाँ भी दूसरों ने बना ली हैं, उनके विषय में मुझ से पूछ लेना अच्छा रहेगा।" फिर कहने लगे—"अवनी बाबू का बहुत-सा संग्रह तो इधर-उधर हो गया है। उनके पास अब अच्छी सामग्री क्या बची होगी ? अवनी बाबू ने मुग़ल चितेरों के खाकों की दस-बारह जिल्दें एकत्र की थीं, जो उनके संग्रह के साथ कस्तूर भाई के पास पहुँच गई। अवनी

बाबू तो बालपन से ही चित्र का अभ्यास करने लगे थे। उनके उस समय के रेखाचित्र बहुत रोचक हैं।"

प्रदर्शनी में तप करती हुई पार्वती का नन्द बाबू का एक चित्र पहले ही दिन देख कर मैं स्तब्ध रह गया था। उसकी छाप मेरे मन पर से हटती ही न थी। उस चित्र में कालिदास कृत 'कुमारसम्भव' के पाँचवें सर्ग की पार्वती के मुझे साक्षात् दर्शन हुए। अपने जीवन के तीस वर्ष पूर्व कालिदास की तपोनिष्ठ पार्वती का एक उज्ज्वल चित्र मेरे मन में पैठ गया था। आज भी वह अमर है। कवि के उस चित्र में पार्वती नहीं, भारतीय संस्कृति स्वयं मूर्त्तिमती दिखाई पड़ती है। वह संस्कृति विजयोन्मुखी है। विषाद और निराशा के अन्धकार को चीरकर पुनः-पुनः आत्मचेतना लाभ करने की उसकी जो विशेषता है, वही पार्वती की तप-साधना है। चित्र में पार्वती पर्वतराज हिमालय के शिखरों के बीच में खड़ी हैं। पिता की अमर गोद उन्हें प्राण-शक्ति दान करती हुई प्रतीत होती है। शिखरों के साथ उनका धूसर वर्ण एकाकार हो गया है। संकल्प की वज्रमयी दृढ़ता शिलाखंडों के रूप में उनके चारों ओर साकार हो उठी है। अखण्ड तप, अखण्ड ध्यान, शिव की प्राप्ति के लिये अखण्ड समाधि—यही उनके प्राण की एकमात्र साधना है। हृदय के पास रखे हुए हाथ में हरी दूब की एक पवित्री पहने हैं। शुभ्र देह में वह हरित बिन्दु ही प्राण का सिमटा हुआ रूप है। 'कुमारसम्भव' के पाँचवें सर्ग में कवि का जो भाव है, उसकी अमर व्याख्या इस चित्र में सामने आती है। इसी प्रकार चित्रकार और शिल्पी संस्कृति के अमूर्त भावों को मूर्त्तरूप प्रदान किया करते हैं। देश के कितने ही भावी चित्रकार इसमें आगे योग देंगे।

इस महान् चित्र के प्रति अपनी श्रद्धा के दो शब्द मैंने कहे। इससे चित्रकार के कोमल मानस का द्वार मेरे लिये खुला। उन्होंने कहा—"इस चित्र की एक कहानी है। अवनी बाबू मेरे गुरु हैं। मैं उनके पास बहुत दिन पढ़ता रहा। जब उन्हें छोड़कर यहाँ आया, तो उन्हें बहुत दुःख हुआ। मैंने एक चित्र बनाया, जिसे कलकत्ते में उन्हें दिखाने ले गया। उन्होंने कहा—'तुम्हारा मन और हाथ खराब हो गया है!' इस वाक्य से मेरा मन विषाद से भर गया।

अपने डूबते हुये मन को सहारा देने के लिये मैंने 'शोकार्त्त उमा' का चित्र बनाया। रूपगर्विता उमा के सामने ही जब शिव ने कामदेव को भस्म कर दिया, तब पार्वती का मन भी इसी प्रकार के विषाद में डूब गया था। मैंने अपने ही शोक को मानो उस चित्र में उँड़ेल दिया था। चित्र बनाकर अवनी बाबू के पास ले गया। उन्होंने देखा, तो बहुत प्रसन्न हुए। बोले—'ठीक हुआ है; अभी कुछ बिगड़ा नहीं है।' (यह चित्र अब प्रफुल्लनाथ ठाकुर के संग्रह में है।) मन आश्वस्त होने पर मैंने दूसरा चित्र बनाया, जो शोकार्त्त उमा का उत्तराधिकार प्राप्त करने वाली पार्वती की तपश्चर्या का था। इसे भी मैं अवनी बाबू को दिखाने ले गया। कहने लगे—'चित्र में रंग भरना चाहिए। रंग ही चित्र का गुण है।' मैं मौन स्वीकृति के साथ लौट आया। ४ बजे मैंने चित्र दिखाया था। ६ बजे वे स्वयं मेरे यहाँ आये। पूछा—'अभी रंग तो नहीं भरा? नहीं, रंग मत भरना।' मैंने कहा—'कल प्रातः रंग भरूँगा।' बोले—'उस समय पार्वती का राग तो सब विलीन हो चुका था। मेरी भूल थी जो मैंने उसमें रंग चटकीला करने को कहा। अब मैं स्वयं तुमको एक चित्र बनाकर दूँगा।' कुछ समय बाद उन्होंने उमा का एक चित्र बनाया। और मुझे प्रेम से सौंपते हुए कहा—'यह मेरी पुत्री है। जब तक जीओ, इसे अपने पास रखना।' वह चित्र आज भी मुझे अत्यंत प्रिय है।"

इसके बाद हरिपुरा-कांग्रेस के लिए बनाए हुए चित्रों की बात चली। उस अवसर पर गांधीजी ने नन्द बाबू से कहा था—"चित्र-साधना घर के लिये मत करो, बाहर के लिये करो। मार्ग में रखने के लिये चित्र बनाओ, जिन्हें गाँव के आदमी भी देखें।" इस सम्बन्ध में नन्द बाबू ने कहा—"मैंने दो सौ चित्र स्वय बनाए और दो सौ विद्यार्थियों से बनवाए। एक मास में यह काम हुआ। उसमें से कुछ सामग्री यहाँ आ गई, शेष वर्धा में रह गई थी, जो १९४२ के आन्दोलन में नष्ट हो गई।"

नन्द बाबू के इन चित्रों का विषय भारतीय लोक-जीवन है। चटकीले रंगों और तूलिका की सपाटेदार रेखाओं में बहुरंगी लोक-जीवन को प्रत्यक्ष दिखाने का सफल प्रयास इन चित्रों में किया गया है। इन्हें देखकर गुरुदेव ने

प्रसन्न होकर कहा था—"यह तुम्हारा नया दिक्-प्रवेश है।" मैंने पूछ लिया कि क्या आपने कभी मूर्त्तियाँ भी बनाई हैं ? उन्होंने कहा—"बस, यों ही दो-एक।"

इसके बाद शास्त्रीय चर्चा चल पड़ी। "भारत में कांसे की पुरानी मूर्त्तियाँ तो बहुत मिलती हैं, पर चित्र नहीं। क्या कारण है ? मेरी समझ से चित्र भी बहुत थे, पर नष्ट हो गए। अजन्ता आदि के युग में भित्ति चित्रों के अतिरिक्त फलकचित्र भी असंख्य रहे होंगे, पर वे बचे नहीं। नेपाल-तिब्बत में जो मन्दिरों के थन्के या ध्वजपट मिलते हैं, वे भारतीय चित्रपटों की पद्धति पर हैं। जो परम्परा पहले थी, वही अब तक आई है।"

इसके बाद अजन्ता में जिस विधि से चित्र बनाए गए, उस पर क्रियात्मक ढंग से नन्द बाबू ने जो प्रयोग किए हैं, उनके वषय में बताते रहे। शान्तिनिकेतन में चित्रों के लिये उसी प्रकार से भूमि बनाने का यत्न किया गया है और रंगों की सामग्री के नमूने भी एकत्र किए गए हैं। अजन्ता का प्रलेप मोटा है। उससे भीत को छोपते थे। उसमें धान की भूसी, ज्वारी की भूसी, गोबर और मिट्टी मिली है। बाघ के प्रलेप में हाथी की पिलिद्दी के रूप में प्राप्त लकड़ी की लुगदी भी प्रयुक्त की गई है। पहले आधी मिट्टी और बालू मिलाकर उसमें गोबर, भूसी, गोंद मिलाते थे। सूखने पर यही प्रलेप कड़ा और पानी सहारने वाला बन जाता था। भित्तिलेप के लिए दीमक की बाँबी से निकली हुई मिट्टी लेनी चाहिए। उसमें कंकड़ी या छनन नहीं होती। गोबर भी जंगली गोरू का हो, तो अच्छा, क्योंकि उसमें आँव का अंश अधिक नहीं होता। घर की गाएँ खाए हुए चारे को ठीक तरह पचा नहीं पातीं। चित्र की भूमि का फड़ बनाने की यह प्रक्रिया यहाँ सफल हुई है। दीवार सूखने के बाद उस पर खड़िया का लेप किया जाता है। गोंदों में चँदरस का गोंद उत्तम है। अनुमान है कि अजन्ता में अंडे की ज़र्दी का प्रयोग भी किया गया था। जहाँ दीवार पतली थी, वहाँ ऐसा किया गया और वहाँ का रंग नहीं निकला। सरगुजा के भित्तिचित्रों में पतली सफेदी पर चित्र बनाए गए हैं। वहाँ अंडे की सफेदी अवश्य लगाई गई होगी। अजन्ता, बाघ, सरगुजा, सिगिरिया (सिंहल), कन्हेरी (बम्बई), मध्य-एशिया, जयपुर आदि के नये-पुराने भित्तिचित्रों के प्रलेपों के नमूने और उनमें

प्रयुक्त मिट्टी-पत्थर के रंगों के नमूने संगृहीत करके उनका प्रयोगात्मक परीक्षण शान्तिनिकेतन में किया गया है। जयपुर के चितेरे आज तक परम्परा-प्राप्त विधि से ज़मीन बाँधते और देशी रंगों से लिखाई करते हैं। भारतीय परम्परा को भूले हुए आर्ट स्कूलों ने विलायती रंग और विलायती प्रक्रिया को अपना लिया और वहाँ से निकले हुए अधिकांश छात्र भी उसी में पग गए। किन्तु नन्द बाबू ने कितने ही वर्षों से पुराने रंग और लेखन-सामग्री का बारीक अध्ययन करके उनका उद्धार किया है। वे और उनके सैकड़ों शिष्य अपने लिये स्वयं रंग और तूलिका तैयार कर लेते हैं। सबसे बारीक तूलिकाएँ गिलहरी के बालों से, दूसरी बछड़े के कान के बालों से और उससे मोटी बकरे के बालों से तैयार की गई हैं, जिनसे नन्द बाबू स्वयं चित्र बनाते हैं। बड़ौदा के रंगमहल के समस्त भित्तिचित्र उन्होंने बछड़े के कान के बालों की तूली से लिखे थे। उनके कथनानुसार चीन देश में तूलिका बनाने की कला की विशेष उन्नति हुई। भारतीय चित्र में आकृतिजनिका-रेखा मुख्य है जैसी कालीघाट के पटों में हम देखते हैं। चीनी चित्र वर्ण-विन्यास की भाँति चितेरों की लिपि या लिखावट हैं। आजकल वे छाने से लेप बनाकर उससे रंग पक्का करने का प्रयोग कर रहे हैं। उनका विचार है कि सरेस का रंग चाहे निकल जाय, छाने का नहीं धुलेगा।

इसके बाद लोक-कला की चर्चा के प्रसंग में अल्पना की बात आई। यह कला देशव्यापी है। राजस्थान के मेंहदी माँड़ने, गुजरात-महाराष्ट्र की रंगोली, उत्तर-प्रदेश का चौक पूरना, बिहार का ऐंपन और बंगाल की अल्पना एक ही कला के रूप हैं। दक्षिण-भारत और गुजरात में यह कला आकृति-प्रधान है और बंगाल में वल्लरी-प्रधान।

शान्तिनिकेतन में नन्द बाबू ने भित्तिचित्रों के और भी प्रयोग किए हैं। एक बार गांधीजी ने शान्तिनिकेतन में छात्रों के निवास-स्थान की कठिनाई हल करने के लिये बारह हज़ार रुपए दिए थे और नन्द बाबू से उसका नक्शा बनाने को कहा था। उन्होंने कच्ची दीवारों के मकानों का एक नक्शा तैयार किया, जिसे महात्माजी ने पसन्द किया। ४० विद्यार्थियों के लिए कुटियाँ बनाई गईं। इनके

बाहर की कच्ची दीवारों में बालू-चूने की लगभग ४० बड़े आकार की मूर्त्तियाँ बनाई गई हैं। इस शिल्प-वीथी की परिक्रमा नन्द बाबू के साथ मैंने की। कुटियों की कच्ची भीतों पर अन्दर फड़ बाँधकर भित्तिचित्र बनाए गए हैं। अपने मानसिक आह्लाद के लिए कलाप्रेमी व्यक्ति कच्ची-पक्की सभी तरह की ज़मीन को चित्रों से सँवार सकता है। कला मनुष्य के अत्यन्त निकट है, यदि दूब के नालों की तरह उसे अपनी देहली के पास ही फुटाव लेने से हम न रोकें। मनुष्य की सौन्दर्य-भावना कला के रूप में उसे चारों ओर से घेर लेना चाहती है। कला अर्थ-साध्य नहीं, भावना और स्वेद जल से सिद्ध होती है। इसी यात्रा में यामिनी राय ने मुझे अपना अनुभव बताया कि जब वे दरिद्रता की चरम सीमा पर पहुँच गए थे, तब चार पैसे की रंग-बिरंगी मिट्टी लेकर उन्होंने चित्र बनाने शुरू किए थे।

शान्तिनिकेतन के प्रत्येक भवन की दीवारों पर भित्तिचित्र बने हैं। ये सब चित्राचार्य 'मास्टर मोशाय' और उनके शताधिक शिष्यों की उमंग-भरी तूलिकाओं से अनायास खींचे गए हैं। विश्वभारती के जीवन में भारतीय अलंकरणों की छाप है। स्वयं गुरुदेव जहाँ रहते थे, उत्तरायण के उस आस्थानमण्डप में भी हमने देशी आकृति के शय्यासन देखे; कहीं भी भद्दे विलायती सोफा-कोचों से भवनों को कुरूप नहीं होने दिया गया है। गुरुदेव के निजी कमरे की भीतों पर काय-परिमाण ऊँचाई तक बेंत की बुनी हुई सुन्दर चटाइयाँ चौखटों में लगी हुई हैं, जो बहुत भली मालूम होती हैं, जैसे राजस्थानी घरों में दीवारों के नीचे का भाग, जिसे इजारा कहते हैं, चित्रों से सुशोभित रहता है। श्रीनिकेतन में नाना प्रकार की शिल्प की वस्तुएँ तैयार करने के लिये श्रीभवन का कार्य कला को साथ लेकर चल रहा है। वहाँ भी नन्द बाबू की छाप हमें दिखाई पड़ी। वस्त्रों में, मिट्टी के खिलौनों में, चमड़े के काम में, बेंत के मूढ़ों में, हमने भाँति-भाँति के भारतीय अलंकरण, अभिप्राय, सज और आकृतियों को उपयोग की वस्तुओं में पिरोए जाते हुए देखा। यह आनेवाले युग का पूर्वाभास है। किसी समय सारा देश अपने ही रूपों और अलंकरणों (फार्म, मोटिव, सिम्बल) से भरा हुआ था, विदेशी संस्कृति आकर उन्हें चाट गई। शनैः-शनैः फिर उनका उद्धार करना होगा। हमारे जलयानों और विमानों में लगाए जानेवाले शय्यासन

(फर्नीचर), धर्मचक्र, पूर्णघट, स्वस्तिक, कल्पवृक्ष, पद्मलता, पद्मवन, हंसमिथुन, नन्दिपद, अष्टमांगलिक चिह्न आदि भारतीय रूपों की छाप लिए हुए जब विदेशों में पहुँचेंगे, तब उन भारतीय रूपों को प्रत्यक्ष देखकर न केवल हम, बल्कि हमारे दूरस्थित मित्र भी प्रसन्न होंगे। जीवन की दिशा-विदिशाओं में मातृभूमि का विस्तार इसी प्रकार सामने आता है। यह बड़ी क्रान्ति मुझे आगे का युग धर्म प्रतीत होती है। शान्तिनिकेतन में इसकी एक झलक चित्राचार्य नन्द बाबू की तेजस्वी साधना और उससे प्रभावित आश्रम जीवन में देखकर मुझे सान्त्वना मिली।

कला के अर्वाचीन वादों के विषय में भी उनके सुलझे हुए विचार हैं। नन्द बाबू ने अपने देश की कला-परम्परा के निर्मल स्रोतों का अमृत-जल पिया है। उन परम्पराओं को नवयुग के लिये नये रूपों में भी उन्होंने ढाला है। भारतीय कला को न समझकर जो चित्रकार सस्ते विदेशी वादों के पीछे दौड़ते हैं, उनकी मनोवृत्ति उन्हें नहीं सुहाती। जो लोग कला में देश या जाति की छाप नहीं मानते और कला को सार्वभौम कहकर राष्ट्रीय कला का उपहास करते हैं, वे उनकी दृष्टि से भ्रान्ति में हैं। कला के रूप अवश्यमेव देश, प्रान्त, नगर और साधक की दृष्टि से पृथक् और भिन्न होते हैं। तिब्बत, चीन, ईरान, भारत आदि की कला-विधि की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। देशानुसार उनका विकास और रूप-विधान देखा जाता है। कला के मूर्त्त रूपों के पीछे जो रस है, वह अवश्य एक है; पर उस रस की अनुभूति देश-भेद से भिन्न है। यही अनुभूति कला के मूर्त्त रूपों में उतरती है। रस विश्व में एक है, जैसे विश्वात्मा एक है। रस ही कला, काव्य और मन के सब भेदों को एक में पिरोनेवाला सूत्र है।

हमारे साथी श्री निहार चौधरी ने नन्द बाबू के जहाँ तहाँ फैले हुए चित्रों के विषय में विशेष जानना चाहा, तो उन्होंने बताया कि उनका 'महाप्रस्थान' चित्र अम्बालाल साराभाई-संग्रह में, 'संघमित्रा' और 'बृहन्नला' कस्तूरभाई लालभाई-संग्रह में, 'शोकार्त्त उमा' प्रफुल्लनाथ ठाकुर-संग्रह में, 'पार्थसारथि' अवनी बाबू के पास, 'कुणाल' चिनुभाई-संग्रह में 'द्यूतप्रसक्त युधिष्ठिर' कार्ल खाण्डावाला-संग्रह में और 'पुरी के समुद्र-तटपर चैतन्य' त्रिवेन्द्रम् के

चित्रालयम्-संग्रह में हैं। कुछ चित्र श्रीयुत् कज़िन्स, नाहर और स्वर्गीय जे० एन० राय बैरिस्टर (कलकत्ता) के संग्रहों में हैं। लेकिन उनके चित्रों का एक विशिष्ट संग्रह अभी उन्हीं के पास है। 'अभिमन्यु-वध,' 'नटीर पूजा' और 'गंगावतरण' उनके तीन बड़े चित्र हैं, जो उन्हीं के पास हैं। ये महान् कलाकार की भावमयी कृतियाँ हैं। बड़ौदा के राजप्रासाद में गंगावतरण का विपुल भित्तिचित्र उन्होंने बनाया था। उनके कुछ अन्य अच्छे चित्र, जिनसे मैं प्रभावित हुआ ये हैं—'अन्धा बाउल', 'शिव-सती', शिव का विषपान', विरहिणी राधा', 'चित्रांगदा के देश में अर्जुन', 'ऋतुसंहार', देवदास' आदि।

मैंने इस विश्वास के साथ उनसे बिदा ली कि चित्रकार का व्यक्तित्व चित्रों से भी महान् है। उनके अन्तर की अग्नि के कुछ ही स्फुलिंग तो चित्रों में आ पाए हैं, शेष से उनकी हृदयवेदि आज भी प्रज्वलित है। तीन दिनों के परिमित निवास में ही मैंने अनुभव किया कि शान्ति निकेतन के वातावरण में एक महान् स्रष्टा की प्राणवायु निःश्वसित है। पहले ही क्षण आश्रम के प्रवेशद्वारपर लाल-लाल फूलों से डहडहे पलाश-वृक्ष ने जब मेरा स्वागत किया, तभी मुझे गुरुदेव के मानस-दर्शन हो गए। तीन दिन तक वे संस्कार निरन्तर पुष्ट होते रहे।

श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर

४ मार्च को कलकत्ते में श्री अवनीन्द्रनाथ के दर्शन किए। इससे पहले सन् १६३८ में जोड़ा साँको के भवन में श्री पूर्णचन्द्र नाहर के साथ मैं उनसे मिल चुका था। पर आज जोड़ा साँको से अपने जीवन-काल में ही निर्वासित होकर बैरकपुर ट्रंक रोड के 'गुप्त निवास' के ऊपरी बरामदे में अकेले बैठे हुए उन्हें देखकर मन खिन्न हुआ। आज भी उनके मुखपर और उनके बैठने के ढंग में वही बादशाही शान देखी। क्या इसी दिन की अनुभूति के लिये उन्होंने युगों पहले सिंहासनच्युत शाहजहाँ का चित्र बनाया था, जो उनके अनेक चित्रों में आज भी श्रेष्ठ माना जाता है और इस समय कहीं विदेश में है? उनके पुत्र श्री अलकेन्द्रनाथ ने, जिनसे संयोग से शान्ति निकेतन में ही भेंट हो गई

थी, मेरा परिचय कराया और जैसे ही चित्रों के देखने की बात चली, उन्होंने केवल एक मर्मभेदक वाक्य कहा—"मैं अपने चित्रों के विषय में अब कुछ न कह सकूँगा।"

श्री अलकेन्द्रजी की कृपा से उनके पिता के जो चित्र उनके पास बच गए हैं, हमें देखने को मिले। वस्तुतः कुछ शबीह चित्रों को छोड़कर उनकी श्रेष्ठ कृतियाँ अब उनके पास कम ही रह गई हैं। प्रतिकृति चित्रों में उनका अपना चित्र (सेल्फ पोर्टेट), उनकी माता और पत्नी के चित्र अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। नटीकी पूजा के कुछ चित्र भी अच्छे हैं। 'पथका अवसान' जर्नीज़ एण्ड) चित्र अत्यन्त भावपूर्ण है। दूभर बोझका गट्ठर पीठ पर लादे हुए एक थके ऊँटने अपने भग्न गोड़े धरती पर टेक दिए हैं और गर्दन सामने फैला दी है। पोथी-भरा अर्थ एक चित्र में समा गया है। नन्द बाबू के 'सतीदाह' और 'सुजाता' चित्र भी अवनी बाबू के संग्रह में ही देखे। गगनेन्द्र ठाकुर का 'सात-भाई चम्पा' नामक सुप्रसिद्ध चित्र भी इसी में था। सुना है कि गगन बाबू के चित्रों का एक मूल्यवान संग्रह कलकत्ते की पिछली उथल पुथल में अग्नि को भेंट हो गया। गगनेन्द्रनाथ हमारे देश के दूसरे प्रतिभाशाली चित्रकार थे, जिनके चित्र तीन-तेरह हो गए और देश उनके लिए अभी तक कुछ नहीं कर सका। श्री जगदीशचन्द्र वसुके आविष्कारों पर गगन बाबू ने 'उद्भिदेर विद्रोह' नामक एक महान् चित्र बनाया था, जो श्री अजित घोष के संग्रह में मुझे देखने को मिला था। चित्र में वनस्पति-जगत् विद्रोही बनकर वैज्ञानिक से कह रहा है—'विज्ञान की चकाचौंध से हमारी शान्ति भंग करनेवाले तुम कौन हो?' अवनी बाबू के चित्र-संग्रह को, उनकी कला की अनुपम शक्ति को और उनकी वर्त्तमान अवस्था को जितना ही मैंने देखा, उतना ही मेरा दुःख बढ़ता गया। आज भी मनको घेरनेवाले इस दुःख से बचने का उपाय मेरी समझ में नहीं आया। किस अभिशाप से उनके जीवन में ही उनका जोड़ा साँको वाला मकान न केवल उन्हें बेचना पड़ा, बल्कि राष्ट्रीय स्मारक होने योग्य वह भवन खोद भी डाला गया? इसका उत्तर हमारे पास क्या है, और किसको उत्तर खोजने का अवकाश ही है? कई बार उन्हें अपने चित्रों के संग्रह शरीर के रक्त की भाँति बेचने

पर बाध्य होना पड़ा है, फिर भी आज वे स्वयं किस अवस्था में हैं[१] ? भारतीय कला का नाम भी जब कोई लेनेवाला न था, उस समय लगभग पचास वर्ष पहले उन्होंने कला-संस्कृति का महत्वपूर्ण यज्ञ आरम्भ किया था। उसके प्रभाव की धाराओं से आज सारा देश सिंचित हुआ है। उन्हीं के कारण आज कला की चर्चा शिक्षित समाज में फैली है। १८ वर्ष की आयु से उन्होंने कला की साधना शुरू की। उन्होंने उसकी पश्चिमवाहिनी धारा का मुँह मोड़कर उसे भारतीय रंग में रँगा और देश की निजी परम्परा और लोक-कला के उद्धार के लिये भी अथक परिश्रम किया। आज से बहुत पहले उन्होंने बंगाल की अल्पना-कला के रेखाचित्र संगृहीत करके तद्विषयक सामग्री पर एक पुस्तक प्रकाशित की थी, जिसका दूसरा संस्करण 'बाँगलार व्रत' के नाम से उपलब्ध है। श्री अवनीन्द्रनाथ की स्थायी महिमा तो उनके चित्रों में है। रेखा, रंग और भाव तीनों दृष्टियों से ये चित्र संसार की श्रेष्ठ कलाकृतियों में गिने जाने के योग्य हैं।

'औरंगजेब' नामक उनका एक सुन्दर काय-परिमाण चित्र कला-भवन के संग्रह में है। उनके बनाए ईरानी शैली के लगभग पचीस चित्र श्री कस्तूरभाई लालभाई के संग्रह में बताए जाते हैं। अवनी बाबू के महत्वपूर्ण चित्रों का एक विशिष्ट संग्रह कलकत्ते में श्री प्रफुल्लनाथ ठाकुर के भवन में देखने को मिला। यहीं नन्द बाबू के भी कुछ अति विशिष्ट चित्र विद्यमान हैं, जैसे 'गृहहारा' (वन में भूली हुई गाय), 'गांधीजी की डांडी-यात्रा'; 'नटीर पूजा', 'शोकार्त्त उमा'। अन्तिम चित्र की जन्मकथा ऊपर लिखी जा चुकी है। शोकमग्ना पार्वती को उनकी सखी किसी प्रकार सँभालती है, पर वह स्वयं भी दुःख में डूबी जा रही है। दोनों ही अत्यन्त विह्वल और अथाह शोक की दशा में निरवलम्ब हैं। अगाध निराशा के तल से तपश्चर्या का संकल्प लेकर पार्वती ऊपर उठती हैं, जो दूसरे चित्र का विषय है।

निजी संग्रहों में गए हुए चित्रों की एक करुण ध्वनि है, जिसे सुनना होगा, नहीं तो इस देश में चित्र कला और चित्रकार दोनों का भविष्य अन्धकारमय है। कवि या लेखक जो रचना करता है, उसपर उसे आंशिक लाभ

[१] ५ दिसम्बर १९५१ को महान् चित्राचार्य चिरशान्ति में लीन हो गए।

(रायल्टी) प्राप्त होता है, जो उसके उत्तराधिकारियों तक को पहुँचता है। पर चित्रकार जब अपने चित्र को किसी के हाथ बेच डालता है, तो सदा के लिये उसके स्वामित्व और लाभ से वंचित हो जाता है। इस प्रकार दो सौ, तीन सौ रुपयों में अवनी बाबू के अच्छे-अच्छे चित्र उनके हाथ से निकल गए और आज वे उनकी पहुँच से बाहर हैं। अपने जीवन में उन्होंने जितना सृजन किया, उसके एक अंश का लाभ भी उनको मिल सकता तो इस पक्ष की ओर से वे निश्चिन्त होते। दूसरी बात और ऊँचे धरातल पर है। प्रकाशन के द्वारा तो उनके चित्र सुलभ हो ही जाने चाहिएँ। कलाकार की प्रतिभा समाज की विभूति है। उसकी कृति कोई एक व्यक्ति दबोचकर बैठ जाय, यह समाज के साथ अन्याय है। कल्पना कीजिए गोस्वामीजी का 'राम-चरितमानस' या सूरदास का 'सूरसागर' कोई एक व्यक्ति ले बैठता, तो क्या दशा होती? वैसे ही श्रेष्ठ चित्र और मूर्तियाँ भी सब को आध्यात्मिक सुख पहुँचाने के लिये होती हैं। एक अच्छा चित्र लाखों की संख्या में प्रकाशित करके लोक के लिये सुलभ बनाया जा सकता है। वह रस का एक सोता है। हम चाहें, तो प्रकाशन की युक्ति से रस-निर्भर की उस धार को हर एक के द्वार पर पहुँचा सकते हैं। विदेशों में जहाँ कला के संस्कार विकसित हो चुके हैं, महान् चित्रकर्त्ताओं के चित्र और कलाकृतियों को इसी प्रकार लोकाराधन के लिये सर्वसुलभ बना दिया गया है। इसी यात्रा में फ्रांसीसी दूतावास-कार्यालय में लियोनार्डो दा विंची के चित्रों का एक अत्यन्त सुन्दर चित्राधार, जो पेरिस में छपा है, हमने देखा और कला को प्राप्त हो सकने वाली विज्ञान की सहायता की सराहना की। जब कोई देश इस प्रकार साहित्य या कला की किसी श्रेष्ठ कृति को स्वरूप के साथ सम्पादित और प्रकाशित करता है, तो उसे उचित गर्व का अनुभव होता है। यह गर्व सभ्य जगत् के संस्कारी मन की सुन्दर अभिव्यक्ति है। कई देश इस विषय में एक-दूसरे से स्वस्थ स्पर्धा भी करते हैं। व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, जयदेव, विद्यापति, सूरदास, तुलसीदास आदि कवियों, एवं साँची, भारहुत, अजन्ता, बाघ, इलोरा आदि कला-तीर्थों की महार्घ सामग्री को इसी प्रकार प्रकाशित करके क्या हम भी धन्य न होंगे?

श्री यामिनी राय

५ मार्च को बालीगंज में श्री यामिनी राय से उनकी चित्रशाला में भेंट हुई। सिंह का दर्शन उसकी माँद में ही करना चाहिए। मैं उनके विषय में जो धारणा लेकर गया था, उसमें आमूल-चूल परिवर्त्तन करना पड़ा। न-जाने क्यों मैंने अज्ञानवश उन्हें अहंकारी स्वभाव का अक्खड़ व्यक्ति समझ लिया था। वहाँ जो पहुँचा, तो ६४ वर्ष के यामिनी राय के वेश में बालक के दर्शन हुए। उपनिषद् का 'बाल्ये तिष्ठासेत्' वाक्य उनके लिये अक्षरशः ठीक है। उपयुक्त श्रोता पाकर उनकी वाग्धारा बह निकली और अन्तर की आग इस प्रकार प्रकट हुई—"मैं आदमी का विश्वास करता हूँ। शासन-यन्त्र से इस देश में कुछ नहीं हो सकेगा। कदाचित् सरकार मेरे चित्रों में से कुछ ले ले, तो मैं समझूँगा कि मेरे चित्रों में कुछ कमी है। इस देश में गांधी जी नहीं मरे, हम लोग मर गए हैं। अब हम 'फोक आर्ट' की बात करने लगे हैं। यह शब्द दूसरों ने हमें रटवा दिया है। उसका सुग्गा-पाठ हम करते हैं।"

यूनेस्को में ३८ देशों के चित्र आए थे। वहाँ इनके चित्रों पर 'न्यूयार्क टाइम्स' और 'लन्दन टाइम्स' ने लिखा था—"केवल यामिनी में पेरिस की नकल नहीं है। उनकी कला का निजस्व है और वह किसी का उच्छिष्ट नहीं।" यामिनी राय ने कहा—"मैं कहीं अपने चित्र भेजना नहीं चाहता। मेरे मन में बच्चों के लिये जो श्रद्धा है, उससे मुझे स्वयं अपने चित्रों में स्फूर्त्ति मिली है। मैं ३० वर्षों से प्रायः आठ घंटा प्रतिदिन कला-साधना करता रहा हूँ। मेरे मस्तिष्क में भाव आते हैं, तो रात-रात भर सोचता रहता हूँ। मेरे देश ने कला की इस धारा को दबाया, जिसका आज भी मैं अनुभव करता हूँ। मैं अपनी धुन का देश में प्रायः अकेला हूँ। जब मेरे पास धन नहीं रहा, तब चार पैसे की मिट्टी लेकर तस्वीर बनाने लगा। मेरे चित्रों को आप यदि इसलिए स्वीकार करेंगे कि वे देशी हैं, तब मैं उन्हें छोड़ दूँगा। मुझे तो चित्र का संवेग आता है, तब चित्र बनाए बिना रह ही नहीं सकता।"

मैंने प्रश्न किया—"क्या आपके रंग पक्के हैं?"

वे बोले—"यह मेरा विषय नहीं है कि रंग टिकेगा कि नहीं। मुझे जो मिलता है, उसी से चित्र बनाता हूँ।"

"क्या आप देश से बाहर कहीं गए हैं?"

"१५ वर्ष पूर्व मुझे स्नायविक दुर्बलता का रोग हुआ था। तब से मैं बाहर तो क्या, यहाँ भी कहीं नहीं गया। बागबाज़ार और बालीगंज बस दो ही जगह जानता हूँ, और कहीं नहीं जाता।" अपनी आन्तरिक भावना को और व्यक्त करते हुए बोले—'मैं किसी आदमी को नीचा नहीं समझता। मेरी दृष्टि में सब बराबर हैं। आपकी तरह और सबको भी मैं ऐसे ही प्रेम से अपने चित्र दिखाता हूँ। दिल्ली का रास्ता मेरे लिये नहीं है। मेरे दुःख से आप विचलित न हों। उस दुःख का कारण राग है। जिसमें राग नहीं, वह मरा हुआ है। मेरी आप बीती दुःखपूर्ण है। मैं जिस घर में बागबाज़ार में २५ वर्ष रहा, उसमें से मुझे निकलना पड़ा। यह चित्र बनाने का पुरस्कार मुझे मिला! मेरा एक पुत्र चित्रकार था। उसने परिश्रम से एक चित्र बनाकर प्रदर्शनी में रखा। उसका मूल्य १५) मिला।! इस दुःख को वह न सह सका। गाँव में जाकर उसने विष से अपने जीवन का अन्त कर डाला।"

मैंने देखा, यह कहते हुए उनका मन भारी हो गया है। वे कहते गए—"पर मेरा तो विश्वास यह है कि मैं अपने काम से जीवित रहूँगा, नहीं तो मरूँगा।" यह वाक्य मेरे मन में घर कर गया। सच्चे कलाकार और साहित्यकार की यही मूल भित्ति हो सकती है। उसकी विद्या उसे धनी-निर्धन जिस दशा में रखे, उसे उसके लिए तैयार रहना चाहिए। अत्यन्त व्यथा-भरे हुए शब्दों में उन्होंने कहा—"जिस दिन इस देश ने विद्यासागर-जैसे पंडित का वेतन ५०) और ग्रेजुएट का २५०) से १२००) तक मंजूर किया, देश का भाग्य तो उसी दिन फूट गया!"

यामिनी राय की शैली उनके समस्त व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। वे सच्चे पृथ्वीपुत्र हैं। उनकी कला भी निरी बाल-स्वभावशाली है। "मैं गाँव का आदमी हूँ। बाँकुड़ा-ज़िले के बेलिया-तोड़ा गाँव में मेरा जन्म हुआ। कलकत्ते में आकर चालाकी सीख गया हूँ। वह 'गाँव की आँख' तो चली गई।"

मैंने सोचा—ये उद्‌गार कितने सच्चे हैं। हममें से प्रत्येक जब शहर की बुद्धि पा जाता है, तो उसका जनपदीय व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है। फिर वे कहते गए-—"गाँव के मनुष्यों का विश्वास होता है 'किसन छाड़ा गीत नई', अर्थात् कृष्णजी के अतिरिक्त गीत के लिये अन्य विषय नहीं। मैंने भी जब यूरोप का टेकनीक छोड़ा, तब कृष्णजी की लीला शुरू की। चित्र के लिये सब विषय पवित्र हैं। चित्र की दुनिया में हिन्दू-मुसलमान सब एक में मिले हैं। मुसलमान लेता है कृष्ण-लीला, हिन्दू लेता है ईसाई-लीला। मैं सब को एक माफिक जानता हूँ।"

"बुद्धि जीवी चित्र देखकर कह उठता है—बड़ा प्रगतिशील है। मैं उनकी अटपटी शब्दावली सुनकर हँसता हूँ। गाँव का सीधा-सादा आदमी ठीक भाषा जानता है। मेरे यहाँ विषय नहीं, चित्र का महत्व है। रंग और तूली का मेल है। यह चित्र जहाँ रहेगा, एक वातावरण उत्पन्न करेगा। सारे संसार में धर्म और उनसे सम्बन्धित विश्वास और कहानियों का प्रचार है। उनके भीतर एक ही राग और एक ही मनोवृत्ति रहती है। उसी को मैं चित्र का मुख्य विषय मानता हूँ। मेरी तस्वीर में कोई 'सब्जेक्ट' नहीं, 'टाइटिल' नहीं, तारीख नहीं, नाम नहीं। बस वह है।"

यामिनी राय की चर्या नियमित है। वे ८ बजे काम पर बैठ जाते हैं। प्रातः थोड़ी मूड़ी (लाई) और गुड़ का कलेवा करते हैं। मेरे लिये भी वही आया। राजा-रंक जो भी उनके यहाँ आवे, यही सरल सत्कार पाता है।

"मेरी कला इतने सरल, या चाहे कहो साधारण, धरातल पर है कि जो समाज आयगा, वही उसे पसन्द करेगा। जैसे बच्चा हो, उसे सब कोई गोदी में लेते हैं, ऐसे ही मेरी कला है। मैं तो लिखना-पढ़ना नहीं जानता। बच्चे मेरे गुरु हैं। जब मुझे रास्ता नहीं मिला, तब बाल-स्वभावों में से मैंने रास्ता पकड़ लिया।" अपने पुत्र पटल की ओर इशारा करते हुए उन्होंने कहा—"पटल मेरा गुरु है। जब आदमी रास्ता भूल जाता है, चारों तरफ अँधियारा होता है, तब बालक से रास्ता मिलता है। सब के भीतर जो असल

आत्मा है, वह बालक है। उसके साथ सब का मेल है! वीरगाथाओं के युग में जो मानसी स्थिति थी, वही मेरे चित्रों की है। बल्कि यों कहना चाहिए कि उस युग में भी कुछ खोट आ गया था, मेरी स्थिति उससे भी पूर्व की है। मुझे प्रचार की चाह नहीं। मेरे चित्रों की बात, उनका धरातल पहले मनुष्यों के हृदय में आयगा, तब लोग इस पर अपनी जान देंगे। मुझे कला के आलोचकों से बहुत डर लगता है। उनकी भाषा मेरी समझ में नहीं आती। आलोचक मनोवृत्ति का आदमी आकर दो घंटे बात करेगा, पर कभी तस्वीर नहीं देखेगा। म्यूज़ियम, आर्ट गैलेरी की बात हमने अंगरेज़ों से सीख ली है। इस देश में कलाकार का सब काम मन्दिर में रहता था। धार्मिक चित्र एकमात्र सत्य है, और सब तस्वीर झूठ है।"

इस युग के सस्ते बौद्धिक साँचों में ढले हुए विचारों के प्रति उनके मन में आक्रोश और अनास्था है—"मन में और शरीर में जब शक्ति होगी, तभी इस ज़माने में कोई अपनापन रख सकता है। मैंने अपने चित्रों में अपना रूप विधान रखा है। सच तो यह है कि यूरोप और भारत के बीच में रूप (फार्म) का कोई समझौता हो ही नहीं सकता।" मेरे मन में आया कि हमारी सांस्कृतिक कशमकश का एक प्राणवान सूत्र ही यामिनी राय कह रहे हैं। हमारी संस्कृति के रूप हर क्षेत्र में पश्चिमी संस्कृति के रूपों से संघर्ष कर रहे हैं कि किसी तरह उनका प्राण बचा रहे। उन्होंने आगे कहा—"यह देश पागल हो उठा है। यहाँ लोग भ्रमपूर्ण बात कहते हुए भी नहीं लजाते। भारतीय शैली में लैण्ड-स्केप और पोरट्रेट (प्रकृति-चित्र और शबीह) हो नहीं सकते। यह गंगाजल में सुरा के मेल-जैसा है। हमारे मन में, रहन-सहन में, भोजन-वसन में भारतीय सुर की एकता होगी, तभी हमारा सांस्कृतिक व्यक्तित्व होगा; तभी हम जो हैं, वह होंगे।"

कला की शिक्षा और अभ्यास के विषय में वे भारतीय गुरु-शिष्य-शैली के भक्त हैं। ऐसे ही सत्य उद्गार नन्द बाबू ने भी प्रकट किए थे। यामिनी राय ने कहा—"जैसे बच्चा माँ की बोली सीखता है वैसे ही विद्या सीखी जाती है।

आर्ट स्कूल अंगरेज़ी ढंग पर खुले हैं। इन स्कूलों में बुद्धिमान बालकों को चुन कर लेते हैं। फिर उन पर ढाई-तीन हज़ार रुपया व्यय करके जब उन्हें तैयार करते हैं, तब उनके मन और कल्पनाशक्ति को फालिज मार गया होता है। हम देखते हुए भी शिक्षा के इस सर्वनाश को नहीं देखते।" कुछ निजी चर्चा करते हुए उन्होंने कहा—"कला की साधना के लिये मैंने जमीन-मकान सब बेच दिया था। मैं मन में यह विश्वास लेकर चला कि यदि मैं जिऊँगा, तो इसी कला से। मैं बहुत ग़रीब हो गया। एक रुपये की कीमत उस समय मेरे लिये हज़ार रुपये के बराबर थी। तब ३००) मासिक की नौकरी आर्ट स्कूल में मुझे मिलती थी। पर मेरा उसमें विश्वास नहीं था, तो मैं कैसे जा सकता था। सच पूछो, तो वहाँ का धन्धा कला से परे हटाने के लिये, कला से मन फेरने के लिये चलता है। सच्चे कलाकारों के लिये वहाँ एक पैसा भी नहीं है।"

चित्रों के जनक चित्रकार के लिये उसके चित्र प्राणों से भी बढ़कर प्रिय होते हैं। यही बात नन्द बाबू ने कही और यही यामिनी राय ने एक दूसरे प्रकार से—"तस्वीर का पैसा जब कोई मुझे देने लगता है, मैं समझता हूँ कि यह मेरी सजा है, मेरे नसीब में कुछ गड़बड़ है।"

यामिनी राय बरसात की बढ़िया की तरह चित्रों का निर्माण करते हैं। यही उनका जीवन है। "विंसन न्यूटन की दुकान पर रंग और कागज चुनने लगूँगा, तो मेरा हाथ बन्द हो जायगा। चित्रकार भीत को सूनी नहीं देख सकता। वह शून्य स्थान को चित्र से भर देना चाहता है।"

मैं समझता था कि यामिनी राय ने अपने चित्र का रूपविधान विदेश से लिया होगा और वे उसे अँधाधुन्ध दोहरा कर जनता पर थोप देना चाहते हैं। मेरी यह धारणा भ्रान्त निकली। उनके चित्रों के रूप और भावों के रूप भारतीय धरती की देन हैं। उनकी कला मन की भूमि से स्वाभाविक रूप से जन्मी और संवर्धित हुई है। उन्होंने कहा कि कल्पना-शैली पर भी मैंने अपने चित्र बनाए हैं।

अन्त में 'विराज वा इदमग्र आसीत्' के आद्य-युग का सरल धार्मिक विश्वास-सा प्रकट करते उन्होंने कहा—"हमारे लिये ग़रीब आदमी ईश्वर हैं। भगवान का कानून दूसरा, राजा का दूसरा। राजा का कानून हमारे लिये नहीं। आज कोई प्रसन्न नहीं है। कहीं आनन्द नहीं है। कारण, यह सभ्यता की वृद्धावस्था है। गांधीजी इस देश में देव-सभ्यता की बात कहते थे। आज असुर-सभ्यता है। पर यह असुर-सभ्यता रह नहीं सकती।"

२७. आनन्द कुमार स्वामी

२२ अगस्त १९४७ ई० को अपनी सत्तरवीं वर्षगांठ पूरी करके १० सितम्बर को मन और बुद्धि के अनेक वरदानों से परिपूर्ण आनन्द कुमार स्वामी अपने हृदय में एक अभिलाषा लिए हुए इस लोक से उठ गए। ऋषिकल्प इस महान् भारतीय के हृदय की वह अन्तिम अभिलाषा यह थी कि वे भारतवर्ष में लौट कर हिमालय के किसी शान्त आश्रम में अपनी आयु का शेष भाग व्यतीत करें। लगभग चार वर्ष पहले जब मैंने उनसे एक पत्र में प्रार्थना की कि वे इस देश में एक बार पधारें तो उन्होंने उत्तर में लिखा था, 'इस समय मैं आत्मा पर एक महाग्रन्थ लिखने में लगा हूँ। उसके पूरा होने पर मेरी इच्छा भारतवर्ष लौटने की है' भारत के राष्ट्रीय संग्रहालय के प्रथम अध्यक्ष-पद के लिये मैंने कई बार मन-ही-मन श्री कुमारस्वामी का स्मरण किया था। परन्तु वे प्रसंग तो अब कल्पना की वस्तु हो गए हैं।

कुमारस्वामी के कुछ धुँधले और फीके उल्लेख एक-दो भारतीय पत्रों में छपे और वे भी बिना चित्र के। सुन्दर लम्बा शरीर, जैसे चन्दन में ढली हुई कोई देव-प्रतिमा हो, पैनी आँखें, सौम्यता से भरा हुआ किन्तु अत्यन्त प्रखर बुद्धिसूचक मुख जो लहराते हुए केश और प्राचीन दाढ़ी से घिरा हुआ था—पुराने भारतीय ऋषियों की इस मुद्रा में श्री आनन्द कुमारस्वामी वैभवशाली बोस्टन नगर के एक भाग में आत्मानुकूल स्थान कल्पित करके पूरे तीस वर्षों तक ज्ञाननिष्ठ साधना में तल्लीन रहे। बोस्टन से बाहर भी सुन्दर वृक्षों की छाया में उन्होंने अपने लिये एक सुन्दर प्रकृति कुटीर बना रक्खा था। उनके मानस-दीप का प्रकाश दिन-दिन बढ़ता ही गया। जीवन के अन्तिम वर्षों में तो वे ज्ञान के पर्वत के जिस ऊँचे शिखर पर पहुँच गए थे वहाँ संसार के अनेक ज्ञान-साधकों ने उन्हें मानवीय ज्ञान की सनातनी एकता के प्रकाश को फैलाते हुए देखा। इस विश्वज्ञान को वे Philosophic Perennis कहा

करते थे। अपने एक पत्र में इसी के लिये 'सनातन धर्म' संज्ञा उन्होंने प्रयुक्त की थी। प्राचीन भारतीयों की तरह मनुष्य की इस ज्ञान निष्ठता को सब सम्प्रदायों के धार्मिक ग्रन्थों और संतों के अनुभव-वाक्यों में एवं कला और संस्कृति के अन्य उपकरणों में वे देखने लगे थे। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, दर्शन, भक्ति-सम्प्रदाय, पुराण और संत-मत—इन सब के भीतर पिरोए हुए एक तार को उन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टि से पकड़ लिया था। इसी अन्तर्यामी सूत्र को ईसाई-धर्म, चीनी-दर्शन, इस्लाम और सूफी दर्शन के भीतर स्पष्टता से देखने में वे समर्थ हो सके थे। इन धर्मों के मौलिक ग्रन्थों को और विश्व के प्राचीनतम गाथा-शास्त्रों का उन्होंने अध्ययन किया था और खुले हृदय से वे अपने आप को इनका ऋणी मानते थे। मानवी विचार और धर्मों की इस तात्त्विक एकता का जो विवेचन भाषा, तर्क और ज्ञान की अपरिमित शक्ति से कुमारस्वामी ने प्रस्तुत किया, उसने अति शीघ्र पूर्व और पश्चिम के दोनों भू-खंडों में अनेक मनुष्यों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। उनके लेखों से ऐसा प्रतीत होता है मानों अर्वाचीन समय में एक दूसरे के निकट आते हुए मनुष्य-समाज के लिये वे विचारों की अत्यन्त सरस, सौहार्दपूर्ण और संतुलित स्थिति का निर्माण कर रहे थे।

कुमारस्वामी के पिता सर मुत्तु कुमारस्वामी मुदालियर सिंहल के अत्यन्त प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। उन्होंने बैरिस्ट्री की परीक्षा पास की थी। वे स्थानीय लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य थे। दठा वंश और सुत्तनिपात नामक ग्रन्थों का उन्होंने अंग्रेजी में सर्वप्रथम अनुवाद किया था। १८७६ में उन्होंने प्राचीन घराने की एक अंग्रेज़ महिला से विवाह किया और २२ अगस्त १८७७ को इस दम्पती से आनन्द कुमारस्वामी का जन्म हुआ। कुमारस्वामी अभी २ वर्ष के भी न हुए थे कि उनके पिता का देहान्त हो गया और उनकी माता ने उनका पालन-पोषण किया। वे १९४२ तक जीवित रहीं। कुमारस्वामी की शिक्षा यूनिवर्सिटी कालेज लण्डन में हुई जहाँ उन्होंने भू-गर्भ शास्त्र में पहिले बी० एस० सी० और फिर डी० एस० सी० परीक्षा पास की। १९०३ में वे डाइरेक्टर आव मिनरोलॉजिकल सर्वे, सीलोन के पद पर नियुक्त हुए और १९०६

तक इस पद पर काम करते रहे। वैज्ञानिक विश्लेषण में प्रवीणता और तथ्य को ग्रहण करने की प्रवृत्ति, इन दो गुणों का परिचय उनकी इस समय की लिखी हुई सिंहल की भूगर्भ और खनिज-सम्बन्धी वार्षिक रिपोर्टों और लेखों से लगता है। उसी समय उन्होंने १६०४ की रिपोर्ट में सिंहल के खनिज-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों और रत्नों के नाम शीर्षक से एक लेख लिखा था जो भारतीय कला की पारिभाषिक शब्दावली के संबन्ध में उनके आगे की छानबीन का मानो प्रथम प्रयास था।

वैज्ञानिक का उर्वर मस्तिष्क और कलाकार का भावुक हृदय—इन दोनों की भूमि में राष्ट्रीय भावों का अंकुर कुमारस्वामी के मन में शीघ्र ही प्रस्फुटित हुआ। इस अंकुर का विकास एक यज्ञ के रूप में उच्चतम निर्माण के लिये होता गया। सिंहल के प्राचीन उद्योग-धंधे, कला, रहन-सहन और जीवन की सुन्दर पद्धति पर पश्चिम के प्रहार और जीवन में बढ़ती हुई कुरूपता को देख कर कुमारस्वामी अत्यन्त चिंतित हुए, और मातृभाषा की शिक्षा और प्राचीन कला और शिल्प के विषय में अपने देश-वासियों की रुचि जाग्रत करने के लिये उन्होंने सीलोन सोशल रिफार्म सोसाइटी की स्थापना की और अपने संपादकत्व में 'सीलोन नेशनल रिव्यू' पत्र १६०६ में प्रकाशित किया। शीघ्र ही सरकारी पद से त्यागपत्र देकर वे जीवन की समस्याओं के साथ आमने-सामने जूझने के लिये कार्यक्षेत्र में उतर आए; और विलायत में जाकर वहाँ थोड़े से आदर्शवादी मित्रों के साथ कार्य में जुट गए जो उन्हीं की तरह इंगलैंड के सामाजिक जीवन में कला के उद्धार के पक्षपाती थे। दो वर्षों के भीतर ब्रॉड कैंपडन नामक केन्द्र में स्थापित एसैक्स हाउस प्रेस से कई सुन्दर लेख और पुस्तकों का प्रकाशन किया। इन सब में अधिक महत्त्वपूर्ण मध्यकालीन सिंहल देशीय कला (मेडीवल सिंहलीज़ आर्ट) नामक ग्रन्थ था। इस में सिंहल के प्राचीन उद्योग-धंधों और कलाओं का स्थानीय पारिभाषिक शब्दावली के साथ विशद अध्ययन है। यूरुप की अन्य भाषाओं में भी इस प्रकार के अध्ययन बहुत कम हैं। देशीय शब्दों के द्वारा प्राचीन कला के वर्णन और अध्ययन की दृष्टि से यह ग्रन्थ आज भी समस्त देश के लिये और प्रत्येक प्रांतीय साहित्य के लिये एक आदर्श उपस्थित

करता है। बड़े आकार के इस ग्रन्थ में अधिकांश रेखा-चित्र स्वयं कुमारस्वामी के बनाए हुए थे।

१६०६ में कुमारस्वामी भारतवर्ष आए और पहली बार उन्होंने देश-व्यापी यात्रा करके यहाँ के विशाल मन्दिरों तथा कला-सामग्री को स्वयं अपनी आँखों से देखा। वे कलकत्ते में तीन सप्ताह विख्यात ठाकुरवंश के अतिथि रहे और तत्कालीन अन्य सांस्कृतिक नेताओं के सम्पर्क में भी आए एवं राष्ट्रीय उत्थान में भारतीय कला के महत्व पर बहुत काम किया। श्री अर्धेन्दु कुमार गांगुली के कथनानुसार यहीं १६०६ में उन्होंने अपने सामने भारतीय साधक का आदर्श रखते हुए वैष्णव-धर्म की दीक्षा ग्रहण की।

१६१० में दूसरी बार कुमारस्वामी ने भारतवर्ष की यात्रा की। इण्डिया सोसाइटी आव ओरियण्टल आर्ट (भारतीय प्राच्यकला परिषद्) के निमंत्रण पर वे यहाँ आए थे और शीघ्र ही सन् १६१० की इलाहाबाद प्रदर्शिनी के कला विभाग के संयोजक नियुक्त हुए। इस स्वर्ण अवसर से लाभ उठाकर उन्होंने सामग्री-संग्रह के लिये भारत के उत्तर-दक्षिण के प्रान्तों की यात्राएं कीं और चित्रों और मूर्तियों का एक बहुत ही विशिष्ट निजी संग्रह एकत्र किया। प्रदर्शिनी के बाद इस संग्रह को वे भारतवर्ष के किसी राष्ट्रीय कला-मन्दिर को देना चाहते थे। इनकी इच्छा थी कि काशी में इस प्रकार की कोई संस्था बने। इसके लिए लिखित अपील भी निकाली पर दुर्भाग्य से इस प्रकार के दुर्लभ संग्रह की रक्षा का भार लेने के लिये कोई संस्था उस समय उद्यत न हुई। कई वर्षों तक संग्रह उपयुक्त स्थान का मुँह जोहता रहा। अन्त में १६१७ में अमरीका के कला-पारखी श्रीयुत रॉस के परामर्श से बोस्टन म्यूज़ियम ने अपने यहां भारतीय कला का विशेष विभाग खोल कर उस संग्रह को उचित आदर दिया और कुमारस्वामी को उसका पालक मनोनीत किया। बाद में समय-समय पर भारतीय हिन्दू, मुस्लिम और ईरानी कला की नई सामग्री जोड़कर कुमारस्वामी ने इस संग्रह को बहुत बढ़ाया और अपने लेखों से निरन्तर उसे चमकाते रहे। आज बोस्टन म्यूज़ियम भारतीय कला का अनोखा तीर्थस्थान बना हुआ है। भारत के

बाहर अन्यत्र कहीं भारतीय कला की इतनी विशिष्ट और बहुविध सामग्री एक स्थान में सुरक्षित नहीं है।

सन् सत्तरह से सैंतालीस के तीस वर्षों तक कुमारस्वामी बोस्टन के संग्रहालय में इस सामग्री की प्राणों की आहुति डाल कर सजीवन मूरि की तरह जुगोते रहे। भारतीय कला को देवता कल्पित करके वे उसकी आराधना में तल्लीन हो गए। उस कला के अनुकूल वातावरण में उन्होंने अपने पूर्ण विकास के लिये आदर्श संतुलित स्थिति प्राप्त कर ली थी जिससे फिर वे जीवन भर नहीं डिगे।

कार्लाइल[1] के शब्दों में वह बड़भागी है जिसे अपने जीवन का कार्य करने के लिये मिल जाय, उसे फिर किसी और वरदान की चाह न करनी चाहिए। कुमारस्वामी का बोस्टन के सरस्वती मन्दिर के तीस वर्षों का जीवन प्राचीन भारतीय मनीषियों की तरह निरन्तर अविचल ज्ञान-साधना में व्यतीत हुआ, जिसमें उन्होंने यश और धन की कामनाओं से एक बार ही बड़ा अनुकूल और मीठा समझौता कर लिया था। ज्ञान के क्षेत्र में उनका मन सदा खुलता गया और उसी के लिये उन्होंने अपने उत्तम भाषण और लेखन-प्रतिभा को सोलह आने लगा दिया। दैनिक जीवन में ग्रन्थावलोकन से जो समय बचता उसे वे उपवन विनोद, और मत्स्यविनोद, इन दो रुचि के कामों में लगाते थे। लौकिक जीवन की ओर से मन की जिस स्थिति में उन्होंने अपने आप को डाल लिया था उसे बौद्ध शब्दों में कह सकते हैं 'आकिंचञ्ञा' और कुमारस्वामी के शब्दों में Self-naughting। इसी कारण अमरीका में रहते हुए भी चित्र अथवा जीवन चरित्र सब प्रकार के आत्म-विज्ञापन से उन्होंने अपने आपको खींच लिया था। उनकी सत्तरवीं वर्षगांठ के उपलक्ष्य में कुमार स्वामी-अभिनन्दन ग्रन्थ[2] प्रकाशित करने वाले

---

[1] Blessed is he who has found his work; let him ask for no other blessedness.—Carllyle

[2] Art and Thought नामक यह ग्रन्थ ल्यूज़क कम्पनी लन्दन से २२ अगस्त १९४७ को प्रकाशित हुआ।

उनके गुणानुरागी मित्र श्री भारत ऐयर ने १६४४ में अपने एक पत्र में कुमारस्वामी से आत्मचरित लिखने की प्रार्थना की जिससे उनके मित्र उनके भरे-पुरे जीवन की आंतरिक कथा का कुछ स्वाद चख सकें। उन्होंने उत्तर में लिखा—'आत्म चरित लिखने के विचार के लिये मेरे मन में कोई स्थान नहीं है, क्योंकि मैं शुक्रनीति सार के शब्दों में प्रतिकृति-चित्र (portraiture) को अस्वर्ग्य मानता हूँ।' इस प्रकार बाहिरी जीवन में अपने आप को मिटा कर उन्होंने विचारों के क्षेत्र में आत्मा को सब प्रकार पुष्पित, फलित एवं लोक में प्रतिमण्डित बनाने का सतत प्रयत्न किया। यूरुप, इस्लामी जगत्, भारत, चीन और जापान के प्राचीन और नवीन धार्मिक और दार्शनिक साहित्य के अवगाहन में उन्होंने अपने आप को डुबो दिया था। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, भगवद्‌गीता, महाभारत, रामायण, भागवत, गीतगोविन्द, कबीर, विद्यापति, बौद्ध निकाय, धम्मपद, मिलिन्द पन्ह, सद्धर्मपुण्डरीक आदि भारतीय साहित्य में अपनी अन्तःदृष्टि से वे रम गए थे।

स्कैण्डिनेविया के वोल्सुंग, आइस्लैण्ड के एड्डा और सागा, प्राचीन वेल्स के मेबीनीगिअन गाथा-शास्त्र, तथा प्लेटो, प्लाटिनस, ईसाई धर्मग्रन्थ, सेंट टामस एक्विनास और माइस्टर एक्हार्ट आदि के आध्यात्मिक ग्रन्थों का मनन करके पूर्व और पश्चिम के गाथाशास्त्र, अध्यात्म विद्या और कला-विधान की मौलिक एकता को उन्होंने भली भाँति पहचान लिया था। 'चोटी पर पहुँचने के अनेक पन्थ' (Paths that lead to the same Summit) शीर्षक उनका लेख भारतवर्ष की अत्यन्त प्राचीन मान्यता (बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः) को ज्ञान की एकता प्रदर्शित करने के लिये पुनः एक बार दोहराता है। इसके अनुसार यात्री का चरम लक्ष्य चोटी पर पहुँचना है, अपने दायें-बायें हट कर स्थान बदलना नहीं। पूर्व के ज्ञान और आध्यात्मिक अभिप्रायों की सहायता से प्राचीन और मध्यकालीन ईसाई धर्म की एकदम अपूर्व और हृदयंगम व्याख्या उन्होंने की थी जिसने पश्चिम में अनेकों को प्रभावित किया। वैदिक ज्ञान के विषय में वे प्राचीन सनातनी व्याख्या और अनुश्रुति का समर्थन करते हुए उसमें एकदम नया अर्थ भर देते थे।

वैदिक परिभाषाओं को मानवीय ज्ञान और कला की मूल कुंजियाँ मान कर कुमारस्वामी ने उनकी विलक्षण व्याख्या की है जो प्रचीन होते हुए भी नूतन है। इस 'वैदिक मनीषा' को अपने जीवन की सफलताओं में वे सबसे अधिक मूल्यवान् समझते थे।

लोक में उनकी कीर्ति मूर्तकला के अनन्य व्याख्याता के रूप में ही विशेष हुई। भारतीय कला के इतिहास और परिचय के लियें उन्होंने युग-निर्माताओं जैसा महान् साका किया। कला-परायण साहित्य-सेवा की जो पुण्य-धारा लगभग चालीस वर्षों तक कुमारस्वामी से प्रवाहित होती रही, उसके तटों पर अनेक उपयोगी ग्रन्थों और लेखों के सुन्दर और सुलभ तीर्थ बने हुए हैं।

कुमारस्वामी ने ही सर्वप्रथम राजस्थानी और पहाड़ी चित्र-कला का ठीक मूल्यांकन किया और भारतीय कला में आनन्द और सौंदर्य का एक अक्षय भंडार ढूंढ़ निकाला। भारत के मिट्टी के खिलौनों पर एक अतिविशिष्ट मौलिक लेख अर्ली इण्डियन टेराकोटाज़, सर्वप्रथम लिखकर इस विषय में पथ-प्रदर्शक का कार्य किया। फिर तो उनकी आँख में समाया हुआ अर्थ देशव्यापी बन गया और भारतीय खिलौने हमारी कला के विशिष्ट अंग माने जाने लगे। उनके रागमाला टैक्स्ट्स और अष्ट नायिका नामक निबन्धों को पढ़ने से रीतिकालीन कविता का एक नया प्रतिष्ठित रूप सामने आने लगता है और ऐसा प्रतीत होता है कि एक विशेष क्षेत्र में भारत की रसपूर्ण संस्कृति को समझने की अत्यधिक सामग्री इस कविता में सुरक्षित है।

कुमारस्वामी इस अर्द्ध शताब्दी के महान् आचार्यों में से थे। उन्होंने जो ज्ञानधारा बहाई, उसका सलिल हमारे विकसित ये जीवन के लिये भविष्य में और भी आवश्यक होगा। वे कला को जीवन का अभिन्न अंग मानते थे। कला मन का कुतूहल नहीं और न बुद्धि का व्यसन है। कला का सच्चा आसन इससे बहुत ऊँचा है और उतना ही अनिवार्य है जितना साहित्य, धर्म, अध्यात्म और दर्शन का। जीवन-यापन की गहरी सच्चाई कला है। जीवन को सींचने वाले रस के रूप में कला पूर्वकाल में जीवित थी और भविष्य के लिये भी यही उसका पद है। मानवों के लिये कुमारस्वामी के जीवन का यही अनुभव-वाक्य था।